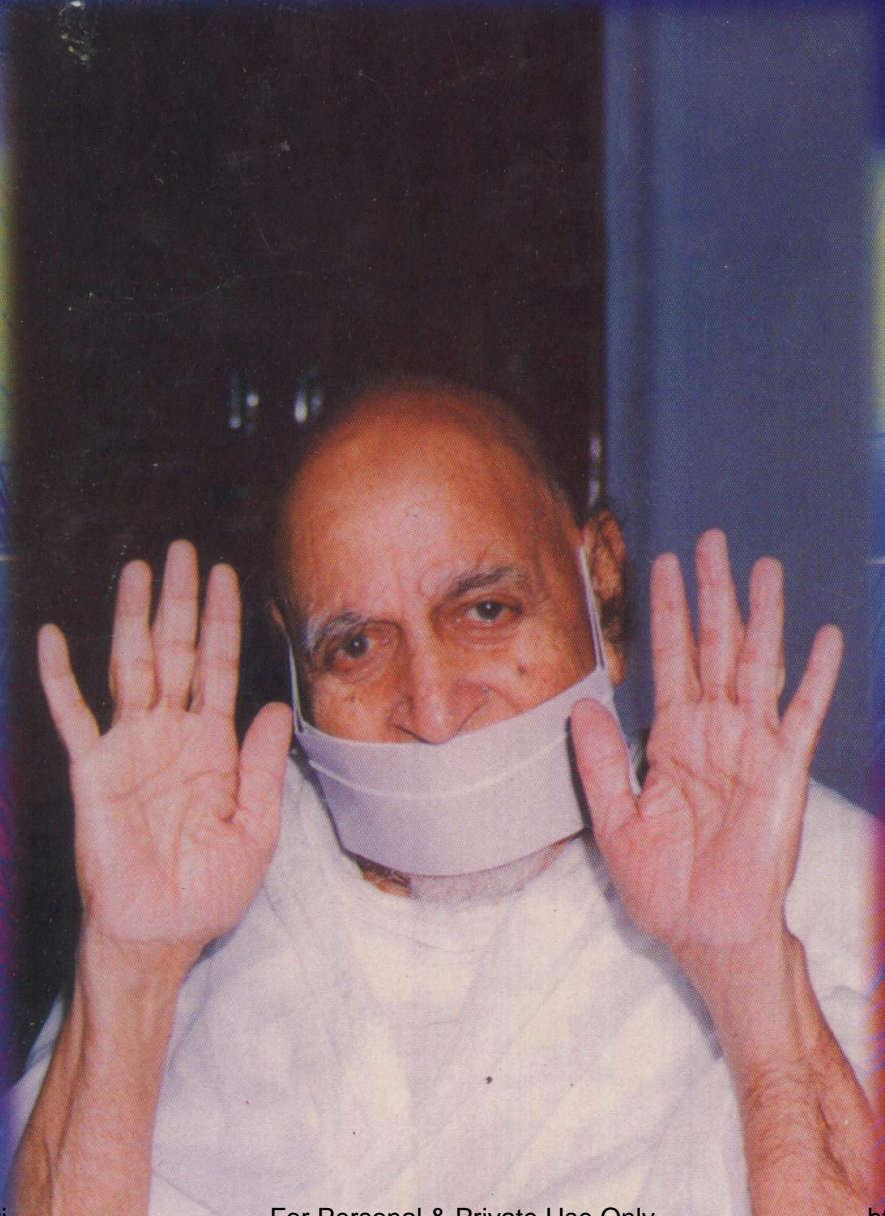


तुलसी वाङ्मय

घर का रास्ता

आचार्य तुलसी



तुलसी वाङ्मय

प्रवचन पाथेय ग्रंथमालाह्र१७

घर का रास्ता

आचार्य तुलसी

जैन विश्वभारती प्रकाशन
लाडनूं

घर का रास्ता

आचार्य तुलसी

संपादक :

श्रीचंद रामपुरिया

प्रकाशक :

जैन विश्वभारती

लाडनूँ (राज.) ३०४३०६

© प्रकाशकाधीन

संस्करण : २००४

मूल्य : रुपया मात्र

आवरण :

मुद्रक :

सांखला प्रिंटर्स, सुगन निवास

चंदनसागर, बीकानेर ३३४००१ (राज.)

GAHAR KA RASTA

by Acharya Tulsi

Rs.00.00

प्रस्तुति

आचार्य प्रवचनकार होते हैं। इस दृष्टि से प्रवचन करना मैं अपना दायित्व समझता था। दायित्वबोध की प्रेरणा से मैं प्रवचन करता। श्रोता तन्मय होकर सुनते। श्रोताओं की रसानुभूति प्रवचनकार में नया रस पैदा कर देती है। मेरे साथ भी यही घटित हुआ। प्रवचन करना मेरा काम था। पर उसके अधिग्रहण और प्रकाशन के बारे में न किसी का कोई चिंतन था और न कोई व्यवस्था थी।

जैनविद्यामनीषी श्रावक श्रीचंदजी रामपुरिया अध्ययनशील और सूझबूझवाले व्यक्ति हैं। बहुत वर्ष पहले की बात हैहरामपुरियाजी ने प्रवचन सुना और घर जाकर ज्यों-का-त्यों लिख लिया। उसे जैन भारती में प्रकाशित किया। मैंने पढ़ा तो लगा कि इनकी पकड़ सही है। यह क्रम लंबे समय तक चला। जैन भारती में प्रकाशित प्रवचनों को संकलित करने की बात रामपुरियाजी के दिमाग की उपज है। इन्होंने प्रवचन डायरी के कई भागों में प्रवचन-संकलन प्रकाशित कर दिए।

उस समय हमारे संघ में बहुत अधिक साहित्य नहीं था। समाज में साहित्य पढ़ने की रुचि जाग्रत होने लगी थी। प्रवचन डायरी के प्रति पाठकों में अच्छा आकर्षण रहा। देखते-देखते सब भागों के संस्करण समाप्त हो गए। इधर संघ में साहित्य का प्रवाह चला। अन्यान्य साहित्य के साथ प्रवचन-साहित्य भी व्यवस्थित रूप से संकलित होने लगा। इस काम में अनेक साधु-साध्वियां संलग्न हो गया। प्रवचन पाथेय ग्रंथमाला के रूप में प्रवचन-संकलनों का व्यवस्थित संपादन हो रहा है। प्रस्तुत संकलन ग्रंथमाला का १४वां पुष्प है।

घर का रास्ता सन १९५७ में विभिन्न गांवों और शहरों में हुए प्रवचनों का संकलन है। इसके प्रवचन मूलतः रामपुरियाजी द्वारा संपादित और प्रवचन डायरी में प्रकाशित हैं। अब द्वितीय संस्करण में वे प्रवचन

नए नाम और नए परिवेश में परिष्कृत रूप में संकलित हुए हैं। इस काम में मुनि धर्मरुचि ने बहुत श्रम किया है। यह उसकी रुचि का विषय है और इससे उसने बहुत-कुछ पाया है। कोई भी काम हो, विशेष लक्ष्य के साथ उसे संपादित किया जाए तो विशेष लाभ की संभावना को अस्वीकार नहीं किया सकता। अन्य साधु-साध्वियां भी प्रवचन-संकलन या इस प्रकार के अन्य कार्यों में लगन के साथ संपृक्त रहकर लाभान्वित हो सकते हैं।

प्रवचनों की भाषा सरल होती है। बीच-बीच में पद्य और कथानक भी आ जाते हैं। इनके कारण प्रतिपाद्य विषय सहजता से बोधगम्य हो जाता है। घर का रास्ता के पाठक स्वाध्याय-ग्रंथ के रूप में इसका उपयोग करें। किसी पुस्तक के संकलन और संपादन की सार्थकता उसके उपयोग में ही है।

सरदारशहर

आचार्य तुलसी

१०१वां आचार्य मघवा निर्वाण-दिवस

चैत्र कृष्णा ५, वि. सं. २०४९

भूमिका

अशांति से झुलसते हुए संसार को आज सबसे अधिक शांति की प्यास है। सुख गरीब, मजदूर, शोषित और शासित को नहीं है, तो शांति अमीर, मालिक, शासक और शोषक को भी नहीं है। मनुष्य की अशांति का मूल कारण आकांक्षा की असीमा है। कोई साम्राज्य-विस्तार का लिप्सु है, तो कोई अपने अधिकार सार्वभौम बनाने की लगन में है। कोई धन के बल पर, कोई सत्ता के बल पर, कोई शास्त्रास्त्र के बल पर, तो कोई कूटनीति के बल पर दूसरे पर हावी होने की बात सोच रहा है। दुनिया अपने अधिकार अपने तक सीमित रखने में संतोष नहीं मान रही है। यही अशांति का बीज है।

आज के युग में दो विचारधाराएं प्रवाहित हो रही हैं। पहली अध्यात्मवाद की और दूसरी भूत-चैतन्यवाद की, जिसे पुराने दार्शनिक नास्तिकवाद कहा करते थे। आचार्य श्री ने अपने प्रवचनों के माध्यम से जन-जन के मानस-पटल पर आध्यात्मिकता का अमिट चित्र खींचा है। इसमें दो मत की बिलकुल संभावना नहीं कि अगर आज के जन-मानस ने इन आध्यात्मिक प्रवचनों का नवनीत ग्रहण किया तो निश्चित रूप में भौतिक क्लेशों से वे परित्राण पा सकेंगे। अगर सर्वसाधारण आध्यात्मिकता को अपनाए तो निश्चित ही स्वार्थ की टक्करें, पद-प्रतिष्ठा की भूख, नाम व बड़प्पन की लालसा, अधिकार और सत्ता की लार, शोषण और संग्रह का जुआ तथा कूटनीति का उन्माद आदि दूर हो जाएं और विश्व फिर एक बार शांति की ठंडी सांस ले सके।

आचार्य श्री ने अपने प्रवचनों में बार-बार जीवन में संयम के अनुसरण एवं त्याग के पालन की आवश्यकता पर बल दिया है। संयम और त्याग को उन्होंने जीवन-शुद्धि का संबल माना है। आचार्य श्री ने संयम और त्याग की महत्ता का विश्लेषण करते हुए बताया है कि "भारतीय

संस्कृति त्याग और संयम की संस्कृति है। जीवन की सच्ची सुंदरता और सुषमा संयताचरण में हैं, बाहरी सुसज्जा और वासनापूर्ति में नहीं। जिन भोगोपभोगों में लिप्त हो मानव अपने-आपको भूल जाता है, वह जरा आंखें खोलकर देखे कि वे उसके जीवन का अमर तत्त्व किस प्रकार जीर्ण-शीर्ण और विकृत बना डालते हैं। जीवन में त्याग को जितना अधिक प्रश्रय मिलेगा, जीवन उतना ही सुखी, शांत और उदबुद्ध होगा।

संयम जीवन को, जीव-तत्त्व को, सुरक्षित रखने के लिए मेंड़ जैसा है। संयम का अर्थ हैह्नात्म-नियंत्रणह्नात्मनी इच्छाओं पर अपना नियंत्रण। यद्यपि यह नियंत्रण है, पर सही माने में सच्ची स्वतंत्रता भी यही है कि संयम के लिए अपने आपमें दृढ़ता और आत्मबल पैदा करना होगा। संयम वह बहुमूल्य रत्न है, जिसकी बराबरी संसार का बड़ा-से-बड़ा रत्न भी नहीं कर सकता।’

भारतवर्ष एक आध्यात्मिक संस्कृति का देश है। धर्म यहां का प्राणभूत आधार रहा है। आज भी यदि भारत का गौरव है, उसका अंतरराष्ट्रीय महत्त्व है तो वह इसलिए कि इसकी संस्कृति, दर्शन, परंपरा और इतिहास अहिंसा और मैत्री-जैसे अध्यात्म-तत्त्वों से भरे पड़े हैं, जो आज भी विश्व के लिए प्रेरणा-स्रोत हैं। भारतीय जन-जीवन की वर्तमान प्रवृत्ति पर चिंता व्यक्त करते हुए आचार्य श्री ने बताया हैह्ना‘आज यह आवश्यक हो गया है कि मानव-समाज अपना विकृत रूप देखे। आत्मबल और हिम्मत के सहारे बुराइयों के साथ टक्कर लेकर वह अच्छाइयों के राजमार्ग पर आए। तभी उसमें सही माने में मानवता कही जा सकती है।’

आचार्य श्री ने अपने प्रवचनों में बार-बार कहा है कि आज ज्ञानी या पंडितों की उतनी अपेक्षा नहीं है, जितनी क्रियाशीलों की, कर्मठों की, करनेवालों की। आज तो ऐसे व्यक्तियों की आवश्यकता है, जो अहिंसा, सत्य आदि धार्मिक आदर्श अपने दैनंदिन व्यवहार में संजोनेवाले हों। आज ही क्यों, सदा ऐसे लोगों की अपेक्षा रही है और रहती है। यही सच्ची धर्मारोधना और धर्मानुशीलता है।

धर्म का विश्लेषण करते हुए आचार्य श्री ने कहा हैह्ना‘धर्म का सत्य स्वरूप एक है। संप्रदाय, जाति या कौम उसे बाधित नहीं कर सकती। यह वर्गवाद के परकोटे से घिरा नहीं है। क्या हिंदू, क्या मुसलमान, क्या हरिजन, क्या महाजन, क्या जैन व क्या अजैन सब उसका परिपालन

करने के अधिकारी हैं। धर्म का यथार्थ स्वरूप संयम, संयताचरण, जीवन-व्यवहार का नियमन और सम्मार्जन हैं।’

आचार्य श्री ने अपने प्रवचनों के द्वारा कई बार शिक्षक एवं शिक्षार्थी वर्ग को संबोधित करते हुए विद्यार्थी-जीवन की महत्ता और शिक्षार्थियों के जीवन-निर्माण के प्रति शिक्षकों के दायित्व पर विशेष रूप से प्रकाश डाला है। उन्होंने इस बात पर घोर खेद व्यक्त किया है कि आज विद्या का भी सौदा किया जाने लगा है। विद्या का लक्ष्य अर्थोपार्जन मानना सर्वथा अनुचित है। इस संबंध में आचार्य श्री ने विद्यार्थियों, अभिभावकों एवं अध्यापकों को आह्वान किया है कि इस प्रकार बहिर्मुखी वृत्ति का वे परित्याग करें। विद्यार्थियों को इंगित करते हुए आचार्य श्री ने कहा है कि वे पुस्तकीय ज्ञान के अतिरिक्त वह सद्विवेक भी अर्जित करने का प्रबल प्रयास करें, जो उन्हें चरित्रशीलता, औदार्य आदि गुणों की ओर ले जाता है। विद्यार्थी तोड़-फोड़ व विध्वंसमूलक कार्यों में भाग न लें। वे राजनीतिक संघर्षों एवं विप्लवों में अपनी शक्ति, प्रतिभा और समय का दुरुपयोग न करें।’

इसी प्रकार आचार्य श्री ने अन्य वर्गों से भी जीवन में संयम और संतोष की भावना अपनाने की अपेक्षा की है।

अणुव्रत आंदोलन के संबंध में स्पष्टीकरण के रूप में आचार्य श्री ने बताया है कि अणुव्रत-आंदोलन मानव का सुषुप्त विवेक जाग्रत करने का आंदोलन है। अहिंसा और सत्य पर आधारित जीवनशुद्धिमूलक प्रवृत्तियों को लोकव्यापी बनाने का आंदोलन है, ताकि विषम समस्याओं के भारी आघातों से क्षत-विक्षत मानव सुख और शांति की सांस ले सके। अणुव्रत-आंदोलन जीवन-शुद्धि का आंदोलन है। यह एक सर्वप्रथम कार्यक्रम है। झूठा माप-तौल न करना, विश्वासघात न करना, रिश्वत न लेना, किसी को अस्पृश्य न मानना, व्यवहार में अप्रामाणिकता न बरतना, व्यभिचार में न पड़ना आदि जीवन-शुद्धिमूलक छोटे-छोटे नियमों का संकलन है। अणुव्रत-आंदोलन यही करना चाहता है। यह एक ऐसा नया समाज देखना चाहता है, जो वैमनस्य के बदले संतोष, संघर्ष के बदले अवैर, हिंसा के बदले अहिंसा, छल के बदले विश्वास और लोलुपता के बदले संयतता से सजा हो।’

अणुव्रत-आंदोलन एक नई दृष्टि देता है। वह जीवन का उत्कर्ष

सरलता, हलकेपन और निष्कपटता में देखता है। उसकी दृष्टि में वही ऊंचा और स्पृहणीय जीवन है, जो अधिक-से-अधिक संतोष, सरल और संयत है। जीवन के वास्तविक मूल्यांकन के लिए आवश्यकता इस बात की है कि सबसे पहले मनुष्य अपनी दृष्टि मांजे, यथार्थ दर्शन की प्रवृत्ति उसमें आए, ताकि वह अपने लिए सही रास्ता पा सके और उस पर आगे बढ़कर जीवन को सच्चे विकास और प्रगति की ओर ले जा सके।

आचार्य श्री ने अपने प्रभावशाली प्रवचनों के द्वारा समाज के सभी वर्गों के अभ्युदय की सुनियोजित परिकल्पना प्रस्तुत की। क्या वृद्ध, क्या बालक, क्या पुरुष, क्या महिलाएं, क्या अमीर, क्या निर्धन, क्या छात्र, क्या छात्राएं, कहने का तात्पर्य यह है कि राष्ट्र के कर्णधारों से लेकर एक साधारण नागरिक तक के जीवन के उत्थान का लक्ष्य उन्होंने सामने रखा है।

पारिवारिक प्रकरणवश आचार्य श्री ने कहा हैहै‘अगर आप चाहते हैं कि हम सुखी बनें, हमारा परिवार सुखी बने तो बाहर भटकने की आवश्यकता नहीं है। वह तो आपके पास ही है। जहां कलह, ईर्ष्या, द्वेष, बेईमानी, अभिमान, परिग्रहहये दुर्गुण हैं, वहां नरक है। और जहां ये दुर्गुण नहीं, वहीं स्वर्ग है।’

यदि यह वांछनीय है कि जागतिक जीवन हिंसा के क्रूर आघातों से बचे, उसमें सच्चाई व्यापे, उसमें से शोषण और अनाचार मिटें, धोखा, विश्वासघात और छल-प्रपंच के जाल का निर्दलन हो तो मानव को आचार्य श्री के प्रवचनों का नवनीत उसके अभीष्ट की सिद्धि में परम सहायक सिद्ध होगा।

यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि आचार्य श्री के मौखिक प्रवचनों से लाखों व्यक्तियों ने लाभार्जन किया है, किंतु जिन बंधुओं को प्रवचन-श्रवण का सुअवसर नहीं प्राप्त हुआ, उनके निमित्त प्रस्तुत संग्रह परम उपयोगी होगा, ऐसा मेरा निश्चित विश्वास है।

१५, नूरमल लोहिया लेन,

कलकत्ता

२० अप्रैल १९६०

श्रीचंद रामपुरिया

द्वितीय संस्करण

परम श्रद्धेय युगप्रधान आचार्य श्री तुलसी के सन १९५७ में विभिन्न गांवों व शहरों में दिए गए प्रवचनों का यह द्वितीय संस्करण है। प्रथम संस्करण में छूटे हुए कुछ-कुछ अंश, जो बाद में प्राप्त हुए, सम्मिलित कर दिए गए हैं। मुनि श्री धर्मरुचि जी ने अति परिश्रमपूर्वक आद्योपांत अवलोकन कर प्रथम संस्करण में रही हुई त्रुटियां दूर कर दी हैं। परिशिष्ट रूप में प्रवचनों के प्रमुख विषयों की अकारादि क्रम से सूची के साथ-साथ प्रसंगवश आए हुए नामों की सूची भी जोड़ दी है। इससे पुस्तक की उपयोगिता निश्चित रूप से बहुत अधिक बढ़ गई है।

जैन विश्वभारती, लाडनूं
२५ मार्च, १९९३

श्रीचंद रामपुरिया
कुलपति

अनुक्रम

१. विद्यार्थी और जीवन-संयम	१
२. सा विद्या या विमुक्तये	२
३. संयमी गुरु	८
४. अणुव्रत-आंदोलन क्यों	११
५. भिक्षु कौन	१४
६. मर्यादा-महोत्सव	१६
७. समन्वय का मूल	२१
८. राष्ट्र के उज्ज्वल भविष्य का आधार	२५
९. अणुव्रत : जीवन-सुधार का सत्संकल्प	३२
१०. मूल्यांकन का आधार	३३
११. सबसे बड़ी पूंजी	३४
१२. राष्ट्र की बहुमूल्य संपत्ति	३६
१३. जीवन-शुद्धि का प्रशस्त पथ	३८
१४. परिमार्जित जीवन-चर्या	४०
१५. घर का स्वर्ग	४२
१६. अणुव्रती कार्यकर्ताओं की जीवन-दिशा	४४
१७. युवक और धर्म	४६
१८. निर्माण के शीर्ष बिंदु	४८
१९. जीवन का आभूषण	५०
२०. शिक्षा में अणुव्रत-आदर्शों का समावेश हो	५२
२१. हिंसा भय लाती है	५३
२२. अंधकार मिटाने का प्रयास	५४
२३. स्वस्थ जीवन जीने का मार्ग	५६

२४. कार्यकर्ताओं की कार्य-दिशा	६१
२५. अणु-शस्त्रों की होड़	६४
२६. पुरुषार्थ के भेद	६८
२७. त्याग का महत्त्व	७४
२८. अपरिग्रह का मूल्य	७८
२९. शांति का मार्ग	८१
३०. दृष्टि-भेद	८६
३१. आगमों की परंपरा	८९
३२. परदा-प्रथा	९१
३३. साधु का विहार-क्षेत्र	९५
३४. धर्म : व्यक्ति और समाज	९९
३५. अवधान विद्या	१०६
३६. अहिंसा सार्वभौम सत्य है	१०८
३७. मोक्ष का अर्थ	११०
३८. पहल कौन करे	११४
३९. कविता कैसी हो	११६
४०. श्रम और संयम	११७
४१. अणुव्रतों की अलख	११९
४२. सांप्रदायिक समन्वय की दिशा	१२०
४३. नैतिक क्रांति के क्षेत्र	१२४
४४. जिज्ञासु और जीगीषु	१२७
४५. जैन-धर्म जन-धर्म कैसे बने	१२९
४६. प्रतिष्ठा और दुर्बलताएं	१३६
४७. धर्म और सम्यक्त्व	१४०
४८. भगवान महावीर	१४४
४९. साधु की श्रेष्ठता	१४८
५०. सुरक्षा और निर्भयता का स्थान	१५०
५१. अणुव्रत	१५१
५२. जीवन की सही रेखा	१५५

५३. धर्म आचरण का विषय है	१६०
५४. क्रांति के स्वर	१६५
५५. धर्म का क्षेत्र	१६८
५६. भोजन और स्वादवृत्ति	१७१
५७. जैन-धर्म और तत्त्ववाद	१७४
५८. योग्य दीक्षा	१८२
५९. श्रद्धा : उर्वरा भूमि	१८४
६०. समस्याओं का समाधान	१८६
६१. शांति का मार्ग	१८८
६२. जैन-धर्म और सृष्टिवाद	१९२
६३. जैन-धर्म और साधना	१९९
६४. आत्मशुद्धि का साधन	२०५
६५. शांति का निर्दिष्ट मार्ग	२०९
६६. श्रामण्य का सार : उपशम	२१४
६७. अहिंसा-दिवस	२१९
६८. साधना और शक्ति	२२६
६९. विकास का दर्शन	२३१
७०. अणुव्रत-आंदोलन की मूल भित्ति	२३३
७१. एक क्रांतिकारी अभियान	२३४
७२. आत्मविद्या का मनन	२३५
७३. आत्मचिंतन	२३७
७४. एक महत्त्वपूर्ण कदम	२३८
७५. आत्म-जाग्रति की लौ जले	२३९
७६. सच्ची जिंदगी	२४१
७७. आत्मानुशीलन का दिन	२४३
७८. ज्ञान प्रकाशप्रद है	२४५
७९. परिग्रह है पाप का मूल	२४६
८०. परिष्कार का प्रथम मार्ग	२५१
८१. प्रवचन का अर्थ	२५५

८२. आर्षवाणी का ही सरल रूप	२५७
८३. आवरण	२६१
८४. आदर्श विचार-पद्धति	२६८
८५. श्रद्धाशीलता : एक वरदान	२७५
८६. तीन बहुमूल्य बातें	२७९
८७. जैन-संस्कृति	२८२
८८. सुधार का मूल	२८६
८९. तपस्या : संघ की प्रगति का साधन	२८९
९०. आत्मौपम्य की दृष्टि	२९१
९१. लक्ष्य : एक कवच	२९४
९२. स्थिरवास क्यों	२९७
९३. बंधन और मुक्ति	३०३
९४. धर्म की परिभाषा	३०७
९५. सुधार का आधार	३०९
९६. आत्म-निरीक्षण	३११
९७. हमारा कर्तव्य	३१३
९८. शांति का उपाय	३१५

परिशिष्ट

१. विषयानुक्रम	३१९
२. नामानुक्रम	
३. पद्यानुक्रम	
४. कथाओं/घटनाओं/दृष्टान्तों की सांकेतिका	
५. पारिभाषिक कोश	
६. प्रेरक वचन	

१ : विद्यार्थी और जीवन-संयम

शरीर की स्वच्छता के लिए जैसे पानी और साबुन की जरूरत होती है, उसी तरह जीवन की स्वच्छता के लिए, अंतरतम के परिमार्जन के लिए धर्म की आवश्यकता है। उस धर्म का सत्य-स्वरूप बाहरी प्रदर्शन और दिखावे में नहीं है। वह तो जीवन में सत्य, शौच, शील, विनय, सद्भावना और मैत्री-जैसे सद्गुणों के संकलन में है। यही वे आदर्श हैं, जो आज के विश्रुंखल, अस्त-व्यस्त और मूर्च्छित लोक-जीवन में एक श्रुंखला, स्थिरता और चेतना पैदा कर सकते हैं। बालकों में ये सुसंस्कार बचपन से ही भरे जाने चाहिए, ताकि आगे चलकर उनके जीवन में ये दृढ़ता से जम जाएं।

जीवन की दिशा

सम्राट श्रेणिक का पुत्र मेघकुमार भगवान महावीर के पास प्रव्रजित हुआ। उसने भगवान से पूछा 'भंते ! मैं कैसे चलूं, कैसे खड़ा होऊं, कैसे बैठूं, कैसे सोऊं, कैसे बोलूं, कैसे खाऊं, ताकि मेरा जीवन पतन की ओर न जाए ?' भगवान महावीर बोले 'यतनाहसंयतताहजागरूकता से चलो, स्थिर रहो, बैठो, सोओ, बोलो और खाओ। इससे तुम्हारे पाप-कर्म का बंधन नहीं होगा, तुम्हारा जीवन पतन की ओर नहीं जाएगा।' इन थोड़े-से शब्दों में जीवन की दिशा है, गंतव्य पथ है। भगवान महावीर की भाषा में विद्यार्थियों से कहना चाहूंगा कि उन्हें अपनी जीवन-वृत्तियां अधिकाधिक संयमित और अनुशासित करनी हैं। इससे उनके जीवन का सही ढंग से निर्माण होगा। स्वयं का सही ढंग से निर्माण करके ही वे समाज और राष्ट्र को निर्माण की दिशा में आगे बढ़ा सकेंगे।

पिलानी

१७ जनवरी १९५७

२ : सा विद्या या विमुक्तये

प्रत्येक आत्मा अपरिमित ओज और अनंत शक्तियों का केंद्र है। उसमें परमात्मपन छिपा पड़ा है। पर वह प्रकट कब हो? जब उन आवरणों को दूर किया जाए, जिन्होंने उसके मौलिक गुण आच्छन्न कर रखे हैं। यह एक सत्य है, जिसे सदा से हमारे देश के ऋषि-महर्षि गाते आए हैं। पर खेद का विषय है कि आज लोग इसे भूलते जा रहे हैं, उनकी निष्ठा डगमगा उठी है। आज के तथाकथित भौतिक विकास के युग में इसे सबसे बड़ा हास और अधःपतन मानता हूं। सत्य के प्रति अविश्वासी और निष्ठाहीन बनना ही तो नास्तिकता है। जनमते ही अपनी मां से बिछुड़े और बकरियों के झुंड में पले-पुसे उस शेर के बच्चे की-सी हालत आज मानव की हो गई है, जो अपनी अदम्य शक्ति और दुर्धर्ष शौर्य्य भूलकर दूसरे शेर की दहाड़ सुनते ही बकरी के बच्चे की तरह थर्रा उठा था। पर ज्योंही उसे अपना भान हुआ, उसका शौर्य्य निखर उठा। यह समझकर मानव को अपने पर हावी होने जा रहे इस नास्तिकता के भीषण प्रवाह का अवरोध करना है। विद्यार्थियों को इससे शुरू से ही बचाया जाए, इसकी सबसे बड़ी आवश्यकता है।

मैं विद्यार्थी हूं

विद्यार्थियों एवं शिक्षा-प्रेमियों के बीच रहते मुझे स्वर्गीय आनंद की अनुभूति होती है। यही कारण है कि पिलानी-जैसे विशाल विद्या-क्षेत्र में आने का पिछले लंबे समय से मेरा विचार था। पर कुछ कारणों से आना संभव नहीं हो सका। मैं आपसे बताना चाहता हूं कि मैं स्वयं अपने को विद्यार्थी समझता हूं। वस्तुतः मनुष्य जीवन-भर विद्यार्थी है, क्योंकि अनंत ज्ञान-राशि सीखने के लिए उसके सामने है।

विद्या का लक्ष्य

मैं आपको कोई नई बात नहीं बताने आया हूं। मैं तो उन्हीं सत्य,

अहिंसा और संयम-मूलक शाश्वत आदर्शों की चर्चा आपके समक्ष करूंगा, जो युग-युग से विश्व के महापुरुष हमें बताते रहे हैं।

सभी विद्यार्थी यह बात हृदयंगम करें कि विद्यार्जन का लक्ष्य केवल उदरपूर्ति और परिवार-पोषण नहीं है। यदि ऐसा होता तो कीट-पतंगे और पशु-पक्षी भी मनुष्य के समकक्ष माने जाते, क्योंकि येन-केन-प्रकारेण अपना पेट वे भी भर लेते हैं। पर बात कुछ दूसरी ही है। मनुष्य चिंतनशील प्राणी है। अंतर्मथन और अंतगविषणा की क्षमता उसमें है। इसलिए उसने यह निष्कर्ष पाया कि विद्या का सही लक्ष्य है—अपने-आपको सुसंस्कृत बनाना, शांति और अंतःतुष्टि का सच्चा मार्ग पाना और उस पर चलने की योग्यता हासिल करना। ऋषिवाणी में प्राप्त होनेवाला **सा विद्या या विमुक्तये** का सुमधुर घोष यही तो हमें बताता है कि जिसके द्वारा जीवन बंधन से मुक्ति पाए, कठिनाइयां पार करने की शक्ति अर्जित करे, सत लक्ष्य तक पहुंचने की क्षमता हासिल करे, वह विद्या है। खेद है कि आज के विद्यार्थी का मानस इस आदर्श से परे होता जा रहा है। भौतिकवाद की भूलभुलैया में वह इस तरह ग्रस्त हुआ जा रहा है कि उसे आत्मत्व का भान तक नहीं रहा है। मैं इस सुषुप्ति से उसे जगाना चाहता हूँ। इसलिए मैं जहां भी जाता हूँ, विद्यार्थियों से कहता हूँ कि वे अपने जीवन की ये अमूल्य घड़ियां सद्ज्ञान और उसके अनुरूप सत्क्रिया यानी विनय, अनुशासन, शील, सौजन्य और सदगुणों के अर्जन में लगाएं।

विद्यार्थी विवेक से काम लें

विद्यार्थी का जीवन एक साधक का जीवन है। इसलिए विद्यार्थियों को हर-एक समस्या सुलझाने के लिए विवेक से काम लेना है। जब संसार की बड़ी-बड़ी समस्याएं सुलझाने में आपसी विचार-विमर्श और समझौते की नीति से काम चल सकता है तो क्या वे अपनी समस्याएं इस प्रकार नहीं सुलझा सकते? इसलिए मैं कहना चाहूंगा, विद्यार्थी तोड़-फोड़मूलक ध्वंसात्मक प्रवृत्तियों में कभी न उलझें। उन्हें अपने जीवन का निर्माण करना है। वे जीवन-शुद्धिमूलक रचनात्मक कामों से स्वयं को जोड़ें।

हीनता अभिशाप है

बालिकाओं से मैं कहना चाहूंगा कि वे अपने को बालकों से हीन न

समझें। स्वयं को हीन समझना आत्म-शक्ति को कुंठित करना है। वास्तव में उनमें वह अदम्य उत्साह और अपरिमित शक्ति है, जो विकास के पथ पर आगे बढ़ने में उन्हें बड़ी प्रेरणा दे सकती है।

अध्यापक जागरूक रहें

हम सभी इस तथ्य से सुपरिचित हैं कि एक नन्हा-सा बट-बीज आगे चलकर एक विशाल वृक्ष के रूप में प्रस्फुटित हो जाता है। पर उस बीज को यथेष्ट वायु, जल, खाद आदि न मिलें तो वह मुरझा जाता है। ठीक यही बात बालक-बालिकाओं के लिए है। यदि इस महत्वपूर्ण संपत्ति के संरक्षण, संवर्द्धन और विकास की उपयुक्त व्यवस्था नहीं होती है तो ये खिले हुए फूल विकास पाने के बदले मुरझा जाते हैं। अध्यापक तथा अध्यापिकाओं का यह सबसे पहला और आवश्यक कर्तव्य है कि वे बालक-बालिकाओं के जीवन में अनुशासन, शील, मैत्री, आत्म-विश्वास आदि सुसंस्कार भरने की दृष्टि से सतत जागरूक रहें। इसके लिए उनके अपने जीवन की सुसंस्कारिता सबसे पहले आवश्यक है। उनका जीवन छात्र-छात्राओं के लिए एक ऐसी खुली किताब होना चाहिए, जिससे वे अपने जीवन-निर्माण की मूर्त एवं सक्रिय प्रेरणा ले सकें।

लोग अनैतिक और अशुद्ध वृत्तियों की ओर धड़ाधड़ बढ़ते जा रहे हैं, इसकी मुझे इतनी चिंता नहीं है, जितनी कि इस बात की है कि लोगों की यह आस्था बनती जा रही है कि नैतिकता, सचाई और अहिंसा से व्यावहारिक जीवन में काम नहीं चल सकता। यह नास्तिकता है; जीवन-तत्त्व की विस्मृति है। बालिकाओं में ऐसी भावनाएं न जमने पाएं, ऐसा प्रयास अध्यापिकाओं को करना है।

कहते बड़ा खेद होता है कि आज राष्ट्र में नैतिकता के दुर्भिक्ष की-सी स्थिति बनती जा रही है। ईमानदारी, विश्वास और मैत्री की अनेक परंपराएं टूटती जा रही हैं। यदि अनीति और अनाचार का यह चालू प्रवाह रोका नहीं गया तो कहीं भयावह दानव मानवता को ही न लील जाए। इन टूटती हुई नैतिक और चारित्रिक श्रृंखलाओं को सहारा मिले, लोक-जीवन में सत्य, निष्ठा और ईमानदारी का समोवश हो, इसके लिए अणुव्रत-आंदोलन के रूप में चारित्रिक उद्बोधन का काम हम चला रहे हैं। प्राध्यापक, लेखक, शिक्षा-शास्त्री-जैसे बौद्धिक क्षेत्र के लोग राष्ट्र के मस्तिष्क हैं। राष्ट्र के जीवन को तथाकथित वितथ विकास के बदले सही

विकास और अभ्युत्थान के मार्ग पर ले जाने का बहुत बड़ा उत्तरदायित्व उन पर है। इसलिए मैं चाहूंगा कि चारित्रिक जाग्रति के इस अभियान में वे सहयोगी बनें। आदर्श का स्वर दूसरे लोगों तक पहुंचाया जाए, इससे पहले यह आवश्यक होता है कि व्यक्ति स्वयं अपना जीवन आदर्शों के अनुकूल बनाए। इसलिए अध्यापकों से मैं कहना चाहूंगा कि वे सत्यनिष्ठा, प्रामाणिकता और निर्भयताहृये तीनों बातें अपने जीवन में उतारें। यदि वे ऐसा कर पाए तो उनका स्वयं का जीवन तो सही माने में प्रगतिशील बनेगा ही, राष्ट्र के उन सहस्रों-सहस्रों नौनिहालों को भी वे उन्नतिपथ की ओर ले जा सकेंगे, जिनके जीवन-निर्माण का कार्य उनके हाथों में सौंपा गया है। इसके साथ ही राष्ट्र के समक्ष भी वे एक मूर्त आदर्श उपस्थित कर सकेंगे।

जैन-दर्शन की चिंतन-शैलीहअनेकांत

जैन-दर्शन-चिंतन अनेकांतवाद पर आधारित है। अनेकांत वह सिद्धांत है, जो विश्व की समस्त विचार-धाराओं के समन्वय एवं सामंजस्य का समुचित पथ प्रस्तुत करता है। वह बताता है कि एक ही वस्तु अनेक अपेक्षाओं अथवा दृष्टियों से परखी जा सकती है। इसका कारण यह है कि हर पदार्थ अनंतधर्मा होता है। अनंतधर्मा पदार्थ को किसी एक दृष्टि से देखने या परखने से उसके एक धर्म का अवबोध हो सकता है, सभी धर्मों का अवबोध नहीं हो सकता; उसका सर्वांगीण ज्ञान नहीं हो सकता। सर्वांगीण ज्ञान के लिए उसे भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से जानना-परखना आवश्यक है। इसलिए उसके निरूपण में भी अनेकात्मकता आनी आवश्यक है। इस निरूपण की अनेकात्मकता को कोई अज्ञानवश संशय की स्थिति भी कह सकता है, पर यह संशयात्मक स्थिति नहीं, अपितु वस्तु के सर्वांगीण ज्ञान करवाने की सहज प्रक्रिया है।

गांव में हाथी आया। छह अंधे व्यक्ति उसे देखने के लिए गए। हाथी को देखकर वे वापस मुड़े तो उनमें परस्पर चर्चा शुरू हो गई। पहले व्यक्ति ने कहाह'हाथी तो केले जैसा होता है।' उसने हाथी की सूंड देखी थी। उसकी बात दूसरे व्यक्ति ने काटी। उसने हाथी का दांत देखा था। वह बोलाह'नहीं, हाथी तो मूसल जैसा होता है।' तभी पैर देखनेवाले व्यक्ति ने उसका प्रतिवाद करते हुए कहाह'तुम दोनों गलत कहते हो। मैंने बहुत अच्छी तरह से देखा है कि हाथी तो खंभे जैसा होता है।' पर बात

यहां भी समाप्त नहीं हुई। चौथे व्यक्ति ने तीनों को गलत बताते हुए कहा कि 'हाथी तो छाज जैसा होता है।' उसने हाथी का कान देखा था। पर उसकी बात भी मान्य नहीं हुई। हाथी का पेट देखनेवाला व्यक्ति बोला कि 'नहीं, हाथी तो परखाल जैसा.....' वह अपनी बात पूरी कह भी नहीं पाया था कि छठा व्यक्ति बोल उठा कि 'हाथी तो डंडे जैसा होता है। तुम सब हाथी के बारे में कुछ भी नहीं जानते।' उसने हाथी की पूंछ देखी थी।

इस प्रकार छहों व्यक्ति अपनी-अपनी बात को सही तथा अन्यो की बातें गलत मानते हुए झगड़ने लगे।

संयोग से तभी एक चक्षुष्मान व्यक्ति उधर आया। उसने छहों अंधे व्यक्तियों की तू-तू मैं-मैं सुनी तो वह पैर रोककर उनकी बातें सुनने लगा। उसे स्थिति समझते देर नहीं लगी। उसने छहों को समझाते हुए कहा कि 'तुम सभी सच्चे हो। गलत कोई नहीं कह रहा है। पर प्रत्येक की बात आंशिक सत्य है, पूर्ण सत्य नहीं। लो चलो, मैं तुम लोगों को पूरी सचाई से परिचित करवाता हूँ। फिर तुम स्वयं विवाद समाप्त कर दोगे।' यों कहकर वह सबको पुनः हाथी के पास ले गया। अब उसने उनमें से प्रत्येक को हाथी के विभिन्न अंग दिखाए। सभी अंगों को देखने के साथ ही उनको अपने पारस्परिक विवाद की निरर्थकता स्वयं महसूस हो गई। सबने हाथी का यथार्थ ज्ञान करवाकर पारस्परिक विवाद समाप्त करवाने के लिए उस चक्षुष्मान व्यक्ति के प्रति आभार व्यक्त किया।

जैन-दर्शन यही तो कहता है कि वस्तु का एक पहलू या पक्ष पकड़कर दुराग्रही मत बनो, लड़ो नहीं, उसे ऐकांतिक तथ्य मत समझो। विभिन्न दूसरी-दूसरी अपेक्षाएं भी उसके साथ जुड़ी हुई हो सकती हैं और हर भिन्न अपेक्षा से वह वस्तु देखने-परखने से निकलनेवाला निष्कर्ष पहलेवाले निष्कर्ष से भिन्न हो सकता है; क्योंकि यह अपेक्षा या दृष्टि पहली अपेक्षा या दृष्टि से भिन्न है। इस प्रकार जितनी अपेक्षाओं और दृष्टियों से वह वस्तु जानी-परखी जाएगी, उतने ही निष्कर्ष सामने आ सकते हैं। मैं एक स्थूल उदाहरण हूँ। एक व्यक्ति किसी का पिता है। पर दूसरी अपेक्षा से वह पुत्र है। तीसरी अपेक्षा से वह पति है तो चौथी अपेक्षा से भाई है। इस प्रकार उसके विभिन्न रूप हमारे सामने आ सकते हैं। यानी उसमें पितृत्व, पुत्रत्व, पतित्व, भ्रातृत्व आदि अनेक धर्म

हैं। ये सारे धर्म मिलाकर देखने से उस व्यक्ति के बारे में संपूर्ण जानकारी मिलती है। यही जैन-दर्शन का अनेकांत है, जो कि विश्व की विभिन्न स्तरों पर उलझी समस्याओं के हल का अन्यतम साधन है। अपेक्षा है, इस सिद्धांत का यथार्थ मूल्यांकन करते हुए इसे हृदयंगम किया जाए, जीवन-व्यवहार के विभिन्न स्तरों पर उतारा जाए।

पिलानी

१८ जनवरी १९५७

३ : संयमी गुरु

अपेक्षा है त्यागी गुरु की

आज संसार की स्थिति विषम है। संसारी संसार में इस तरह फंसे पड़े हैं, मानो कोई अनुचित कार्य करनेवाला अभियोगी कारागार में कैद कर दिया गया हो। आज के मानव की हालत मकड़ी के जाल में फंसी मकखी की हालत जैसी हो रही है। ज्यों-ज्यों वह निकलने का प्रयत्न करता है, त्यों-त्यों अधिक फंसता जाता है। फंसने से पहले बचना सहज है, पर फंसने के बाद निकलना उसके हाथ की बात नहीं।

कहीं गहरा कीचड़ है। उसमें हाथी या भैंस-जैसा कोई बड़ा जानवर फंस जाए और निकलने की कोशिश करे तो निकल नहीं सकता, उल्टे अधिक फंसता जाता है। कोई निकालना भी चाहे तो ऐसा-वैसा व्यक्ति उसे नहीं निकाल सकता। उसे तो बहुत मजबूत व्यक्ति ही निकाल सकता है। पानी में डूबते मनुष्य को बचाने के लिए तैराकी से अनभिज्ञ व्यक्ति जाए तो बचाने के बदले वह खुद ही डूब जाता है। उसे निकालने के लिए तो तैराक मनुष्य की आवश्यकता होती है। उसी प्रकार घोर अनैतिकता में फंसे मानव को निकालने के लिए भी उन ताकतवर, तपस्वी, संयमी संतों और गुरुओं की आवश्यकता है, जो अपने तपोबल के आधार पर, त्याग के बल पर नीतिभ्रष्ट मानव को अनैतिकता के कीचड़ से निकाल सकें।

दीपी कौन

पर दुःख के साथ कहना पड़ता है कि आज गुरु, त्यागी गुरु हैं कहां! त्याग के दर्शन दुर्लभ हो गए। यदि नजदीकी से गुरु नाम धरानेवालों के कारनामे देखे जाएं तो आंखों में पानी आ जाए। उन्हें सुनने के लिए कान बहरे हो जाएं। जो गुरु त्याग का उपदेश करते थे, वे आज हाथ पसारते हैं। हा ! अगर बाड़ ही ककड़ी को खाने लग गई,

तो उसकी रक्षा कौन करेगा! त्यागी ही जब हाथ पसारने लगे, तब क्या त्याग का उपदेश भोगी करेंगे! पर उन गुरुओं, संतों से कहीं अधिक दोषी तो मैं आप लोगों को मानता हूँ। आप जानते हैं कि वे ऐसे हैं, फिर भी उन्हें बढ़ावा देते हैं, प्रोत्साहन देते हैं, सम्मान देते हैं। मुझे तो ऐसा लगता है कि जो संत, गुरु एक तरफ तो 'पैसा पाप का मूल है'हऐसा कहते हैं और दूसरी तरफ 'पुण्य करो, धर्म करो' यानी हमें दे दो, ऐसा कहते हैं, वे असद्गुरु हैं। गृहस्थ धन का अर्जन करे, संग्रह करे तो करे, क्योंकि उसे अपना गार्हस्थ जीवन चलाना है, अपने परिवार का पोषण करना है। पर साधु, गुरु, सर के ताज धन लेकर क्या करेंगे? किसलिए चाहिए उन्हें पैसा?

धन का व्यामोह

जो धन आवश्यकता-पूर्ति का साधन था, वही आज तो मनुष्य का प्राण बन गया है। इस कारण वह न्याय-अन्याय, जायज-नाजायज, हक-बेहक कुछ भी नहीं देखता। उसे जो-कुछ भी करना पड़े, भले अपने शरीर की चमड़ी भी क्यों न जाए, मानवता को तिलांजलि क्यों न देनी पड़े, अबलाओं की लाज क्यों न चली जाए, पर उसे तो चाहिए पैसा, क्योंकि पैसा उसका प्राण-तत्त्व है। वह पैसे का लाल इतना भी नहीं सोचता कि उस पैसे से आखिर होगा क्या। राजस्थानी में एक कहावत है **हैहपूत सपूतां क्यूं धन संचै? पूत कपूतां क्यूं धन संचै?** यानी अगर पुत्र सुपुत्र है तो वह अपने-आप अपने पैरों पर खड़ा हो जाएगा, तुझे उसके लिए क्या चिंता है। अगर वह कपूत है तो जोड़े-जुड़ाए धन पर पानी फेर देगा और बदनाम करेगा तुझको।

मैंने कई उदाहरण ऐसे देखे हैं कि घर में धन का ढेर पड़ा है, पर खानेवाला कोई नहीं है। आखिर रहा दुःख-का-दुःख। इसी धन के लिए पुत्र-पिता, भाई-भाई, पति-पत्नी एक-दूसरे के विरुद्ध अदालतों के दरवाजे खटखटाते हैं। इसी धन के लिए प्रेमियों का प्रेम, स्नेहियों का स्नेह, संबंधियों का संबंध और मित्रों की मित्रता समाप्त हो जाती है। एक तरफ पिता कहता है कि चाहे मुकदमे में लाख रुपए स्वाहा हो जाएं, पर बेटे को एक दमड़ी भी नहीं दूंगा। दूसरी तरफ पुत्र कहता है कि चाहे मेरे हाथ कुछ भी न लगे, पर एक बार तो पिताजी को गहने (बेड़ियां) पहना कर ही छोड़ूंगा।

ऐसी परिस्थिति में मनुष्य चारों ओर से झगड़ा, कलह, ईर्ष्या, द्वेष और मनोमालिन्य के दल-दल में अंत तक गड़ा पड़ा है ! वह निकलना तो चाहता है, पर निकले कैसे ? उसे निकलने के लिए सहारा चाहिए। वह सहारा उसको अणुव्रत-आंदोलन देगा। यही उसका जीवन हलका बनाएगा। आप लोग इस आंदोलन को गहराई से देखें, इसका उद्देश्य एवं कार्यपद्धति समझें और इसे संकल्प के स्तर पर स्वीकार करें। निश्चित रूप में आपके जीवन में सुख-शांति का स्रोत फूट पड़ेगा।

४ : अणुव्रत-आंदोलन क्यों*

अणुव्रत-आंदोलन लगभग सात वर्षों के बाद देशव्यापी रूप में सामने आ रहा है और जनता ने यह बात मानी है कि यह आंदोलन आज के इस युग के लिए खुराक है। भले हजारों दृश्य आपके सामने आ जाएं और चाहे वे कितने ही सुंदर क्यों न हों, पर क्या उनसे आपकी भूख मिट जायगी ? भूख तो खाद्य पदार्थ मिलने पर ही मिटेगी। इसी तरह आज देश में चरित्र और नैतिकता की जो भूख है, उसे मिटाने के लिए सचमुच यह आंदोलन खुराक का काम करता है। अभी जब मैं दिल्ली गया था, तब वहां के नेताओं व नागरिकों ने यह बात मंजूर की थी कि अगर देश में नैतिक कार्य करनेवाला कोई आंदोलन है तो वह अणुव्रत-आंदोलन ही है। यह आंदोलन एक बहुत बड़ी दार्शनिक पृष्ठभूमि पर टिका हुआ है। जिस प्रकार एक विशाल भवन के लिए मजबूत नींव की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार अणुव्रत-आंदोलन का प्रासाद सत्य और अहिंसा के विशाल और मजबूत खंभों पर टिका हुआ है।

अणुव्रत-आंदोलन की आवश्यकता

आप पूछ सकते हैं कि अणुव्रत-आंदोलन हमारे लिए क्यों आवश्यक है। समाधान होगा कि यह आस्तिकवाद को बचाने का कार्य कर रहा है, आस्तिकों को उनकी आस्तिकता पर टिकाए रखनेवाला है और नास्तिकों को आस्तिक बनाता है। पर खेद का विषय है कि आज केवल आस्तिकवाद की चर्चा चलती है, उसकी प्रशंसा के पुल बांधे जाते हैं, पर वास्तविक आस्तिकता वहां कहां! नीति और चरित्र दोनों पुस्तकों में बंद पड़े हैं। वे दुकानों और बाजारों में बिकने के लिए हैं। अगर हमें आस्तिकता को और आस्तिकों को अच्छी तरह समझना है, उनके वास्तविक रूप के दर्शन करने हैं तो धर्म को पुस्तकों, मंदिरों और मठों

*अणुव्रती कार्यकर्ता प्रशिक्षण शिविर में प्रदत्त प्रवचन।

से बाहर निकालकर अपने जीवन में लाना होगा, अपने जीवन में उसका साक्षात्कार करना होगा। बिना जीवन में उतारे केवल आस्तिकवाद की दुहाई देने से क्या होनेवाला है! आज दंभी, चोर, बेईमान, जुआरी सभी यही कहते हैं कि सत्य बहुत अच्छा है, उसे अपने जीवन में लाना चाहिए। उसके लिए वे प्रशंसा के पुल बांधते हैं। असत्य को बुरा बताते हैं। पर उनके जीवन को सत्य ने छुआ तक नहीं है। बड़े दुःख का विषय है कि आज सत्य के साथ खिलवाड़ हो रहा है। आज आस्तिक लोग भी वास्तविक आस्तिकता से परे हैं। अणुव्रत-आंदोलन का पहला पक्ष यही है कि वह वास्तविक आस्तिकता का दिग्दर्शन कराता है।

आत्मद्रष्टा बनें

आप सबसे पहले आत्म-द्रष्टा बनें, आत्म-निरीक्षण का पाठ सीखें। अपने-आपको देखने के लिए उपदेश की आवश्यकता नहीं है। दूसरे की दो-चार गलतियां भी चुभती हैं और अपने में रही लाख गलतियां भी नहीं के बराबर लगती हैं। आज की यह सबसे बड़ी कमी है, विडंबना है। अणुव्रत-आंदोलन का दूसरा पक्ष है कि वह व्यक्ति को आत्म-द्रष्टा बनाता है।

अणुव्रत-आंदोलन की चर्चाएं बहुत चर्लीं, सब जगह इसका एक वातावरण बना, दूसरे-दूसरे समाजों के अनेक व्यक्ति कार्यकर्ताओं के रूप में इसके साथ जुड़े। पर कहीं दीए तले अंधेराहयह उक्ति चरितार्थ न हो जाए। यह बहुत चिंतनीय बात है। आज इसे धन-जन की आवश्यकता नहीं है। इसे आवश्यकता है आत्मबल और पुरुषार्थ की, इनके पीछे अपना जीवन झोंक देनेवाले कार्यकर्ताओं की। अब आप लोगों को अपने आस-पास ऐसा सुंदर वातावरण बनाना चाहिए कि प्रत्येक व्यक्ति कम-से-कम इस आंदोलन के उद्देश्यों, नियमों व कार्यों से अच्छी तरह परिचित हो जाए। यह एक बहुत बड़ा कार्य होगा। आपको अपने जीवन में इस कार्य को प्रमुख स्थान देना होगा। अपने कार्यों की सूची में इसे भी मान लेना होगा। अगर आप ऐसा करेंगे तो आप स्वयं कार्यकर्ता बन जाएंगे।

प्रशंसा नहीं, अणुव्रती बनें

आज यह कहनेवाले बहुत-से लोग मिलेंगे कि आपने अपनी इस यात्रा में बहुत कठिन परिश्रम किया। बीस-बीस मील के लंबे विहार

किए। पर ये बातें कहने मात्र से कुछ नहीं होनेवाला है। अगर आपको मेरे प्रति सहानुभूति है तो मेरे अभियान में, मेरे कार्यों में हाथ बंटाएं; अणुव्रती बनें; अणुव्रत-आंदोलन के सक्रिय कार्यकर्ता बनें।

बहनों को भी यह समझना है कि केवल प्रशंसा की झड़ी लगा देने से कुछ नहीं होनेवाला है। उससे मैं खुश होनेवाला नहीं हूँ। अगर आपको कुछ करना है तो अणुव्रत-आंदोलन का यह कार्यक्रम यथाशक्ति अपनाएं।

कार्यकर्ता की कार्य-दिशा

आज के इस अवसर पर मैं दो बातें कार्यकर्ताओं से भी कहूंगा। आप लोग अब मनन, चिंतन और विचार छोड़कर साधना में लगें। कहीं विचार व मनन करते-करते विचार कुंठित न बन जाएं। कार्यकर्ता वही बन सकता है, जो अपना दिमाग कम और पुरुषार्थ ज्यादा खर्च करता है।

आज अपनी भूमि उर्वर हो गई है। अब तो उसमें बीज बोनेवालों की आवश्यकता है। अणुव्रत-आंदोलन के प्रसार में ही सत्य और अहिंसा का प्रसार है।

मैं आपसे यह नहीं कहता कि आप सब-कुछ छोड़कर इस कार्य में लगें, क्योंकि आखिर आप गृहस्थ हैं। इस स्थिति में आपको बहुत-सी पारिवारिक और सामाजिक जिम्मेदारियां भी निभानी पड़ती हैं। पर इसके बावजूद कुछ समय अवश्य देना अपेक्षित है।

दूसरी बात मैं अणुव्रती कार्यकर्ताओं से यह कहूंगा कि वे केवल प्रवाह में न बह जाएं। उन्हें 'ले भागूं' की नीति नहीं बरतनी है। यह नहीं कि कहीं से कुछ मिला, उसे अपना लिया। हां, कहीं कुछ ग्राह्य चीज मिले तो उसे लेना चाहिए, पर हर बात की नकल नहीं करनी चाहिए।

कार्यकर्ताओं ने यह 'अणुव्रती कार्यकर्ता शिक्षण-शिविर' रखा। अगर यह कार्य रूप में परिणत हुआ तो बहुत श्रेयस्कर है। पर कदाचित ऐसा नहीं भी होता है तो भी शिविर को निष्फल मानने का कोई कारण नहीं है। अणुव्रती कार्यकर्ताओं की कार्य-दिशा के संदर्भ में इतना गहन चिंतन-मनन हुआहयह भी कोई कम उपलब्धि नहीं है।

सरदारशहर, २ फरवरी १९५७

५ : भिक्षु कौन

दशवैकालिक सूत्र में भिक्षु के लक्षणों का वर्णन करते हुए बताया गया है।

चत्तारि वमे सया कसाए,
धुवजोगी य हवेज्ज बुद्धवयणे।
अहणे निज्जाय रूवरयए,
गिह्जोगं परिवज्जए जे स भिक्खु॥

भिक्षु को क्रोध, मान, माया और लोभ छोड़ने की साधना करनी चाहिए। इन्हें छोड़े बिना साधना में निखार नहीं आता, तेजस्विता नहीं आती। हालांकि ये दुर्गुण छोड़कर कोई एकदम वीतराग नहीं बन सकता, तथापि उसे साधना में अपना जीवन झोंक देना चाहिए।

भिक्षु को आप्त-पुरुषों की वाणी में ध्रुव-योगी होकर भगवान द्वारा बताए गए तत्त्वों पर श्रद्धा रखनी चाहिए। श्रद्धा के बिना चरित्र या आचार शुद्ध नहीं रहता। संयमी वही रह सकता है, जिसकी श्रद्धा संयम में हो।

भिक्षु अकिंचन होता है। उसके पास खाने के लिए रोटी नहीं होती, पहनने के लिए कपड़ा नहीं होता, रहने के लिए मकान नहीं होता, फिर भी वह भिखमंगा नहीं है। क्यों ? यह इसलिए कि उसने उन सबका मोह छोड़ा है, जबकि भिखमंगा उनको पाने के लिए दर-दर ठोकें खाता है। एक ओर जहां दुनिया ने पैसे को भगवान माना, वहीं दूसरी ओर साधु ने अपने पास रहे पैसे को भी लात मारी। आखिर विजय साधु की हुई। दुनिया में धन-कुबेरों की नहीं, त्याग और संयम की पूजा है। अगर कहीं पैसेवालों की पूजा है भी तो वह किसी-न-किसी स्वार्थ से।

लोग श्रद्धा-भरे वाक्य-पुंज हमारे सामने रखते हैं। पर हमें उन्हें सुनकर खुश नहीं होना है। यद्यपि वे श्रद्धा से युक्त वाक्य उनके लिए अच्छे और कल्याणकारी हो सकते हैं, पर हमारे लिए तो खतरा भी पैदा

कर सकते हैं।

लोग कह देते हैं कि साधुओं को बड़े-बड़े नेताओं से मिलने की क्या आवश्यकता है। बात सही है। साधुओं के लिए क्या नेता और क्या साधारण व्यक्ति! पर क्या किसी के नेता होने मात्र से उसके साथ वार्तालाप भी नहीं करना चाहिए? नेताओं विचार-विनिमय करने का हमारा प्रमुख लक्ष्य यही रहता है कि अगर कोई देश का नेता, जिसके हाथ में लाखों-करोड़ों व्यक्तियों की बागडोर है, जिस पर उनकी श्रद्धा है, हमारी बात अच्छी तरह समझ जाए तो अन्य व्यक्तियों को समझाने में सहूलियत रहती है।

भिक्षु को सोना, चांदी नहीं रखने चाहिए, क्योंकि परिग्रह हैं और भिक्षु परिग्रह का परित्याग करता है।

भिक्षु गार्हस्थ्य योग छोड़कर रहता है। वह न तो शादी कर सकता है, न व्यापार, न अन्य कोई सावद्य कार्य।

भिक्षु को इन बातों के प्रति सदैव सजग रहना चाहिए। जो भिक्षु उपर्युक्त बातों का ध्यान नहीं रखता, उसकी भिक्षुता सुरक्षित नहीं रहती। वह भिक्षु कहलाने का सच्चा अधिकारी नहीं रहता।

आज के बहुत-से बुद्धिजीवी यह कहते हैं कि साधु समाज पर भारस्वरूप हैं। उन्हें खेती आदि कार्य करने चाहिए। मगर मैं उनसे यह कहूंगा कि यदि सारे-के-सारे व्यक्ति खेती करने लग जाएंगे तो क्या अन्य कार्य ठप्प नहीं हो जाएंगे। भौतिक वस्तुओं की अपेक्षा आज देश को आध्यात्मिकता व नैतिकता की ज्यादा आवश्यकता है।

साधु-संत इस अपेक्षा की पूर्ति करने में सक्षम हैं। उनके प्रयास से राष्ट्र की आध्यात्मिक एवं नैतिक चेतना झंकृत हो सकती है। साधु-संतों का कर्तव्य है कि वे अपनी संयम-साधना अक्षुण्ण रखते हुए जन-जन की आध्यात्मिक एवं नैतिक चेतना जगाने का प्रयास करें।

सरदारशहर

७ फरवरी १९५७

६ : मर्यादा-महोत्सव

आज मर्यादा-महोत्सव का भव्य समारोह मनाया जा रहा है। सरदारशहर को यह अवसर प्राप्त हुआ, इसका मुख्य श्रेय श्री मंत्री मुनि श्री मगनलालजी स्वामी को है, जिनके लिए हम सभी यहां आए हैं। मर्यादा-महोत्सव संघीय कार्यक्रमों एवं प्रयासों का एक बहुत बड़ा प्रेरक सूत्र है। 'तेरापंथ' के प्रवर्तक परमाराध्य आचार्य श्री भिक्षु के द्वारा शासन-व्यवस्था, आचरण-नियमन एवं ऐक्य परंपरा को उद्दिष्ट कर प्रवर्तित मर्यादाओं का यह एक मूर्तिमान रूप है।

तेरापंथ का उदय : परिस्थिति और उद्देश्य

'तेरापंथ' भगवान महावीर के पश्चाद्वर्ती संघों में अंतिम संघ है। इसके बाद कोई दूसरा संघीय संगठन नहीं बना। इसकी अपनी विशेषताएं हैं, जो आध्यात्मिक जीवन को परिपोषण देने के साथ-साथ व्यापक और उदार रूप में लोगों को उधर अग्रसर होने की प्रेरणाएं देती हैं। एक समय थाह्धार्मिक जगत में निराशा का एक धूमल वातावरण छाया था। लोगों में बड़ी बेचैनी थी। अध्यात्म की भूख शांत करने का सही साधन उन्हें नहीं मिल रहा था। आचार्य भिक्षु ने उन्हें दिशा दी। लोग भगवान महावीर के आदर्श भूलते जा रहे थे। आचार्य भिक्षु ने उन्हें शुद्ध रूप में लोगों के समक्ष रखा। उन्हें आध्यात्मिक खुराक दी। जनता को परित्राण मिला। धर्म-साधना के पथ पर आगे बढ़ने का एक संबल उसने पाया।

महापुरुषों का आविर्भाव कोई संप्रदाय या पंथ को चलाने के लिए नहीं होता। वे तो लड़खड़ाते जीवन को एक सहारा देते हैं। उसे जाग्रत होने और विकासोन्मुख होने के लिए प्रेरित करते हैं; एक पवित्र दिशा-दर्शन देते हैं। पर लोगों के लिए वह एक पंथ बन जाता है। तेरापंथ का नामकरण भी आचार्य श्री भिक्षु का किया हुआ नहीं है। यह तो लोगों ने तेरह की संख्या देखकर दिया। पर आचार्य श्री भिक्षु ने उसका व्यापक

अर्थ करते हुए प्रगट किया है 'हे प्रभो! यह तेरापंथ' यानी यह भगवान का पंथ है। अतः वस्तुस्थिति तो यह है कि आचार्य भिक्षु स्वयं पथस्रष्टा नहीं, बल्कि एक महान पथिक थे, जो अध्यात्म के पावन पथ पर अडिग और निश्चल भाव से चलते रहे तथा औरों को भी एकाग्र मन से उस पर चलने की प्रेरणा देते रहे।

अध्यात्म और सामाजिक कर्तव्य

जैसा कि आरंभ में मैंने कहा, उस समय धार्मिक शृंखलाएं टूटती जा रही थीं। आचार-शैथिल्य और विचार-वैशृंखल्य का सर्वत्र दौर-दौरा था। जो धर्म संयम और अध्यात्म की आराधना में है, तपस्या और शुद्ध दिनचर्या में है, उसका लोग व्यावहारिक आवश्यकतापूर्ति और स्वार्थ-साधन के साथ अनुचित ग्रंथि-बंधन कर रहे थे। यह श्रेयस्कर नहीं था। व्यावहारिक जीवन, सामाजिक परंपराहइनका अपना स्थान है, धर्म का अपना। धर्म इनमें परिष्कार और परिमार्जन ला सकता है। इसलिए धर्म का उन पर प्रभाव और व्याप्ति अवश्य रहे, परंतु दोनों को एक नहीं किया जा सकता। दोनों में मौलिक भेद है। दोनों को एक करने से दोनों ही अस्त-व्यस्त हो उठते हैं।

धार्मिक जगत में यह विषम परंपरा क्यों पनपी, इस पर भी हमें सोचना है। एक समय था, जब सामाजिक शृंखलाएं टूटने लगीं, सामाजिक मर्यादाएं और व्यवस्थाएं छिन्न-भिन्न होने लगीं; लोग सामाजिक परंपरा भुलाने लगे। तब लोगों ने दूसरा उपाय न सोचकर अध्यात्म के साथ इनका अनुचित गठबंधन कर लिया। सामाजिक उत्तरदायित्व और कर्तव्य के साथ उन्होंने धर्म का प्रलोभन जोड़ दिया। यह उचित नहीं हुआ। वहां दृष्टि-वैपरीत्य था। वस्तु-तत्त्व यथावत रखने के बदले सामयिक व्यवस्थापूर्ति के लिए उठाया गया यह कदम आगे चलकर कितना विपरीत अर्थकारी सिद्ध हुआ, यह पहले बताई गई बातों से स्पष्ट है। आचार्य श्री भिक्षु ने अध्यात्म और व्यवहार तथा धार्मिक और लौकिक कार्यों का भेद स्पष्ट किया। उन्होंने अध्यात्म को अध्यात्म और व्यवहार को व्यवहार समझने की सूझ दी। धर्म का त्याग-तपस्या तथा संयम-साधनामूलक मार्ग लोगों को बताया। चूंकि तथाकथित रूढ़िपरक धर्म पर उन्होंने कठोर प्रहार किया, इसलिए उस तरफ के लोगों की कटु आलोचना और घोर विरोध का भी शिकार उन्हें होना

पड़ा। पर उन्होंने तो साधना-पथ पर अपना सर्वस्व न्योछावर कर दिया था। वे महामनस्वी साधक इन विघ्न-बाधाओं से क्यों घबराते ? वे अपार मनोबल और आत्म-निष्ठा अपनाए अपने पथ पर आगे बढ़ते रहे, बढ़ते रहे; अध्यात्म-पथ को अधिकाधिक विद्योतित करते रहे।

उनका यह कदम निःसंदेह बड़ा साहसपूर्ण था, जिसने धार्मिक जगत में एक उथल-पुथल और क्रांति मचा दी। इस पर विरोध करनेवालों ने उन पर दया के उत्थापक, दान के विरोधी, देनेवालों को निषेध करनेवाले आदि-आदि भ्रांत आक्षेप किए। पर आचार्य भिक्षु इन आक्षेपों और आरोपों से कब घबरानेवाले थे? उन्होंने उनका यथावत समाधान किया। धार्मिक जीवन और सामाजिक जीवन की भेद-रेखा स्पष्ट करते हुए दोनों के अपने-अपने दायरे के कार्यकलापों का विवेचन किया। उन्होंने बताया कि व्यक्ति एक सामाजिक प्राणी है। वह समाज से, समाज के व्यक्तियों से परोक्ष-अपरोक्ष रूप में बहुत-कुछ लेता है, तब अपने सांसारिक कर्तव्य के नाते वह समाज और समाज के व्यक्तियों के लिए कुछ करता है तो उसे वह धर्म के साथ क्यों जोड़ता है?

स्वामीजी ने जो मंतव्य प्रगट किया, आज के बौद्धिक जगत में वह स्वयं प्रसार पाता जा रहा है। जैसाकि पंडित नेहरू ने किसी प्रसंग पर कहा था कि सामाजिक कार्यों के लिए यह सेवा शब्द कहां से चल पड़ा। इसमें दंभ है, अहं है, सेवा काहे की! इसे तो पारस्परिक सहयोग कहना चाहिए।

मर्यादा-महोत्सव : आधार और स्वरूप

आचार्य भिक्षु एक कुशल संघ-संगठनकार थे। संघ में पद-लोलुपता, यश-लोलुपता, अनुशासनहीनता न आए, इसके लिए उन्होंने मर्यादाएं कायम कीं। अनेक मर्यादा-पत्र लिखे।

संघ के चतुर्थ अधिनायक प्रातःस्मरणीय श्री जयाचार्य ने इन मर्यादाओं को आधार बनाते हुए मर्यादा-महोत्सव का परिचालन किया, जो प्रति वर्ष एक नई प्रेरणा, नया उल्लास और नया ओज लिए माघ शुक्ला सप्तमी को आता है।

तेरापंथ का यह वह महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक पर्व है, जो संघीय जीवन में अनुशासन, आचार एवं सद्व्यवस्था का समुचित संचार करने में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। संघ के साधु-साध्वियां

अपने विगत वर्ष कार्यों का ब्यौरा प्रस्तुत करके तथा संघपति से अभिनव प्रेरणा एवं स्फुरणा पाकर अपने भावी अभियान के लिए एक संबल जुटाते हैं। साधु-जीवन अध्यात्म-साधना का प्रतीक है, जहां अनुशासन, शुद्ध आचरण और पारस्परिक साम्य की बहुत बड़ी महत्ता है। यदि साधु-जीवन इनसे रहित है तो वह निस्तेज और निःसार है।

मर्यादाएं : मूल्य और सार्थकता

आचार्य भिक्षु द्वारा निर्मित मर्यादाएं हमारे धर्मसंघ के साधु-साध्वियों को अधिकाधिक अनुशासित, आचार-परायण तथा व्यवस्थानिष्ठ बनाए रखने में बड़ी सफल सिद्ध हुई हैं तथा होती रहेंगी। ये मर्यादाएं संघ और संघपति के प्रति सर्वात्म-भाव से समर्पण करके अपने जीवन को संघीय जीवन में एकाकार बना साधना-पथ पर आगे बढ़ने का एक सफल प्रेरणा-स्रोत हैं। दलबंदी, जिलाबंदी, अलग-अलग शिष्य-परंपराएं आदि संघीय विशृंखलतापरक प्रवृत्तियों का निरोध करते हुए समता और संगठन की स्फूर्तिशील भावना देने में ये मर्यादाएं अप्रतिम हैं। इनका अनुसरण करता हुआ हमारा संघ लगभग दो शताब्दियों से अत्यंत सफल, शुद्ध और सात्त्विक जीवन के लिए विकास और प्रगति करता आ रहा है। संघ के समस्त साधु-साध्वियों में सामाचारी-परंपरा का ऐक्य, आचार का ऐक्य, वेशभूषा की समानता, कार्यक्रम की समानता, एक आचार्य का नेतृत्वह्वये वे आदर्श हैं, जिन्हें मूर्त रूप देने में इन मर्यादाओं का महत्त्वपूर्ण योग है। मर्यादाओं की उपयोगिता के परिप्रेक्ष्य में मैं सब लोगों से कहना चाहूंगा कि वे अपना जीवन जहां तक बन सके, संयम और अनुशासन की मर्यादाओं में बांधें। यह बंधन उनके जीवन के लिए बंधन नहीं, उन्मुक्ति और विकास का हेतु सिद्ध होगा।

मर्यादा-महोत्सव का महत्त्व

मर्यादा-महोत्सव वस्तुतः एक नई ताजगी और स्फूर्ति का स्रोत है। बहुत प्रकार के महोत्सव समारोह आप लोगों ने देखे-सुने होंगे, पर इसकी अपनी विशेषताएं हैं। आज संसार में मर्यादाहीनता का बोलबाला है। संयम एवं अनुशासनमूलक शृंखलाएं टूटती जा रही हैं। फलतः जीवन विशृंखल और अव्यवस्थित बनता जा रहा है। ऐसे समय में यह अनिवार्य रूप से अपेक्षित है कि जीवन में मर्यादाओं का पुनःसंस्थापन हो, ताकि वह आत्मानुशासन के धागे में बंधकर सही माने में विकास-पथ पर

अग्रसर हो सके। मर्यादा-महोत्सव इसकी बलवती प्रेरणा देता है। मर्यादित और अनुशासित जीवन लिए चलने की भावना रखनेवालों के लिए यह बहुत बड़ा संबल है। मैं बहुत बार सोचता हूँ तो लगता है कि यह हमारे बुजुर्गों की बहुत बड़ी देन है, जो हमारे संयत जीवन को आगे बढ़ाने में बड़ी स्फुरण देती है।

हम सबका यह पुनीत कर्तव्य है कि हम इस महोत्सव से मर्यादामय जीवन जीने की अभिप्रेरणा लेते रहें। इसी में हमारा और पूरे संघ का हित है और यही आचार्य भिक्षु के प्रति हमारा सच्चा श्रद्धा-समर्पण होगा।

सरदारशहर

७ : समन्वय का मूल

झगड़े का मूल 'मैं'

'मैं' जो कहता हूँ, वही सत्य है और संसार जो कहता है, वह झूठ है। आज यही सबसे बड़ा झगड़ा है। 'मैं' अच्छा, शेष बुरे। यह धारणा ही गलत है। जो लोग किसी एक पक्ष को आधार बनाकर लड़ते हैं, झगड़ते हैं, वहाँ वे यह क्यों भूल जाते हैं कि इसका कोई दूसरा पक्ष, दृष्टिकोण भी हो सकता है? हर वस्तु के दो पक्ष होते हैं। नदी के दो किनारे होते हैं। एक जहाँ से वह निकलती है और दूसरा जहाँ समुद्र में मिलती है। एक किनारा पा लेने पर दूसरा किनारा है ही नहीं, ऐसा कहना कितनी बड़ी भूल है !

एक रस्सी का एक छोर एक आदमी पकड़ता है और दूसरा छोर दूसरा आदमी। दोनों ओर से अब लगे खींचने। क्या हुआ? रस्सी टूटी, दोनों गिरे। एक खींचता है, दूसरा अगर छोड़ दे तो कौन गिरेगा? छोड़नेवाला तो नहीं। पर ये बातें कह देना सहज है, व्यवहार्य बनाना बहुत मुश्किल है। जिद आने के बाद कौन छोड़ने को तैयार होता है?

हाथी के पैर, पूंछ, कान, दांत आदि में से किसी एक को ही हाथी मान बैठना और फिर आपस में लड़ना कि मैं जो कहता हूँ, वही ठीक है, उचित है, यह एकांगी दृष्टि है। मैं करता हूँ या कहता हूँ, इसलिए सत्य है या वही सत्य है, यह कहना कितनी बड़ी मूर्खता है ! आप ऐसा करनेवाले को अच्छा आदमी नहीं कहेंगे। किंतु जब आपके स्वयं का काम पड़ता है, तब 'मेरा मंतव्य ही ठीक है, मेरा धर्म ही ठीक है' यह कहना कहां का न्याय? एक बात को पकड़कर लड़ना क्या धार्मिकों को शोभा देता है?

सापेक्ष सत्य का रहस्य

सापेक्षवाद यह कहता है कि समन्वय करो, अपेक्षा को सोचो,

कहने का अर्थ समझो, झगड़ो मत।

विद्वानों ने कहाह 'सापेक्ष सत्यहयह कैसे?' मैं बताऊं। एक मनुष्य से पूछा जाए कि ठंडक है या गरमी। वह कहेगा कि ठंडक। पर यह उत्तर गलत है, क्योंकि दार्जलिंग, शिमला और नैनीताल की अपेक्षा यह सर्दी कुछ नहीं है। वहां तो पानी जम जाता है। यहां यह स्थिति तो नहीं है। फिर क्या गरमी है? नहीं। ज्येष्ठ और आषाढ़ माह की गरमी को देखते गर्मी भी नहीं है। हां, तो वहां सर्दी भी है और गरमी भी। किसी दृष्टि से सर्दी नहीं है और किसी दृष्टि से गरमी नहीं है। अधिक गरमी की अपेक्षा सर्दी है और अधिक सर्दी की अपेक्षा गरमी। पर जहां ऐकांतिकता है, वहां झगड़ा है, द्वेष है, कलह है, विद्वेष की चिंनगारियां हैं। व्यक्ति कहेगा, नहीं यह तो सर्दी ही है या यह गरमी ही है। संप्रदायवादी इसी बात पर झगड़ते हैं।

समन्वय का मूल

समन्वय एक मेल-जोलवाला तत्त्व है। वह सबको एक बनाता है, मिलाता है। समन्वयवादी कहेगा कि एक दृष्टि से तुम कहते हो, वह भी सही है। पर ऐसा मत कहो कि इससे आगे सत्य है ही नहीं।

समन्वयवादी कहेगा कि एक वस्तु है भी और नहीं भी। इसलिए 'भी' की भाषा का प्रयोग करो, 'ही' का नहीं। 'भी' और 'ही' में आकाश-पाताल का-सा अंतर है। जहां 'भी' विरोधी बातों का भी समन्वय करता है, वहीं 'ही' में अनावश्यक तनाव पैदा होता है, झगड़े पैदा होते हैं। एवं द्रव्य की अपेक्षा से वह है, लेकिन पर द्रव्य की अपेक्षा से नहीं भी। जैसे, एक घड़ा है। घड़ा है मिट्टी का। सोने का तो नहीं न? घड़ा सर्दी के मौसम का बना हुआ है, गरमी के मौसम का तो नहीं न? यही 'भी' और 'ही' में विभेद है। अपेक्षावाद का कहना है कि तोड़ो मत; कैंची नहीं, सुई बनो। कैंची जहां काटने का काम करती है, वहां सुई जोड़ने का। कहनेवाले का आशय समझो। उसकी दृष्टि से (अपेक्षा से, विविक्षा से) वह ठीक है।

धर्म में यह भेद-रेखा क्यों

आश्चर्य तो इस बात का है कि जब राजनीति के विरोधी-से-विरोधी विचार एक हो सकते हैं, सिंह और बकरी दोनों एक घाट पर पानी पी सकते हैं, रूस और अमेरिका-जैसे प्रतिस्पर्द्धी देश एक जगह

बैठकर बात कर सकते हैं, विचार-विनिमय कर सकते हैं, समस्याओं का समाधान ढूँढ़ सकते हैं, वहां एक ही तत्त्व मानकर चलनेवाले, एक ही सिद्धांत स्वीकार करनेवाले, एक ही आराध्य को माननेवाले धार्मिक व्यक्ति इतनी दूर ! परस्पर में इतना खिंचाव ! इतनी बड़ी भेद-रेखा ! आपस में मिलना तो दूर, आंखें तक नहीं मिलती !

ओ एकांतवादी भाइयो ! जरा गहराई से सोचो, समझो। एक वस्तु नित्य भी है और अनित्य भी। किसी अपेक्षा से एक वस्तु नित्य है और किसी अपेक्षा से अनित्य। एक वस्तु द्रव्य की दृष्टि से नित्य है और पर्याय की दृष्टि से अनित्य। इसी लिए तो अनेकांतवाद के विशेषज्ञों ने कहा है **अनंतधर्मात्मकमेव वस्तु।**

समन्वय का व्यावहारिक रूप

समन्वयवाद बुद्धिगम्य ही नहीं, व्यावहारिक भी है। आप जीवन के प्रत्येक पहलू में देखें खिंचाव ही खिंचाव, विरोध ही विरोध, झगड़े ही झगड़े। जैन-धर्म स्याद्वादी है। वह कहता है कि सबका समन्वय करो, सबको समझो, उदार बनो, विशाल दिलवाले बनो छोटो-छोटे मतभेदों के कारण लड़ो मत, सहिष्णु बनो।

हाथ में पांच अंगुलियां होती हैं। कोई कह दे कि यह छोटी है या यह बड़ी है। यह कहना गलत होगा। कोई किसी की अपेक्षा से छोटी भी है तो किसी की अपेक्षा से बड़ी भी। एक पिता, पिता भी है और पुत्र भी। वह अपने पुत्र का पिता है और अपने पिता का पुत्र। इसी प्रकार एक गुरु, गुरु भी है और शिष्य भी। अगर कोई कहे कि मैं तो गुरु ही हूं या पिता ही हूं तो यह कहना गलत होगा। तत्त्व यह है कि हर-एक वस्तु में कई दृष्टियां लगती हैं। बात एक होती है, कहने के प्रकार अनेक होते हैं। इस स्थिति में हमारा काम यह है कि हम अनंतधर्मा वस्तु को भिन्न-भिन्न दृष्टियों से, अनेकांतदृष्टि से देखने का प्रयास करें। इससे हम वस्तु के विभिन्न पहलुओं को जान पाएंगे, वस्तुसत्य का साक्षात्कार कर सकेंगे, अपने से विरोधी विचार रखनेवालों में भी बहुत-सी बातों की समानता के दर्शन कर सकेंगे।

एक रचनात्मक रूप

अणुव्रत-आंदोलन इसी बात का एक रचनात्मक रूप है। वह स्याद्वाद व समन्वय को क्रियात्मक रूप से जीवन में लाता है। वह

कहता हैहै'मानव-मानव परस्पर भाई-भाई हैं। किसी मनुष्य को अस्पृश्य मत मानो। उसके आचरण बुरे हो सकते हैं, पर वह तो नहीं। घृणा करो बुराई से, बुरों से नहीं। पाप से बचो, पापी से नहीं। पारा बनो, चुंबक बनो। सबको मिलाते चलो और अपनी ओर खींचते चलो।

इसी का नाम स्याद्वाद है, समन्वयवाद है, अनेकांतवाद है और इसी का नाम अणुव्रत है।

८ : राष्ट्र के उज्ज्वल भविष्य का आधार

विद्यार्थी का भविष्य : राष्ट्र का भविष्य

आज के विद्यार्थी ही देश के भावी जन-नेता, समाज-नेता, देश-नेता और राष्ट्र के अधिकारी बनेंगे। कौन जानता है कि किसके भाग्य में क्या है; भविष्य के अंतराल में जाने क्या छिपा है। पानी का प्रवाह और बच्चों का भविष्य बताया नहीं जा सकता। इस स्थिति में हमारा काम होना चाहिए कि हम नस्ल को सुधारें, ठीक बनाएं, स्वस्थ बनाएं। यानी बच्चों में सुसंस्कार भरें। अगर नस्ल ठीक हुई, बीज अच्छी किस्म का हुआ, होनहार हुआ तो आगे चलकर वह लहलहाता छायादार वृक्ष बनेगा। उसकी छाया में बैठनेवाले भी आनंदित होंगे, अपनी क्लांति मिटाकर ताजगी और शांति की अनुभूति करेंगे। आज जो छोटा-सा बालक दिखाई देता है, वही कल का अभिभावक है, अध्यापक है, व्यापारी है, कार्यकर्ता और संरक्षक है। अगर बालक सुसंस्कारी हुआ, विनम्र हुआ, अनुशासनप्रिय हुआ, नीतिनिष्ठ हुआ, सदाचारी हुआ, विशुद्धजीवी हुआ तो समाज और राष्ट्र का भविष्य उज्ज्वल है। इसमें किंचित भी संदेह की कोई गुंजायश नहीं है। किसी को संदेह करना नहीं चाहिए।

रूपक की भाषा में विद्यार्थी राष्ट्र की जड़ है। पानी से जड़ को सींचा जाता है, न कि फूल-पत्तों को। जड़ में सींचा गया पानी फूलों और पत्तों तक अपने-आप पहुंच जाता है। अगर बाल-जीवन को सच्चा, अच्छा, सुंदर और सुसंस्कारी बनाने का प्रयत्न होता है तो राष्ट्र अपने-आप उन्नत, स्वस्थ और शक्तिशाली बनेगा। इसके लिए अलग से कोई अन्य प्रयत्न करने की अपेक्षा नहीं है।

मूल्यांकन का आधार

हमें बालकों के मूल्यांकन के संदर्भ में अपना दृष्टिकोण सही बनाना चाहिए। बच्चे की वेश-भूषा और कपड़े बहुत महत्वपूर्ण नहीं हैं। यह भी कोई महत्व की बात नहीं है कि बच्चा गरीब घर का है या अमीर घर

का। उत्थान का संबंध गरीबी और अमीरी से नहीं है, बल्कि जीवन के व्यवहार से है। वह छोटे घर में जनमे बालक के जीवन में भी उभर सकता है और बड़े घर में जनमे बालक के जीवन में भी। छोटे घर में पैदा होने से उसके उत्थान में कहीं कोई बाधा नहीं है।

आप देखें, संसार में जितने भी महापुरुष हुए हैं, उनमें से ज्यादा करके छोटे-से गांव में, छोटे-से समाज में और छोटे-से घर में पैदा हुए हैं। प्रवाह छोटे रूप में शुरू होता है, आगे बढ़ता है, औरों को भी अपने साथ मिलाता जाता है और आगे चलकर विशाल नदी का रूप ले लेता है। इतना ही नहीं, वह अनेक छोटे-मोटे गांवों और शहरों की प्यास बुझाता हुआ, खेतों को सींचता हुआ समुद्र में जा मिलता है। देखा, आपने छोटे का प्रभाव ! कहने का सारांश यह कि हमें बालक की ऊपरी बातें न देखकर उसका जीवन देखना चाहिए कि वह कितना स्वस्थ है, कितना सदाचारी और पवित्र है। इस आधार पर उसका मूल्यांकन करके उसका जीवन सुधारने की दिशा में प्रयत्न करना चाहिए।

मेरी दृष्टि में बालक के जीवन-सुधार या निर्माण की दृष्टि से चार बातें आवश्यक हैं १. विनय २. सत्य-निष्ठा ३. व्यसन-मुक्ति ४. धर्म के प्रति आस्था।

भारतीय संस्कृति का आधार : विनय

विद्यार्थी जितना विनम्र होगा, उतना ही उसका जीवन निर्मित होगा। विद्या-प्राप्ति के साथ विनय का गहरा संबंध है। विनीत ही विद्या-प्राप्ति का सही पात्र है, अविनीत नहीं। हम देखते हैं कि नरम या पोली जमीन पर बरसात का तप (सील-सरसता) बैठता है और आगे चलकर उससे अनाज पैदा होता है। लेकिन पथरीली जमीन पर बरसात काम नहीं करती। विनीतह्वनम्र जीवन में भी विद्या बरसात की तरह घुल जाती है, सजलता और सरसता रखती है। वहां बोया बीज मीठा-मीठा फल देता है। वह बढ़ता है, फलता-फूलता है और शतशाखी बनता है। विनयपूर्वक ली गई विद्या पनपती है, फलती-फूलती है। विद्यादाता गुरु की भक्ति और आदरपूर्वक ग्रहण की जानेवाली विद्या दोनों शीघ्र असर दिखाती हैं।

भारतीय संस्कृति के आधार पर तो विनय ही जीवन है। विनय मौलिक धर्म है। कुछ लोग विनय को गुलामी कहते हैं। यह उनकी समझ का दारिद्र्य है। विनय को गुलामी कदापि नहीं कहा जा सकता। विनय

और गुलामी में रात-दिन-जैसा अंतर है। गुलामी लालच, स्वार्थ, आकांक्षा व मजबूरी से की जानेवाली खुशामद है, जबकि विनय व्यक्ति का आत्म-धर्म है।

सत्य : सब रोगों की एक दवा

सत्यनिष्ठ होने का अर्थ हैह्विद्यार्थी का जीवन सत्यमय बन जाए। असत्य उसके पास फटके तक नहीं। वह न असत्य बोले, न लिखे, न सोचे, न विचारे और न असत्यवादी व्यक्ति की संगत ही करे। जैसे गहराई से देखा जाए तो बालक का जीवन सत्य का ही जीवन है। वह झूठ नहीं बोलता। छोटा बच्चा जो-कुछ करके आएगा, उसे साफ-साफ यथावत कहेगा। भले वह कार्य अच्छा हो या बुरा। पर वही बालक जब बड़ा हो जाता है, उसमें समझदारी आने लगती है, तब उसकी सहजता विलीन होने लगती है। उसका स्थान कृत्रिमता लेने लगती है। फलतः वह झूठ बोलने लगता है। वह यथार्थ प्रकट नहीं करता। कुछ बताता है, कुछ छिपाता है, कुछ अतिशयोक्ति करता है। इतना ही नहीं, वह दूसरों की आंखों में धूल झाँकने का भी प्रयत्न करता है। एक गलत काम छिपाने के लिए जाने कितने झूठ बोलता है। वह यह नहीं समझता कि झूठ गलत मार्ग है। उस पर चलकर व्यक्ति कभी उन्नति नहीं कर सकता। सही मार्ग सत्य ही है। सत्य को स्वीकार करनेवाला कभी भटकता नहीं। हजार बुराइयां चाहे व्यक्ति के जीवन में क्यों न हों, पर वह यदि सत्य का राजपथ स्वीकार कर लेता है तो उसकी सब बुराइयां छूट सकती हैं।

पशु से आदमी

बाप अपने बच्चे की गलत हरकतों, अनुशासनहीनता व उदंडता से हैरान था। उसे समझाने का उसने बहुत प्रयत्न किया, पर उसे सफलता नहीं मिली। बातों से नहीं समझा, सो तो नहीं ही समझा, लातों, थप्पड़ों और डंडों से भी नहीं समझा। हारकर एक दिन वह उसे अपने गुरु के पास लाया और बोलाह्व'गुरुदेव! कृपा कर इसे समझाएं, शिक्षा दें, सुधारें। दुनिया- भर की सारी बुराइयां इसमें हैं। मैं तो तबाह हो गया। समझाते-समझाते गले तक आ गया हूं। अब मात्र आप से आशा है।'

गुरु अनुभववृद्ध थे। वे जानते थे कि डांट-फटकार या डंडा सुधार का तरीका नहीं है। उन्होंने बाप को आश्वस्त कर विदा कर दिया और

बच्चे से एकांत में बात शुरू की। पूछाह 'क्यों बच्चे ! बीड़ी पीते हो ?' बच्चा शर्म से झुक गया। धीमे से बोलाह 'जी, हां।' गुरु ने अगला प्रश्न कियाह 'शराब पीते हो ?' बच्चा उसी भावधारा में बोलाह 'जी, हां।' गुरु ने तीसरा प्रश्न कियाह 'क्या मांस खाते हो ?' बच्चे ने वही संक्षिप्त-सा उत्तर दियाह 'जी, हां।'

गुरु अगला प्रश्न करते, उससे पूर्व ही लड़का बोलाह 'महात्मन ! आपके समक्ष झूठ बोलना उचित नहीं। मैं सब-कुछ करता हूं। दुनिया में ऐसी कौन-सी बुराई है, जो मेरे में न हो!' गुरु ने कहाह 'तुमने सच-सच सारी बात स्पष्ट बता दी, यह बहुत अच्छा किया। पर देखो, ये आदतें अच्छी नहीं हैं। इनसे जीवन बरबाद होता है। यदि अपना जीवन स्वस्थ बनाना चाहते हो तो ये आदतें छोड़ दो।'

लड़के ने कहाह 'गुरुदेव ! आप जो-कुछ कह रहे हैं, वह बिलकुल यथार्थ है। पर मैं इन बुराइयों में इस बुरी तरह फंसा हुआ हूं कि इनका छूटना संभव नहीं है। लेकिन जब आप कह रहे हैं तो एक चीज छोड़ दूंगा। आप जो इच्छा हो, वह कह दें।' गुरु बोलेह 'देखो, तुम कह तो रहे हो, पर एक बार फिर गंभीरता से सोच लो। नियम लेने के बाद उसे प्रामाणिकतापूर्वक अखंड निभाना आवश्यक है, अन्यथा बहुत बड़े पाप के भागी बनेगे।' लड़का आत्मविश्वास के स्वर में बोलाह 'गुरुदेव ! मैंने अच्छी तरह से सोच लिया है। आपके चरणों की शपथ खाकर कहता हूं कि आप द्वारा दिलाया गया नियम अखंडित रूप में निभाऊंगा। प्राण जाएं तो भले जाएं, पर नियम को खंडित नहीं होने दूंगा।'

गुरु ने मन-ही-मन कहाह चलो, जड़ पकड़ में आ गई। पत्ते, फूल और शाखाएं पकड़ने की अपेक्षा मूल का पकड़ा जाना ही ज्यादा लाभप्रद है। एक अपेक्षा से जड़ पकड़ी गई तो सब-कुछ पकड़ा गया। फिर दूसरी-दूसरी चीजें अलग से पकड़ने की कोई जरूरत नहीं रही। लड़के को संबोधित कर वे बोलेह 'ठीक है, जब इतनी तैयारी है, तब नियम दिलाने में कोई कठिनाई नहीं है। अच्छा, नियम करो कि मैं कभी झूठ नहीं बोलूंगा।' लड़के ने करबद्ध यह नियम स्वीकार कर लिया।

सायं बाप आया। वह मन-ही-मन कल्पना कर रहा था कि गुरु महाराज ने लड़के की सारी बुराइयां छुड़ा दी होंगी। इसी आशा से उसने आते ही बड़ी व्यग्रता के साथ पुत्र से पूछाह 'क्यों बेटे ! बीड़ी छोड़ दी?' लड़के ने अस्वीकृतिसूचक सिर हिलाते हुए कहाह 'नहीं।' बाप ने दूसरा

प्रश्न कियाह 'शराब छोड़ी ?' लड़का बोलाह 'नहीं छोड़ी।' बाप ने तीसरा प्रश्न कियाह 'मांस छोड़ा ?' लड़के ने वही उत्तर दियाह 'नहीं छोड़ा।'

बाप के मन में बहुत निराशा हुई। वह उन्हीं पैरों गुरु के पास गया और बोलाह 'गुरुदेव ! यह आपने क्या किया ! कुछ भी नहीं छोड़ा।' गुरु ने कहाह 'चिंता मत करो, जड़ पकड़ ली है। अब स्वतः सारी बुराइयां छूट जाएंगी।'

बाप बेटे को लेकर घर आ गया।

दूसरे दिन रात को लड़का घर पर कुछ देरी से पहुंचा। बाप ने पूछाह 'क्यों बेटे ! कहां गए थे ? इतनी देरी से कैसे आए ?' उस समय गांव के दो-तीन प्रतिष्ठित व्यक्ति किसी कार्यवश उसके घर पर आए हुए थे। पिता ने उनके सामने ही उससे प्रश्न किया था। लड़के के सामने उलझन खड़ी हो गई, ब्रह्म पैदा हो गयाहसत्य कहूं; पर कैसे कहूं; झूठ बोलूं; पर कैसे बोलूं, गुरुजी के समक्ष लिया नियम खंडित हो जाएगा। पर उत्तर तो कुछ देना ही था। बोलाह 'पिताजी! न पूछें।' पिता ने कहाह 'नहीं कैसे पूछूं? बताओ कि कहां गए थे।' तब लड़का धीमे-से बोलाह 'शराब.....'

पास बैठे गांव के मोजीज-मातवर लोग विस्मय के साथ बोलेह 'आपका लड़का और शराब !' लड़के को बहुत शर्म लगी। वह तो जिंदा ही मर गया। मन-ही-मन बोला कि मेरी बात लोगों ने जान ली। अब नहीं पीऊंगा शराब। आज से तीन तलाक। बस, छूट गई शराब सदा-सदा के लिए।

बाप के चाबी हाथ लग गई। दूसरे दिन जैसे ही वह घर से बाहर जाने को तैयार हुआ, उसने पूछाह 'कहां जाते हो ?' लड़के को बताना पड़ाह 'जुआ खेलने।' पर मन में बहुत लज्जा महसूस हुई। बस, जुआ भी छूट गया। यों धीरे-धीरे सारी बुराइयां छूटती चली गईं। बुराइयां छूटीं और उसका जीवन अच्छा बन गया, पवित्र बन गया। वह पशु से आदमी बन गया।

व्यसन अभिशाप है

हमारे यहां शराब, मांस, जुआ आदि सात व्यसनों की चर्चा आती है। ये व्यसन जिस व्यक्ति के जीवन में प्रविष्ट हो जाते हैं, उसका जीवन नरक-तुल्य बन जाता है। उसके जीवन का समस्त रस सूख जाता है।

वह भारभूत-सा बन जाता है। इसलिए बालकों को प्रारंभ से ही व्यसनों के दुष्परिणामों से परिचित करवाकर उनसे कोसों दूर रहने के लिए संकल्पबद्ध करना चाहिए।

धर्म अमृत है

धर्म जीवन के लिए अमृत-तुल्य है। जिस प्रकार अमृत व्यक्ति को नवजीवन प्रदान करता है, उसी प्रकार धर्म भी नवजीवन का प्रदाता है। जो व्यक्ति धर्म का सही मूल्य समझकर उसे जीवनगत बनाता है, उसका जीवन सुख से आप्लावित हो जाता है। शांति का दरिया उसके हृदय में हिलोरें लेने लगता है। एक वाक्य में कहा जाए तो धर्म और कुछ नहीं, जीवन जीने की कला है। जिसने धर्म को जीवनगत कर लिया, मानना चाहिए कि उसने जीवन जीने की कला सीख ली। इस दृष्टि से मैं धर्म को भोजन, पानी और श्वास से भी ज्यादा महत्वपूर्ण/आवश्यक मानता हूँ। बालकों में शुरू से ही धर्म के मौलिक तत्त्वों/अहिंसा, सत्य, मैत्री, करुणा, दया आदि के संस्कार वपित और जाग्रत करने का प्रयत्न किया जाना चाहिए। इससे उनके जीवन को स्वस्थता का सुदृढ़ आधार मिलेगा और वे समाज और राष्ट्र को सही दिशा प्रदान करने में सक्षम हो सकेंगे।

सुधार की शुरुआत कहाँ से

मैं अध्यापकों और अभिभावकों से इस अवसर पर एक बात विशेष रूप से कहना चाहता हूँ। अगर वे बालकों को सुधारना चाहते हैं तो पहले स्वयं सुधरें। सुधार की शुभ शुरुआत अपने-आपसे करें। जब तक इस बात की ओर ध्यान नहीं दिया जाएगा, तब तक बालकों के सुधारने का लक्ष्य प्राप्त नहीं किया जा सकता। उदाहरणार्थ, अध्यापक कक्षा में विद्यार्थियों से कहना है कि सिगरेट पीना बहुत हानिकारक है। इससे कई प्रकार की घातक बीमारियाँ होने की संभावना रहती है। इसलिए इस लत से सभी को बचना चाहिए।..... पर स्कूल से निकलकर वह स्वयं सिगरेट पीने लगे तो विद्यार्थियों पर उसके कथन का क्या असर होगा, यह मुझे बताने की जरूरत नहीं। वस्तुतः विद्यार्थी यह बात बहुत कम देखता है कि अध्यापक उसे क्या कहता है। उस पर अधिक असर इस बात का होता है कि अध्यापक क्या करता है। जब वह अध्यापक के कथन और व्यवहार में तीन-छह की-सी विपरीतता देखता है तो उसके मन पर सहज प्रतिक्रिया होती है कि कहने की बात और होती है व

करने की बात और। पोथे के बैंगन और व खाने के बैंगन और।

यही बात अभिभावकों के लिए भी है। मां-बाप बच्चों को तो बार-बार सच बोलने के लिए अभिप्रेरित करें और स्वयं झूठ बोलें, इस स्थिति में वे सत्य बोलना नहीं सीख सकते, वे तो झूठ बोलना ही सीखेंगे। इसलिए अभिभावकों एवं अध्यापकों से पुनः यह कहना चाहता हूं कि वे बालकों के सुधार की प्रक्रिया का प्रारंभ स्वयं के सुधार से करें। स्वयं सुसंस्कारित बनकर ही वे बालकों में सत्संस्कार भर सकेंगे।

विद्यार्थियों को आह्वान

इस अवसर विद्यार्थियों से भी दो शब्द कहना चाहता हूं। विद्यार्थियो! समाज और राष्ट्र के नव-निर्माण में तुम्हारी बहुत महत्वपूर्ण भूमिका है। आज राष्ट्र के बड़े-बड़े नेताओं की नजर तुम लोगों पर है। उन्हें तुमसे बड़ी-बड़ी आशाएं हैं। वे तुम्हारी और गौर से निहार रहे हैं। क्या तुम उन्हें सहयोग करोगे; उनकी आशा के अनुरूप अपने-आपको सिद्ध करोगे ? सहयोग करने से मेरा तात्पर्य बहुत स्पष्ट है। तुम्हें समाज और राष्ट्र के नैतिक जागरण की आधार-शिला बनना है; जीवन-सुधार का सक्रिय प्रशिक्षण देना है। इसके लिए तुम्हें नैतिकता के सांचे में ढलना होगा, जीवन-सुधार का मंत्र पढ़ना होगा।

सुख का राजपथ अणुव्रत

हमारे यहां नैतिक जागरण एवं जीवन-सुधार के लक्ष्य से अणुव्रत-आंदोलन के रूप में एक रचनात्मक कार्यक्रम चल रहा है। दूसरे शब्दों में यह सुख का राजपथ है। विद्यार्थियो! अध्यपको! अभिभावको! अगर आप सुख-प्राप्ति के इच्छुक हैं तो आप अणुव्रत-आंदोलन के राजपथ पर आएं। अणुव्रत-आंदोलन के राजपथ पर आने का अर्थ हैहहिंसा, झूठ, चोरी, बेईमानी, भ्रष्टाचार, शोषण आदि से सलक्ष्य बचना। जीवन को संयम, सादगी, सत्य, संतोष और समता से अनुप्राणित करना। यदि इस राजपथ पर आपके चरण गतिशील हुए तो निश्चित रूप में सुख-प्राप्ति की आपकी ललक पूरी होगी। आप अपने अंतर में शांति का दरिया हिलोरें लेते पाएंगे।

सरदारशहर

९ : अणुव्रत : जीवन-सुधार का सत्संकल्प

जीवन जीना एक बात है और अच्छा जीवन जीना दूसरी बात। अच्छा से मेरा तात्पर्य है सात्त्विक, संयत, सहज और शांत जीवन जीना। मैं पूछना चाहता हूँ कि ऐसा जीवन कौन नहीं जीना चाहता। पर मात्र चाहने से क्या, जब तक कि सही मार्ग पर कदम नहीं बढ़ाए जाएं! मार्ग के सही ज्ञान के लिए कुशल मार्ग-दर्शक की अपेक्षा रहती है। जो लोग अच्छा जीवन जीना चाहते हैं, उनके लिए अणुव्रत-आंदोलन सच्चा मार्ग-दर्शक है। अनैतिकता, असंयम और अनाचरण के झंझावात से डगमगाते लोक-जीवन के लिए यह आंदोलन वह आधार है, जो उसे नैतिकता, संयम और सच्चरित्रता पर टिके रहने की एक अभिनव प्रेरणा देता है।

मैं मानता हूँ, संयम, नियमन, नैतिकता और साधनापूर्ण जीवन के लिए दृढ़ संकल्प की बहुत बड़ी आवश्यकता है। दृढ़ संकल्प में अद्भुत शक्ति होती है। वह आदर्शों से नीचे सरकते जीवन को सहारा देकर रोके रखता है, उसमें अभिनव बल का संचार करता रहता है। अणुव्रत और क्या है ? दृढ़ संकल्प का ही तो दूसरा नाम अणुव्रत है। अणुव्रत-आंदोलन व्यक्ति को दृढ़ संकल्पी बनाकर उसे संयत, सुनियमित, नैतिक और साधनाप्रधान जीवनचर्या अपनाने का मार्ग देता है।

आज चारों ओर रचनात्मक कार्य की चर्चा है। मेरी दृष्टि में मानव-जीवन को स्वस्थ बनाने से बढ़कर और कोई रचनात्मक कार्य हो नहीं सकता। अणुव्रत इसी का सत्संकल्प है। व्रत की चेतना झंकृत करके यह सच्चरित्रता एवं सचाई के आधार पर जन-जन के जीवन का नव-निर्माण करता है।

सरदारशहर

४ मार्च १९५७

१० : मूल्यांकन का आधार

धर्म-शास्त्रों में मानव-जीवन की महिमा मुक्तकंठ से गाई गई है। मानव-जीवन की प्राप्ति एक दुर्लभ उपलब्धि है। पर मानव-जीवन प्राप्त करके भी बहुत-से व्यक्ति उसका सही-सही मूल्यांकन नहीं कर पाते। इसका कारण है मूल्यांकन का गलत दृष्टिकोण। भौतिक वैभव, सत्ता और अधिकारों की कसौटी पर जीवन का सही-सही मूल्य नहीं आंका जा सकता। मानव-जीवन के मूल्यांकन की सही कसौटी शुद्धाचार और सात्त्विक विचार हैं। जहां इस कसौटी या आधार पर मूल्यांकन किया जाता है, वहीं जीवन को सही-सही समझा जा सकता है। इसी लिए मैं बार-बार कहा करता हूँ कि सबसे पहले व्यक्ति अपनी दृष्टि सम्यक बनाए, उसे परिष्कृत करे। यथार्थ-दर्शन की प्रवृत्ति उसमें आए, ताकि वह अपने लिए मार्ग पा सके, उस पर आगे बढ़कर जीवन को सच्चे विकास और प्रगति की ओर ले जा सके। अणुव्रत-आंदोलन व्यक्ति को मूल्यांकन की सही दृष्टि देता है। वह जीवन का उत्कर्ष सात्त्विकता, संयम, सदाचार और निष्कपटता में देखता है। उसकी मान्यता में वही उंचा, अच्छा और स्पृहणीय जीवन है, जो अधिक-से-अधिक संतोषी, संयत और सरल है; जो सात्त्विक विचारों से ओतप्रोत है। मैं चाहूंगा, यह तथ्य हृदयंगम करते हुए लोग जीवन का सही-सही मूल्य आंके, सच्चे विकास के लिए अणुव्रत का मार्ग अपनाएं।

चूरू

८ मार्च १९५७

११ : सबसे बड़ी पूंजी

राष्ट्र की बुनियाद

विद्यार्थी राष्ट्र की सबसे बड़ी पूंजी है; उसकी बुनियाद है। किस समाज, देश और राष्ट्र का भविष्य कैसा है, इसका अंदाजा वहां के विद्यार्थियों के जीवन से लगाया जा सकता है। जिस भवन की नींव पक्की होगी, उस पर तूफानी हवा के चाहे कितने ही झोंके क्यों न आएँ, कितना ही बोझ उस पर क्यों न पड़े, वह डगमगाएगा नहीं, उसे किसी प्रकार का खतरा नहीं होगा। उसी प्रकार विद्यार्थियों का जीवन विनयी, सदाचारी, शीलवान और सद्गुणों से भरा हुआ होगा तो वे स्वयं तो विकसित होंगे ही, समाज और देश का प्रासाद भी उतना ही ठोस और स्थायी होगा।

अहिंसा सांस्कृतिक निधि है

आज विद्यार्थियों में जो सबसे बड़ी कमी है, वह है चरित्र और विनय की। तभी तो प्रधानमंत्री पं. नेहरू अक्सर कहा करते हैं 'जहां भारत ने विदेशों में इतना सम्मान पाया, वहां भारत के विद्यार्थी तोड़-फोड़मूलक कार्यों में भाग लेते रहते हैं, यह राष्ट्र की आभ्यंतरिक स्थिति के लिए शोभा की बात नहीं है।' वे अपनी मांग हिंसा के बल पर रखने के बदले अहिंसा के बल पर क्यों नहीं रखते? अहिंसा हमारे राष्ट्र की परंपरागत तथा सांस्कृतिक निधि है। यह गौरवपूर्ण आदर्श हमें विरासत में मिला है। इसे सुरक्षित रखना, इस पर चलना हमारे देश के प्रत्येक नागरिक का कर्तव्य है। विद्यार्थियों को इस दृष्टि से गंभीर बनना चाहिए।

अध्यापक जीवन की पोथी से पढ़ाएं

दो बातें मैं प्राध्यापकों से भी कहना चाहूंगा। उन्हें विद्यार्थियों को पुस्तकीय ज्ञान ही नहीं देना है, उन्हें उनके जीवन का सही मार्ग भी दिखाना है, चरित्र-जाग्रति का पाठ भी पढ़ाना है। पर यह केवल उनके

कहने से नहीं बनेगा। इसके लिए उन्हें अपने जीवन से पढ़ाना होगा। विद्यार्थी अध्यापक के कहने को नहीं देखते। वे अनुकरणप्रधान होते हैं। अगर प्राध्यापक मंच पर आकर कहे कि विद्यार्थियों को बीड़ी नहीं पीनी चाहिए, यह बुरी चीज है तथा भाषण समाप्त करते ही बाहर आए और स्वयं धुआं निकालने लगे तो विद्यार्थी समझेंगे कि कहने की बात कुछ और होती है; करने की कुछ और। इससे विद्यार्थियों के दिमाग पर बहुत बुरा असर पड़ता है। अध्यापक का जीवन विद्यार्थी के लिए खुली पुस्तक होना चाहिए। तभी आज के विद्यार्थी को सही दिशा मिल सकती है।

चूरू

८ मार्च १९५७

१२ : राष्ट्र की बहुमूल्य संपत्ति

नारी-जीवन का आदर्श

कोमलता, करुणा, विनयशीलता और अनुशासनप्रियता नारी जाति के सहज गुण हैं। इन्हीं कारणों से वह मानव-संस्कृति को सदा से एक अनुपम देन देती आ रही है, यह इतिहास बताता है। पर खेद का विषय है कि आज नारी जीवन के उन महानतम आदर्शों से परे होती जा रही है। बाह्य सुसज्जा एवं बनाव-दिखाव में घुल-मिलकर वह जीवन के वास्तविक मूल्य भुलाती जा रही है, सचमुच यह उसका ह्रासोन्मुख कदम है। जीवन का आदर्श बाह्य-प्रदर्शन एवं फैशनपरस्ती नहीं है। जीवन का वास्तविक आदर्श तो सात्त्विक, उज्ज्वल व परिमार्जित जीवनचर्या, त्याग एवं साधना है।

राष्ट्र-विकास का आधार

आज की ये नन्ही-नन्ही बालिकाएं आगे चलकर गृहणियां, माताएं और कार्यकर्त्रियां बननेवाली हैं। ये राष्ट्र और समाज की बहुमूल्य संपत्ति हैं, जिसके सहारे कि राष्ट्र का सच्चा निर्माण और विकास होता है। यदि इनका जीवन अभी से सत्संस्कारों में ढाला जाए तो आगे चलकर ये स्वयं तो अपने जीवन में बहुत बड़ा विकास कर ही सकेंगी, औरों के लिए भी प्रेरणा-स्रोत बन सकेंगी। इसलिए अध्यापिकाओं एवं अभिभावकों का कर्तव्य है कि वे इनका जीवन सत्य, शौच, शालीनता और सात्त्विक प्रवृत्तियों के सांचे में ढालें।

बालिकाओं से मैं कहूंगा, वे यह बात याद रखें कि उनके जीवन का यह अमूल्य समय है। इसमें वे अपने-आपका जैसा निर्माण करेंगी, उनका भावी जीवन उसी बुनियाद पर आधारित होगा। अतः वे अभी से अपने-आपको झूठ, चोरी, अवज्ञा, गाली, आपसी लड़ाई-झगड़ा आदि बुरी प्रवृत्तियों से सदा दूर रखें। देखने में तो ये बातें छोटी-छोटी लगती

हैं, लेकिन जीवन को गलत मार्ग की ओर ले जाने की अपेक्षा से आग में घी का काम करती हैं।

भावी जीवन की बुनियाद

महिलाएं स्वभावतः धर्मपरायण एवं श्रद्धानिष्ठ होती हैं। मैं कहना चाहूंगा, आज वे केवल बाह्य-प्रदर्शन एवं परंपरा-पोषणमूलक धर्माराधना में अपने कर्तव्यों की इतिश्री न करके जीवन में धर्म का सही उपयोग करें, जो कि उनके व्यवहार-परिशोधन एवं चरित्र-मार्जन का साधन है। इससे उनके जीवन में अद्भुत निखार आएगा, वे अपनी सही प्रतिष्ठा को प्राप्त होंगी।

चूरू

१४ मार्च १९५७

१३ : जीवनशुद्धि का प्रशस्त पथ

धन-लिप्सा की मार

आप जिधर देखें, व्यक्ति धन-लिप्सा में अंधा बना येन-केन-प्रकारेण वैभव का अंबार खड़ा करने में जुटा है। इस अत्यधिक आसक्ति ने उसके विवेक में कुंठा पैदा कर दी है। सत-असत को मापने के लिए उसे अर्थ के अतिरिक्त दूसरा कोई गज नहीं दीखता। अर्थप्राप्ति के साधन में बड़ा-से-बड़ा अन्याय करते भी उसका जी नहीं सकुचाता। इस पूंजीवादी मनोवृत्ति ने जहां एक ओर मानव के वैयक्तिक और पारिवारिक जीवन को अस्त-व्यस्त कर डाला है, भाई को भाई के खून का प्यासा बना दिया है, पिता-पुत्र के बीच वैमनस्य और रोष की भयावह दरार पैदा कर दी है, वहीं दूसरी ओर उसके सामाजिक और सार्वजनिक जीवन पर भी इसने करारी चोट पहुंचाई है। क्या वह जीवन कोई वास्तविक जीवन है, जहां व्यक्ति अर्थ-कीट बन उससे चिपटा रहे और एक अवधिविशेष के बाद अपनी मानव-योनि की परिसमाप्ति कर यहां से चलता बने? यह विवेकशून्य और गुमराह जिंदगी का नमूना है। पर खेद इस बात का है कि आज का मानव इस ओर बेतहाशा दौड़ा जा रहा है। फलतः उसके जीवन में शांति, सुख और आत्मतोष की अनुभूति नहीं है। इसका कारण यह है कि उसने धन के लोभ में अपनी आत्मा भी बेच डाली है। आए दिन के भीषण थपेड़ों से घिसता-पिटता मानव क्या अब भी नहीं चेतेंगा?

धर्म का सही स्वरूप प्रकट हो

और तो और, धर्म का क्षेत्र भी पूंजीवादी मनोवृत्ति का शिकार हुए बिना नहीं रहा। धर्म जहां आत्म-परिमार्जन, संयम, अहिंसा, सत्य और शीलपूर्ण जीवनचर्या में प्रतिष्ठित है, वहां वह पैसों के बल खरीदा जाने लगा। फिर उसकी प्रतिष्ठा कैसे रहती? तभी तो उसके नाम पर अनेक झगड़े, संघर्ष और रक्तपात के भीषण तांडव मचे। क्या यह धर्म का दोष

था? नहीं, बिलकुल नहीं। यह दोष तो धर्म द्वारा अपना स्वार्थ साधने की दुरभि-संधि में लगे तथाकथित अवसरवादियों का था। आज के मननशील मानव को धर्म का अहिंसा, सत्य और संयममूलक स्वरूप समझना है, उसे अपना जीवन-सहचर बनाना है। यदि उसने ऐसा किया तो यह असंभव नहीं कि आज की भीषण समस्याओं से वह छुटकारा पा सके, जो कि नागिनों की तरह अपना जहरीला मुंह बाए उसे निगलने को आतुर हैं।

चूरू

१९ मार्च १९५७

१४ : परिमार्जित जीवन-चर्या

अभिभावक और अध्यापक जागरूक रहें

बालक स्वभावतः बुरे नहीं होते। सचाई और भोलापन उनके सहज गुण हैं। वे दूषित वातावरण, प्रतिकूल परिस्थिति या बुरा संसर्ग पाकर बुरे बन जाते हैं। उनकी प्रकृति बिगड़ जाती है। एक बार वे विपरीतपथगामी बने, फिर उत्तरोत्तर बुराइयों की ओर लुढ़कते जाते हैं। इसलिए आवश्यक है कि आरंभ से ही उनमें सत्य, अहिंसा, विनय, सद्भावना और अनुशासन के सुसंस्कार भरे जाएं, ताकि उनके जीवन की नींव मजबूत और स्थायी बन सके, उनका भावी जीवन बाधाओं के झंझावात और वातूलों से डगमगा न सके। यह उत्तरदायित्व अभिभावकों और अध्यापकों पर है। यदि वे इस ओर जागरूक नहीं रहते हैं तो वे बच्चों के जीवन के साथ खिलवाड़ करते हैं, अपने कर्तव्य से परे होते हैं। मैं उनसे कहना चाहता हूँ कि वे इस बिंदु पर गंभीरता से ध्यान दें। कहीं किसी प्रकार का प्रमाद हो रहा हो तो उसे सलक्ष्य मिटाएं, भविष्य के लिए सजग बनें। उनकी यह सजगता विद्यार्थियों के उज्ज्वल भविष्य-निर्माण में निर्णायक भूमिका निभाएगी।

विद्यार्थियों के जीवन-निर्माण की बेला

ये छोटे-छोटे, भोले-भाले हंसमुख विद्यार्थी राष्ट्र और समाज के भावी कर्णधार हैं। जिस विद्यार्थी-जीवन से वे गुजर रहे हैं, वह सचमुच उनके लिए स्वर्णिम बेला है। यही तो वह समय है, जब वे अपने जीवन की भावी मंजिलों के लिए विद्या, शील, अनुशासन एवं चारित्र का संबल जुटा रहे हैं। विद्यार्थियों को अपने जीवन की यह महत्ता ठीक-ठीक आंकनी है और उसके अनुरूप अपना जीवन सत्य एवं शौच से परिपूरित करना है। वे यह न समझें कि अभी तो हम बचपन में हैं, अतः इनकी क्यों चिंता करें। जब बड़े होंगे, तब सीख लेंगे। मेरी दृष्टि में यह सोचना

उनकी भयंकर भूल होगी। अभी यदि वे अपने जीवन को परिमार्जित और संयमित चर्या में ढालने का अभ्यास नहीं करेंगे तो आगे चलकर कुछ बनने का है, ऐसा लगता नहीं। अतः अभी से उन्हें विनय, अनुशासन और संयम को अपने जीवन के साथ अविचल रूप से जोड़ना है। अपने क्षण-क्षण की प्रवृत्तियों पर दृष्टि रखनी है कि कहीं उनमें विपरीतताएं तो नहीं भर पा रही हैं।

अभिमान, दंभ, प्रमाद, क्रोध और असहिष्णुताह्वये वे भयानक दुर्गुण हैं, जो जीवन को आदर्शों से गिराते हैं। विद्यार्थियों को चाहिए, वे इनसे अपने को बचाने के लिए सदा जागरूक और प्रयत्नशील रहें।

चूरु

२१ मार्च १९५७

१५ : घर का स्वर्ग

विकास या हास

आज का मानव फूला नहीं समाता। वह कहता है कि हमने विकास किया है। उसकी दृष्टि में विकास हो सकता है, पर मैं तो उसे हास ही कहूंगा। आज के इस वैज्ञानिक युग में उसे अनेक चीजें मिलीं। उसने मछलियों की तरह समुद्र को पार करना सीखा, पक्षियों की तरह आकाश में उड़ना सीखा, यहां बैठे-बैठे हजारों कोस दूर बैठे मानव से बात करनी सीखी, पर इसके बावजूद उसे शांति नहीं, सुख नहीं, चैन नहीं, आनंद नहीं। यह सब क्यों?

आज का मानव आंखों से देखना भूल गया, पैरों से चलना भूल गया। आश्चर्य, फिर भी विकास की डींग भरता है ! थोड़ा-सा देखने का काम पड़ा कि आंखें कमजोर हो गईं, आंखों से पानी चलने लगा, अब उसे चश्मा चाहिए। जहां हमारे बुजुर्ग सत्तर-सत्तर वर्ष की आयु तक सुई पिरो सकते थे, वहां आज अठारह-अठारह वर्ष के, और इससे भी नीचे की अवस्थावाले बालक चश्मे के बिना काम नहीं कर सकते। थोड़ा-सा लिखना है, टाइपराइटर चाहिए और थोड़ा ज्यादा हो तो फिर प्रेस के बिना काम ही नहीं चल सकता। अक्षर-लेखन-सौंदर्य तो समाप्त-सा हो चुका है। आदमी जितना बड़ा चिंतक, विचारक विद्वान और उसकी लेखन-कला उतनी ही खराब! मानो लेखनकला का खराब होना तो चिंतक का प्रमुख लक्षण बन गया है! दो सौ आदमी इकट्ठे हो गए। बस, बोला नहीं जाता। माइक चाहिए। क्यों? गला कमजोर है। क्या आप इसी को विकास कहते हैं? क्या यही है विकास? भाइयो! यह क्या है? हास नहीं, तो क्या इसे विकास कहूं?

स्वर्ग : नरक

अगर आप चाहते हैं कि हम सुखी बनें, हमारा परिवार सुखी बने,

तो बाहर भटकने की आवश्यकता नहीं है। वह तो आपके पास ही है। जहां कलह, ईर्ष्या, द्वेष, बेईमानी, अभिमान, परिग्रह आदि हैं, वहीं नरक है। और जहां भ्रातृभाव, स्नेह और आपसी प्रेम हैं, वहीं स्वर्ग है। आप हमें देखें। हमारे पास कौन-सा कोष भरा पड़ा है। आप स्वयं सोचें कि जिनके पास दूसरे समय का खाना नहीं है, वे भी इतने सुखी क्यों हैं। उत्तर बहुत स्पष्ट है कि उनके पास संतोष, श्रम, सौजन्य और आस्था है।

अणुव्रत आप के घर को स्वर्ग बनाना चाहता है। वह कहता है कि जीवन को विकासोन्मुख करो, पारस्परिक प्रेम बढ़ाओ, आरंभ-समारंभ और परिग्रह में कमी करो, इनसे ज्यादा मोह मत रखो।

क्या झूठ के बिना काम नहीं चल सकता

लोग कहते हैं कि झूठ के बिना काम नहीं चल सकता। आज के इस भौतिकवादी युग में और फिर सत्याभिभाषण ! हूं ! सच बोलना है तो मुंह पर ताला लगा लो और आराम करो ! पर मैं कहता हूं, इस दुनिया में सत्य के बिना कोई काम नहीं चल सकता। आप सत्य और झूठ को हृदय के पलड़े पर तोलें। आखिर सत्य का पलड़ा ही भारी रहेगा। आप झूठ छोड़ सकते हैं, पर सत्य नहीं। अगर आप एक दिन के लिए भी सत्य न बोलने का संकल्प ले लें तो आपकी जबान बंद हो जाएगी। जैसे, कोई आपसे आकर पूछेगा 'आप कौन हैं?' आप कहेंगे 'आदमी।' पर यह तो सत्य हो गया और सत्य आपको बोलना नहीं है। फिर क्या आप गदहा कहेंगे ? नहीं। इसी प्रकार बोलना, उठना, बैठना, खाना, पीना, चलना प्रत्येक कार्य में सत्य के बिना आपका काम नहीं चल सकता।

प्राचीन समय में भारतवर्ष में सत्य की प्रतिष्ठा थी। सत्य को जीवन का सारभूत तत्व समझा जाता था। जान-अनजान में कोई व्यक्ति झूठ बोल भी लेता था तो उसे अच्छा नहीं मानता था। पर आज की स्थिति यह है कि आदमी झूठ भी बोलता है और उसे अच्छा भी समझता है। मेरी दृष्टि में झूठ को अच्छा समझना झूठ बोलने से भी ज्यादा बुरा है। इसलिए यह अपेक्षा है कि व्यक्ति का दृष्टिकोण सही बने। दृष्टिकोण सही बनने के बाद सत्य की प्रतिष्ठा स्वयं होगी। इसमें संदेह करने के लिए कोई गुंजाइश नहीं है।

चूरु, २२ मार्च १९५७

१६ : अणुव्रत कार्यकर्ताओं की जीवन-दिशा

शिक्षा के दो प्रकार

आज कार्यकर्ताओं को दृढ़ निष्ठा और लगन के साथ जीवन-निर्माण के काम में जुट जाना चाहिए, मैं इसकी सर्वाधिक अपेक्षा महसूस करता हूँ। पूछा जा सकता है कि जीवन-निर्माण की प्रक्रिया क्या है। जीवन-निर्माण की प्रक्रिया हैह्यशिक्षा। जैन-वाङ्मय में शिक्षा के दो भेद किए गए हैंह्यग्रहण और आसेवन। केवल किसी विषय की जानकारी पाना, उसके निरूपण और विवेचन की योग्यता हासिल करना ग्रहण में आता है, जबकि आसेवन का आशय हैह्यउस सत्शिक्षा एवं सदज्ञान के अनुरूप अपना जीवन ढालना, अपने जीवन-व्यवहार में उन आदर्शों को संजोना। आज जहां तक देखा जाता है, प्रायः इस बात की कमी कार्यकर्ताओं में पाई जाती है। कार्यकर्ता केवल लंबी-चौड़ी बातें बनाएं, यह उनके लिए शोभनीय नहीं।

जरूरी है तटस्थ समीक्षा

हमें देखना चाहिए कि यह स्थिति क्यों बनती है। जैसे, किसी को भोजन की भूख न हो, इसके दो कारण हो सकते हैंह्यतो उसका पेट भरा हो या उसे कोई ऐसा रोग हो गया हो, जिसने भूख को रोक दिया हो। मैं समझता हूँ, कार्यकर्ताओं के व्यावहारिक जीवन में सक्रिय शिक्षा प्रवेश नहीं पा रही है, इसका कारण यह नहीं कि उन्होंने उच्चतम शिक्षा प्राप्त कर ली है, बल्कि एक बीमारी है, जिससे वे ग्रहण तो करते हैं, पर आसेवन नहीं कर पाते। वह बीमारी हैह्यवैयक्तिक दुर्बलता, सदाचार और नैतिकता के आदर्शों पर आरूढ़ होने के साहस का अभाव। वैयक्तिक के साथ-साथ सामाजिक जीवन का प्रतिकूल वातावरण भी इसमें कारण हो सकता है कि जिसमें रहता हुआ व्यक्ति अपने को नैतिकता के मार्ग पर चलाते रहने में कठिनाइयां अनुभव करता है। इन दुर्बलताओं और

विपरीत परिस्थितियों पर कार्यकर्ताओं को विजय पानी है। इसके लिए उन्हें अपनी तटस्थ समीक्षा करनी होगी, आत्मावलोकन करना होगा, अपना आत्मबल जाग्रत करना होगा।

अणुव्रत के आदर्श जीवन में आएँ

अणुव्रत अपने-आपमें कुछ नहीं है। वह तो अणुव्रतियों के जीवन पर निर्भर है। वे ही उसके आदर्शों की कसौटी हैं। उनका जीवन जितना ऊंचा होगा, सदाचार और सात्विकता की ज्योति से जितना ज्योतित होगा, उतनी ही आंदोलन की विशेषता है, उनके अपने जीवन की उच्चता है। इसलिए मैं प्रत्येक कार्यकर्ता से कहूँगा कि वह अणुव्रत-आदर्शों के अनुकूल अपना जीवन बनाए। साथ ही उसका यह भी कर्तव्य है कि वह औरों तक भी आंदोलन की आवाज पहुंचाए।

अणुव्रत-आंदोलन जन-जाग्रति का आंदोलन है, मानवता का आंदोलन है। जैसा कि मुझे लगता है, निश्चित रूप में यह आगे बढ़नेवाला है। पर देखना यह है कि इसे आगे बढ़ाने का श्रेय किसे मिलता है।

चूरु

२३ मार्च १९५७

१७ : युवक और धर्म

संयम है शांति का अमोघ हेतु

‘कल न जाने कैसी स्थिति आए। आज हम व्रत या जीवन-विकास के नियम ग्रहण कर लें तो उस बदलती हुई परिस्थिति में हमारे पर जाने क्या बीते।.....’ व्रत-ग्रहण करने या चारित्रिक दृढ़-संकल्प से कतराने-वाले आम नौजवानों के ये विचार हैं। यह आत्मसाहस से परे की बात है। यह उनके अंतरतम की दुर्बलता का परिचय है। क्या कभी एक सत्कर्मनिष्ठ साहसी इस आशंका से अच्छा काम शुरू करने से रुकेगा कि कल जाने कौन सा विघ्न आ पड़े, उसकी कैसी गति हो? मैं कहूंगा कि प्रचुर आत्म-बल और मनोयोग से काम करनेवाला यह आशंका ही क्यों करे। उसका ध्यान तो एकमात्र अपने काम पर रहना चाहिए। तन्मय होकर काम करनेवाला कभी ऐसी दुश्चिंताओं में नहीं डूबता। युवकों को चाहिए कि वे इस तरह की निर्मूल भ्रान्तियां और विभीषिकाएं छोड़कर उत्साह के साथ संयम-पथ पर आगे बढ़ें। संयम जीवन में शांति लाने का अमोघ हेतु है। सरलता, सादगी, सात्त्विकता आदि इसी से फलित होनेवाले गुण हैं। मैं युवकों से पुनः जोर देकर कहूंगा; यदि वे अपने जीवन को संयम का नया मोड़ न देकर यों ही सिर्फ जोश की बातें बनाते रहे तो इससे कुछ बनने का नहीं है और न उनका दूसरों पर भी कोई असर ही होनेवाला है। अणुव्रत-आंदोलन मानव-जीवन में संयम का प्रतिष्ठापन करने का आंदोलन है। नौजवानों को इसमें अपने-आपको ढालना है तथा औरों तक इसे फैलाने में अपनी जिम्मेदारी निभानी है।

धर्म ही त्राण है

आज का युग भौतिकवादी युग कहा जाता है। विज्ञान के नए-नए चामत्कारिक आविष्कारों ने मानव को चकाचौंध कर दिया है। कहा जाता है कि यह सब हुआ सुख और शांति लाने के लिए। पर उसे मिला

क्या? अणुबम-जैसे प्रलयंकर दानवीय अस्त्र-शस्त्र कि जिनकी विभीषिका से आज संसार थर्रा उठा है। तभी तो अणुबम का आविष्कर्ता मानव का यह खतरनाक कदम देखकर चीख पड़ा था। उसकी बुद्धि से आविर्भूत यह आश्चर्यमय चमत्कार ऐसे निर्दय हाथों में पड़ा कि विश्व-मानव आज अकल्याण की महोदधि में डूबा जा रहा है। आज भौतिकवादी थपेड़ों से आहत मानव कराह उठा है त्राण के लिए। यदि उसे कोई त्राण देनेवाला है तो वह एकमात्र धर्म है। यदि यह वांछनीय है कि जागतिक जीवन हिंसा के क्रूर आघातों से बचे, उसमें सच्चाई व्यापे, शोषण और अनाचार मिटें; धोखा, विश्वासघात और छल-प्रपंच के जाल का निर्दलन हो तो मानव को धर्म का सहारा लेना होगा। ये ही तो वे आदर्श हैं, जिन्हें धर्म बताता है। यह धर्म का वास्तविक स्वरूप है, जो सांप्रदायिक संकीर्णता से परे विश्वजनीन और व्यापक आदर्शों पर आधारित है। धर्म के नाम पर आचरित उन तथाकथित धर्माचरणों पर यह करारी चोट करता है, जिनके कारण धर्म बदनाम हुआ है। मैं चाहूंगा, धर्म के इस अहिंसा, अशोषण और नैतिकतामूलक स्वरूप पर आप ध्यान रखें। आपका जीवन एक नया उल्लास और स्फुरणा पाएगा।

चूरु

२४ मार्च १९५७

१८ : निर्माण का शीर्ष बिंदु

स्वार्थ की मार

आज व्यक्ति का जीवन स्वार्थ की परिधियों से आवृत हो इतना संकीर्ण बनता जा रहा है कि अपने भौतिक लाभार्जन की पैशाचिक दुष्कामनाओं से वह जर्जर है। यदि उसका स्वार्थ सधता है, जब गरम होती है तो सत्य उसकी आंखों से ओझल हो जाता है; न्याय से किनारा करते उसे जरा भी हिचकिचाहट नहीं होती। यह आज के मानव-जीवन में प्रविष्ट वह दूषित तत्त्व है, जिसने नैतिकता और सदाचार की सात्त्विक परंपराओं पर गहरा आघात किया है। क्या राज्याधिकारी, क्या व्यापारी, क्या छात्र, क्या अध्यापक, समाज का कोई भी वर्ग इससे अछूता रह पाया है, ऐसा लगता नहीं। इस विषम और विपथगामिनी परिस्थिति में आज सबसे प्राथमिक और आवश्यक कार्य मानव के लिए यह है कि वह स्वार्थवृत्ति का त्याग करे। अर्थलोलुपता और वासनाओं के प्रवाह में स्वयं को न बहने दे। इसके लिए उसे आत्मबल संजोना होगा, बुराइयों से टक्कर लेने की हिम्मत जुटानी होगी। पर मनस्वी और निष्ठाशील व्यक्ति के लिए यह कोई कठिन नहीं है।

सच्चरित्र ही विकास का आधार है

व्यक्ति, समाज और राष्ट्र का चरित्र ऊंचा हो, आज की यह बहुत बड़ी मांग है। बिना इसके पूर्ण हुए अनेकानेक बड़ी-बड़ी योजनाओं के बावजूद राष्ट्र विकास की सही दिशा में नहीं जा सकेगा। राष्ट्र के प्रत्येक नागरिक को इस बिंदु पर गंभीरता से सोचना चाहिए। राज्याधिकारी राष्ट्र के नागरिक होने के साथ-साथ शासन, शांति और सुरक्षा का बहुत बड़ा उत्तरदायित्व वहन करते हैं। उन पर आज बहुत बड़ी जिम्मेदारी है। उनका जीवन सच्चरित्रसंपन्न होना चाहिए। उन्हें अधिकाधिक त्याग, निःस्वार्थता, अनुशासन और न्याय का जीवन जीना चाहिए, ताकि

आत्मशांति के साथ-साथ जन-जीवन पर भी इसकी गहरी छाप पड़ सके।

जरूरत है आत्म-निरीक्षण की

जिस तरह व्यापारी लोग यह समझते हैं कि व्यापार में असत्य के बिना काम चल नहीं सकता, उसी तरह शायद राज्याधिकारियों में से भी अनेक यह समझते हों कि रिश्वत के बिना कैसे काम चले, क्योंकि उन्हें अपने परिवार का लालन-पालन और अपने स्तर से जीवन-निर्वाह करना है। मैं यह सोच सही नहीं मानता। पर इसके लिए जरूरत है संतोष की, सादगी की और अपने-आप पर नियंत्रण रखने की। यदि व्यक्ति ऐसा कर ले तो अपने जीवन को रिश्वत आदि दुर्गुणों से उन्मुक्त करना कोई कठिन नहीं है। इसके लिए मैं चाहूंगा, राष्ट्र का प्रत्येक अधिकारी आत्म-निरीक्षण करे, अपनी बुराइयों का लेखा-जोखा रखे, उससे बचने का दृढ़ संकल्प करे। आत्मचिंतन से उसे बहुत बड़ा बल मिलेगा। अणुव्रत-आंदोलन और कुछ नहीं, बस ये आदर्श लोक-जीवन में देखना चाहता है।

अस्तु, राज्याधिकारियों से पुनः यह अभिप्रेरणा करता हूँ कि वे आत्म-निरीक्षण की बात गंभीरता से लें। आत्म-निरीक्षण का यह मंत्र उनके विकास और निर्माण का मंत्र सिद्ध होगा।

चूरु

२६ मार्च १९५७

१९ : जीवन का आभूषण

शिक्षा नैतिकता व आध्यात्मिकता से अनुप्राणित हो

मेरे समक्ष बड़ी संख्या में विद्यार्थी बैठे हैं। विद्यार्थियों के प्रति मेरा विशेष आकर्षण रहता है। मैं जहां भी जाता हूं, विद्यार्थियों के बीच प्रायः बोलता रहता हूं। मैं चाहता हूं, विद्यार्थी अपने निर्माण के प्रारंभकाल से ही जीवन को चारित्र्यमूलक सद्गुणों से संजोना सीखें, ताकि आगे चलकर उनका जीवन सही माने में विकसित और समुन्नत हो सके। कौन नहीं जानता कि आज देश में पहले की अपेक्षा शिक्षा ने काफी बढ़ावा पाया है; नए-नए शिक्षण-पीठ खुले हैं? पर यह सब होने के बावजूद विद्यार्थी अपने जीवन का वैसा निर्माण नहीं कर पा रहे हैं, जैसा कि सच्ची शिक्षा से होना चाहिए। ज्यों-ज्यों वे ऊंची श्रेणियों में पहुंचते हैं, उनमें बाहरी प्रदर्शन, सजावट और दिखावे की मात्रा बढ़ने लगती है। यह एक बहुत बड़ा दोष है, जो कि जीवन की उज्ज्वलता को लीलता जा रहा है। विद्यार्थी का जीवन तो एक तपस्वी और योगी का जीवन है। वह आत्मसृजन की उन अनूठी घड़ियों से गुजरता है, जो फिर कभी आने-वाली नहीं हैं। अस्तु, आज की शिक्षा में नैतिकता और आध्यात्मिकता का समावेश होना चाहिए।

जीवन-निर्माण के तत्त्व

विनय विद्यार्थी-जीवन का आभूषण है। प्रत्येक विद्यार्थी को अधिकाधिक विनयशील एवं सहिष्णु बनना चाहिए और अपने में सत्य पर डटे रहने की आदत डालनी चाहिए। अपने जीवन की परिधि में जो-जो काम उसके आते हैं, उनमें सत्य का व्यवहार करना चाहिए। उसे अपना मन पवित्र रखना चाहिए।

ब्रह्मचर्य का पालन करना विद्यार्थी के लिए अत्यंत आवश्यक है। छात्राओं के साथ छेड़छाड़ करना छात्रों के लिए कलंक की बात है। उन्हें

समझना चाहिए कि वे सब उनकी ही तो बहनें हैं, उनके प्रति ऐसा घृणित व्यवहार कदापि नहीं होना चाहिए। विद्यार्थियों को किसी तोड़फोड़-मूलक प्रवृत्ति में भाग नहीं लेना चाहिए। जब बड़ी-बड़ी अंतरराष्ट्रीय समस्याएं समझौते और बातचीत से सुलझ सकती हैं, तब उनकी समस्याएं इन तरीके से क्यों नहीं सुलझेंगी? अस्तु, ये सब बातें लेते हुए मैंने अणुव्रत-आंदोलन के अंतर्गत विद्यार्थियों के लिए निम्नांकित नियम रखे हैं।

- किसी प्रकार की तोड़फोड़मूलक हिंसात्मक प्रवृत्ति में भाग नहीं लूंगा।
- अवैध तरीकों से परीक्षा में उत्तीर्ण होने का प्रयत्न नहीं करूंगा।
- धूम्रपान नहीं करूंगा।
- मद्यपान नहीं करूंगा।
- रुपए आदि के लेने का ठहराव कर विवाह-संबंध स्वीकार नहीं करूंगा।

मैं चाहूंगा, विद्यार्थी गहराई से सोचते हुए ये नियम प्रतिज्ञा-रूप में स्वीकार करें।

चूरू

२८ मार्च १९५७

२० : शिक्षा में अणुव्रत-आदर्शों का समावेश हो

आज का मानव स्वार्थों के पीछे मदोन्मत्त होता जा रहा है। उसको अपनी स्वार्थपूर्ति की ही एषणा है, इसके लिए चाहे कितना भी भयंकर दुष्कृत्य उसे क्यों न करना पड़े। यह एक गूढ़ सच्चाई है कि स्वार्थ सारे अन्याय व दुर्बलताओं का जन्मदाता है। इसने संघर्षों को जन्म दिया, व्यक्ति का जीवन अशांत बनाया, क्योंकि जहां स्वार्थपूर्ति का चक्र चला, वहां हिंसा ने अपना प्रसार किया, अविश्वास ने जोर पकड़ा, अनैतिक भावों को पंख मिले। फिर भला मानव-जीवन में सुख शेष कहां रह जाता है? इसका साक्षात् चित्र आज के समाज का जीता-जागता जीवन है। अणुव्रत-आंदोलन अहिंसा, सच्चाई, संतोष और संयम के द्वारा ये अनैतिक अंकुर मिटा देना चाहता है। जन-जन के कानों तक आंदोलन का यह आध्यात्मिक घोष पहुंचे, यह अपेक्षित है।

समाज के मुख्यतः दो विभाग हैं ऊपर का और नीचे का। वैसे मानवता की दृष्टि से हम किसी को छोटा और बड़ा नहीं मानते, पर जहां पथ-दर्शन लेने और देने का प्रश्न है, वहां दो वर्ग बहुत स्पष्ट रूप से सामने हैं एक पथ-दर्शन देनेवाला और दूसरा पथ-दर्शन में चलनेवाला। मैं चाहता हूँ, अणुव्रत-आंदोलन जहां नीचे के तबके के लोगों में प्रसार पाए, वहीं उसकी बहुमुखी तथा विशद धाराएं ऊपर के तबके में भी फैलें, ताकि दोनों ओर नैतिक विशुद्धि का सुंदर वातावरण निर्मित हो। इसके लिए विद्यार्थियों की शिक्षा में असांप्रदायिक रूप से अणुव्रत-आदर्शों के अनुसार सदाचार-शिक्षा का क्रम भी राज्य-सरकार जोड़े, तो क्या वह सहस्रों और लाखों नौनिहालों के सुनिर्माण में सहायक नहीं हो सकेगी?

फतेहपुर

१८ अप्रैल १९५७

२१ : हिंसा भय लाती है

आज पश्चिमी राष्ट्रों की बड़ी दुर्दशा हो रही है। उन्हें कोई रास्ता नहीं मिल रहा है। अगर वे अब भी नहीं सतर्क हुए तो उन्हें अपने हाथों ही समाप्त होना पड़ेगा। जो घातक हथियार उन्होंने निर्मित किए हैं, वे उन्हीं के काम आएंगे। अखबारों में पढ़ते हैं कि अभी तो अणुबम का परीक्षण मात्र हो रहा है। लड़ाई में प्रयोग करने पर तो जाने क्या होगा! सुना जाता है कि अगर उनका युद्ध में खुलकर प्रयोग हुआ तो चालीस-चालीस पीढ़ियों तक उसका असर रहेगा। लोग उठ भी न सकेंगे, नेशतनाबूद हो जाएंगे। आज अमेरिका और रूस अपने को कितना भी समृद्धिशाली क्यों न मानें, पर उन्हें भी उनकी भयंकरता का डर है, क्योंकि उनकी नींव हिंसा पर टिकी हुई है। इस समय भारतवासियों को यह सोचना है कि मानवता को कैसे कायम रखा जा सकता है और उन भयभीत राष्ट्रों को सही रास्ता कैसे मिल सकता है।

आज लाखों आदमी धर्म के नाम पर धोखे में हैं, घपले में हैं। आज रुपयों के बिना गुरु नहीं मिलते। वैसे गुरु होना भी आवश्यक है, क्योंकि गुरु के बिना मार्ग कौन दिखाए ? पर कुगुरु कोई काम का नहीं। कुगुरु की अपेक्षा बिना गुरु का रहना ही अच्छा है।

आज धार्मिकों की आपसी फूट नैतिकता के प्रसार में बहुत बड़ी बाधा है। उन्होंने धर्म को मंदिरों, मस्जिदों और गिरिजाघरों तक ही सीमित रखा, बाजार में नहीं आने दिया। यही कारण है कि जो बाजार निर्भयता का स्थान होना चाहिए था, वह भय का अड्डा बना हुआ है। चारों ओर अनैतिकता छाई हुई है।

अगर इस समय धार्मिक नेता आपसी समन्वय करके नैतिकता के प्रसार में योग दें तो मैं समझता हूँ, वे बहुत कुछ कर सकेंगे।

सुजानगढ़, २२ अप्रैल १९५७

२२ : अंधकार मिटाने का प्रयास

दीपक का काम करेंगे

आज का युग विषमता का युग है। जन-नेताओं के सामने आज बड़ी-बड़ी समस्याएँ हैं। एक तरफ अणुबम और उद्‌जन बम की भयंकरता मानव का मस्तिष्क खाए जा रही है तो दूसरी तरफ खाद्य की समस्या, बेरोजगारी की समस्या आदि हैं। इन समस्याओं से उलझा मानव पथ-दर्शन का भूखा है। पर सही पथ-दर्शन मिल नहीं रहा है। ऐसे अवसर पर हम अगर सूर्य का नहीं तो दीपक का काम अवश्य करेंगे। हमारी जितनी ताकत है, हम उस ओर लगाएंगे। पर आज सूर्य के अभाव में एक दीपक की नहीं, लाखों दीपकों की आवश्यकता है। महाकवि रवींद्रनाथ टैगोर ने सूर्य और दीपक के रूपक के द्वारा बहुत सुंदर अभिव्यक्ति दी है। सूर्य अस्ताचल को जाते समय कहता है 'भाइयो, मैं तो जा रहा हूँ, पीछे से निगाह रखना।' उस समय दीपक कहता है 'स्वामिन! मैं जो हूँ, अपना तुच्छ प्रकाश फैलाऊंगा।' उसी प्रकार हम दीपक का काम तो अवश्य करेंगे। इससे समूचे संसार का अंधकार तो दूर नहीं होगा, पर कार्यक्षेत्र का अंधेरा तो अवश्य मिटेगा और मानव को कुछ राहत भी मिलेगी। उसी अंधकार को मिटाने के लिए हम गांव-गांव में घूम रहे हैं।

अक्षय तृतीया

आज का दिन अक्षय-तृतीया का दिन है। इतिहास में इस दिन का बहुत बड़ा महत्त्व है। इस युग के प्रथम मुनि भगवान ऋषभदेव मौन अवस्था में विचरण करते थे। लोगों ने देखा कि आदम बाबा आए हैं। इसलिए उनके लिए भेंटस्वरूप घोड़ा, हाथी, हीरे-जवाहरात आदि लाए। पर भगवान ने उनमें से एक भी वस्तु ग्रहण नहीं की। उन्हें रोटी चाहिए थी। पर भगवान को रोटी-जैसी तुच्छ वस्तु कौन दे ? आखिर विचरण

करते-करते बारह महीने बीत गए, भगवान को न रोटी मिली और न पानी। घूमते-घूमते वे अपने पौत्र श्रेयांसकुमार की नगरी में पधारे। उसने रात को स्वप्न देखा कि मैं मेरु पर्वत को ईक्षु के रस से सींच रहा हूँ। सुबह उसे अपने ज्ञान से ज्ञात हुआ कि भगवान ऋषभदेव यहां पधार रहे हैं और उन्हें बहुत दिनों से भोजन नहीं मिला है। उस दिन उसके यहां इक्षुरस के एक सौ आठ कलश आए हुए थे। उसने ऋषभदेव से प्रार्थना कीह्र'प्रभो ! मेरे यहां इक्षुरस आया हुआ है, आप उसे ग्रहण करें।' भगवान उसके यहां पधारे। दोनों हाथों से रस पीकर उन्होंने बारह महीने की अपनी तपस्या का पारणा किया। उसी समय देवताओं ने फूलों की वर्षा की और तब से आज तक यह दिन 'अक्षय तृतीया' के नाम से मनाया जाता रहा है।

आप भी इस पर्व के उपलक्ष्य में तपस्या का कोई अनुष्ठान प्रारंभ करें। तपस्या पूर्वसंचित कर्मों को तोड़ने का अचूक उपाय है। कर्मों की शृंखला तोड़कर ही आप शाश्वत सुख-शांति को प्राप्त कर सकेंगे।

लाडनूँ

२ मई १९५७

२३ : स्वस्थ जीवन जीने का मार्ग

आज हम आपके नए भवन में आए हैं। आप लोगों के चेहरों पर मैं एक जिज्ञासा और कुतूहल का भाव देख रहा हूँ। यह अस्वाभाविक भी नहीं है, क्योंकि आपके लिए हम नए हैं, अपरिचित हैं। एक बच्चा जब इस संसार में आता है, तब पहले-पहल उसे भी संसार कुछ विचित्र-सा लगता है। किंतु धीरे-धीरे संसार के साथ उसका परिचय होने लगता है और सब-कुछ उसके लिए सहज बन जाता है, वहां के वातावरण में वह रच-पच जाता है। इस दृष्टि से आपके लिए भी हमारा परिचय जरूरी है।

हम लोग जैन-साधु हैं। साधु कोई जन्म से नहीं होता। वह साधना से होता है। दूसरे शब्दों में जिसका मन संसार से विरक्त हो जाता है, जिसने अपने जीवन की दिशा मोक्षोन्मुख बना ली है, वह साधु है। और सीधे शब्दों में कहूं तो जो अपने मन, वचन और काया को साधने में जुट गया, अपने-आपको साधने के लिए उपस्थित हो गया, वह साधु है।

जैन का अर्थ भी समझें। जैन 'जिन' शब्द से बना है। जिन का अर्थ है विजेता। अपने-आप पर अनुशासन करनेवाला। मैं मानता हूँ, आत्मविजेता ही सच्चा विजेता है। जिसने अपने-आप पर विजय प्राप्त कर ली, वही वास्तव में दूसरों पर अनुशासन करने का अधिकारी है। जिसने अपने-आप पर अनुशासन नहीं किया, उसे दूसरों पर अनुशासन करने का अधिकार ही क्या है ? जिन आत्म-विजेता होते हैं, अपने-आप पर अनुशासन करते हैं। उनके द्वारा प्ररूपित धर्म जैन-धर्म है। हम जैन-धर्म में दीक्षित साधु हैं।

हम क्यों आए हैं

आप पूछेंगे कि आप यहां क्यों आए हैं। हम यहां आए हैं अपनी साधना के लिए। हमारे सारे काम-हलचलना, फिरना, खाना, पीना, प्रवचन करना.....साधना के लिए ही होते हैं। यहां जो प्रवचन करने आए हैं, यह

आप पर कोई एहसान नहीं है। यह भी हमारी साधना ही है। आपसे भी हम कहना चाहते हैं कि आप भी जो कोई काम करें, वह दूसरों पर एहसान करने की भावना से न करें।

अपेक्षित है आत्म-निरीक्षण

आज देश ने अगर सबसे ज्यादा कुछ खोया है तो वह है ईमान, वह है मानवता। ऊपर से तो सारे लोग बहुत अच्छे लगते हैं, पर अंदर से यह देश अस्थि-पंजर मात्र रह गया है। सारे-के-सारे दूसरों की आलोचना करने को तत्पर हैं, पर अपने-आपको कोई नहीं देखता। व्यापारी लोग आपको (आयकर अधिकारियों को) कोसते हैं। वे सोचते हैं, हम तो इतनी मिहनत से पैसा कमाते हैं और ये आयकर अधिकारी आकर उसे साफ कर देते हैं। सचमुच आप (आयकर अधिकारी) उन्हें यमदूत लगते हैं। पर वे स्वयं यह नहीं सोचते कि हम कितने गरीबों के गले पर छुरी फेरते हैं। अभी मेरे सामने व्यापारी (बनिए) लोग नहीं हैं। पर जब वे मेरे सामने होते हैं, तब मैं उन्हें भी खरी-खरी सुनाता हूँ। मुझे दुःख है कि आज बनिए बदनाम हैं और उनके साथ-साथ कभी-कभी हमें भी लोग कुछ कह देते हैं, क्योंकि लोग हमें भी बनियों के गुरु मानते हैं। वैसे हमारे अनुयायी सारे बनिए ही हैं, ऐसी बात नहीं है।

बहुत-से व्यापारी ऐसे भी हैं, जिन्हें आपका बिलकुल भय नहीं है। कारण क्या है ? कारण स्पष्ट है। वे अपने व्यापार-व्यवसाय में नैतिकता और प्रामाणिकता बरतते हैं। अणुव्रत के आदर्शों के अनुरूप चलते हुए कोई भी गलत काम नहीं करते। फिर भय किसलिए हो ?

अणुव्रत : अभय का मार्ग

यह केवल व्यापारियों की बात नहीं है। अणुव्रत सभी के लिए अभय बनने का मार्ग प्रशस्त करता है। वह सबको अभय बनाता है। यह एक शाश्वत सचाई है कि भय से भय बढ़ता है। अणुब्रम ने मनुष्य को भयभीत बना दिया तो विपक्ष के लोग हाइड्रोजन बम बनाकर अभय बनना चाहते हैं। पर अभय का रास्ता यह नहीं है। अभय बनने के लिए तो अणुव्रत के आदर्श स्वीकार करने होंगे।

अणुव्रत आपको संन्यासी नहीं बनाता। वह कहता है, जहां भी आप रहते हैं, वहां रहकर भी अपने पर कंट्रोल करें। अगर आपने यह कर लिया तो आपके घर और कार्यालय सारे सुधर जाएंगे।

पांच अणुव्रत

पहला अणुव्रत अहिंसा है। किसी को मार देना मात्र हिंसा नहीं है, बुरा चिंतन भी हिंसा है। अस्पृश्य मानकर करोड़ों लोगों का तिरस्कार करना हिंसा नहीं तो और क्या है ? फिर इस तिरस्कार की प्रतिक्रिया भी होती है। आज सामूहिक रूप में जो धर्म-परिवर्तन किया जा रहा है, वह क्या है ? क्या धर्म-परिवर्तित करनेवालों ने श्रद्धा से ऐसा किया है ? अलबत्ता श्रद्धा से भी व्यक्ति समझ सकता है, पर इतने बड़े पैमाने पर धर्म-परिवर्तन निश्चित रूप में अपमान का प्रतिकार है। हिंदू लोगों ने शुद्रों के साथ असद्व्यवहार किया। उसका फल है कि आज वे लाखों की संख्या में बौद्ध बनते जा रहे हैं। काम के आधार पर किसी को नीचा और अस्पृश्य मानना हिंसा है और व्यवहारविरुद्ध भी है। अगर इसी प्रकार कोई अस्पृश्य होता तो माताएं तो कभी की अस्पृश्यह्वअपवित्र हो जातीं।

जरूरी है मूल्यों में परिवर्तन

भगवान महावीर ने कहाह

कम्मुणा बंभणो होइ, कम्मुणा होइ खत्तिओ।

वइस्सो कम्मुणा होइ, सुद्धो हवइ कम्मुणा॥

ह्व व्यक्ति कर्म से ब्राह्मण होता है और कर्म से ही क्षत्रिय।
वैश्य और शूद्र भी कर्म से होता है।

आज बड़ा वह माना जाता है, जिसके पास पैसे हों, भवन हों, मोटरें हों और जिसकी आवाज सभी सुन सकते हों। पर बड़प्पन के इस मूल्यांकन में परिवर्तन करना होगा। हमें पैसे को मनुष्य से बड़ा नहीं मानना है। बड़ा वह हैह्वजो त्यागी है, संयमी है। यदि पैसे से ही मनुष्य बड़ा हो जाता तो हम अकिंचन भिक्षुओं की क्या गति होती, जिनके पास एक पैसा भी नहीं है! भारतीय संस्कृति में सदा से त्यागियों की पूजा होती आई है। बड़े-बड़े सम्राटों के सिर भी अकिंचन भिक्षुओं के सामने झुक जाते थे। अतः आज भी हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि बड़ा वह है, जो त्यागी है।

दूसरा व्रत हैह्वसत्य। यथातथ्य बोलना मात्र सत्य नहीं है। सत्य का अर्थ हैह्वजैसा सोचे, वैसा बोले। यदि ऐसा नहीं तो मनुष्य ऊंचा नहीं बन सकता।

इसी प्रकार तीसरे व्रतह्रअचौर्य का मतलब भी केवल चोरी नहीं करना नहीं है। अपने काम-धंधे में ईमानदारी नहीं बरतना भी चोरी है। अपनी जिम्मेदारी के काम से दिल चुराना भी चोरी है।

चौथा व्रत हैह्रब्रह्मचर्य। ब्रह्मचर्य का अर्थ हैह्रपवित्रता की साधना करना, आत्म-रमण करना। आज के जीवन में इसकी बड़ी कमी है। इसी लिए आज बचपन से यौवन आता ही नहीं, सीधा बुढ़ापा आ जाता है।

पांचवां व्रत हैह्रअपरिग्रह। अपरिग्रह का अर्थ हैह्रत्याग-वृत्ति। धन-वैभव आदि का परित्याग, मूर्च्छा-त्याग। लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि आपको संन्यासी बनना होगा। बावजूद इसके, अपनी निःसीम लालसाओं की सीमा तो करें।

आप अफसर हैं। आपने किसी व्यापारी पर अभियोग लगाया कि उसने अपना घर भर लिया। उधर व्यापारी अपनी रक्षा करता है रिश्वत देकर। बीच में सरकार की आपको क्या चिंता? आप सोचते हैं कि **पहले पेट पूजा, पीछे काम दूजा**। पर अब ऐसे काम चलनेवाला नहीं है। अब आप स्वतंत्र हो गए हैं। राष्ट्र की सारी जिम्मेदारी आपके कंधों पर है। अब आप दूसरों पर दोष नहीं मढ़ सकते। अतः अपने-आपको जगाना पड़ेगा।

जीवन की स्वस्थता का मार्ग

सबसे पहली और महत्व की बात यह है कि आप रिश्वत न लें। मैं आपकी कठिनाइयां जानता हूँ। पर कठिनाइयां केवल आपकी नहीं हैं। प्रत्येक व्यक्ति के सामने अपनी-अपनी कठिनाइयां रहती हैं। उन्हें सहे बिना वह सुखी नहीं हो सकता। जो व्यक्ति यह तथ्य समझ लेता है, वह निश्चित रूप में एक आंतरिक शांति का अनुभव करता है। आप भी यह तथ्य समझें और जीवन में सुख-शांति का अनुभव करें।

दूसरी बात, आप दुर्व्यसनों से बचें। बीड़ी और सिगरेट तो आज सभ्यता की चीजें बन गई हैं। बहुत-से लोगों से मैं पूछता हूँह्र‘तुम बीड़ी पीते हो?’ वे कहते हैंह्र‘महाराज! वैसे तो हम बीड़ी नहीं पीते, पर कभी-कभी जब दोस्तों के साथ बैठ जाते हैं तो सभ्यता के नाते पीनी पड़ती है।’ लानत है ऐसी सभ्यता को! क्या सभ्यता इसे ही कहा जाता

है? और चाय तो आज बिछौने पर ही चाहिए। उसके बिना तो दूसरे काम में हाथ लगाना ही मुश्किल हो जाता है। वह तो मानो आजकल 'राम' नाम हो गई है! इसी प्रकार और भी बहुत-सी नशीली चीजें हैं, जिनसे आप बचने की कोशिश करेंगे तो आपका जीवन स्वस्थ रहेगा।

२४ : कार्यकर्ताओं की कार्य-दिशा*

शिक्षा : दो प्रकार

मैं यह अनुभव करता हूँ कि शिक्षा देने से भी अधिक लेने का तत्त्व है। इसलिए हर मनुष्य को शिक्षा लेने का अभ्यास ज्यादा होना चाहिए। जैन-शास्त्रों में शिक्षा के दो प्रकार बताए गए हैं—आसेवन और ग्रहण। तत्त्व-विवेचन, शब्द की व्याख्या, प्रवचन करने की विधि आदि-आदि की शिक्षा लेना ग्रहण-शिक्षा कहलाती है। आसेवन-शिक्षा का मतलब है कि जीवन उन्नत कैसे बनाना। वह सुनने की नहीं, जीवन में उतारने की है। महत्त्वपूर्ण होते हुए भी आज वह काम नहीं कर रही है। किंतु इसका मतलब यह नहीं कि वह बिलकुल भी काम नहीं करती। काम तो करती है, पर कुछ कम करती है। पर यह कोई निराशा की बात नहीं है। मैं तो मात्र वस्तुस्थिति से आप लोगों को परिचित करवा रहा हूँ।

आसेवन शिक्षा न होने के दो कारण

आसेवन नहीं होने के दो कारण हैं। भोजन के उदाहरण से इसे अधिक स्पष्ट रूप में जाना जा सकेगा। अगर कोई भोजन नहीं करता है तो उसके दो कारण हैं। एक तो भूख न लगना और दूसरा भूख बंद होना। यदि पहला कारण है तो डरने की कोई बात नहीं है। पर अगर बीमारी के कारण भूख लगती ही नहीं तो यह अच्छा नहीं है। कुशल चिकित्सक सबसे पहले रोगी के भूख नहीं लगने का कारण ढूँढ़ेगा। इसी प्रकार शिक्षा के आसेवन नहीं होने में पहला कारण हो तो डरने की बात नहीं है, क्योंकि शिक्षार्थी जीवन स्वयं में इतना पूर्ण होगा कि उसे शिक्षा की आवश्यकता ही नहीं रहेगी। किंतु अगर दूसरा कारण है तो उसके निवारण का उपाय करना ही होगा। अगर मैं वैद्य हूँ तो कहूँगा कि आज समाज में आत्म-निरीक्षण का अभ्यास नहीं है। यही बीमारी है। यदि यह

*कार्यकर्ता-सम्मेलन में प्रदत्त प्रवचन।

बीमारी मिटानी है तो हमें समाज में आत्म-निरीक्षण की भावना/प्रवृत्ति पैदा करनी होगी।

अणुव्रतों को जीवन में उतारें

अणुव्रत आज सर्वमान्य हो गए हैं। लोग कहते हैं, नियम उपयोगी हैं, योजना सुंदर है। पर मैं नहीं समझता, यदि व्यक्ति उसे अपने जीवन में उतारे ही नहीं तो केवल सुंदर योजना क्या कर सकती है। वह कोई द्रव्य तो है नहीं, जो ढेर-सा दीखने लगे। **न धर्मो धार्मिकैः बिनाह** धार्मिकों के बिना धर्म कुछ भी अर्थ नहीं रखता। इसी प्रकार अणुव्रत अपने-आपमें कुछ नहीं हैं। उनका कुनाम या सुनाम धार्मिकों पर ही आधारित है। वे तो व्रत हैं, जो पुस्तकों में लिखे पड़े हैं। अतः आवश्यकता है, आज उन्हें जीवन में उतारने की। अगर वे जीवन में उतर जाते हैं तो मैं समझता हूँ कि बहुत बड़ा काम हो जाता है। और इसी काम को मैं प्राथमिकता देता हूँ। जब तक यह काम नहीं होगा, तब तक केवल उपदेशों से वे पनप नहीं सकते। यद्यपि उपदेश असर करते ही नहीं हैं, ऐसा तो मैं नहीं मानता, क्योंकि आठ वर्षों से इसका काम चला आ रहा है और इस अवधि में कुछ काम हुआ भी है, तथापि जितनी मात्रा में होना चाहिए था, उतना नहीं हो पाया, यह कहने में कोई कठिनाई नहीं है। बहुत-सी दुविधाएं भी आई हैं, आ रही हैं, पर आप कार्यकर्ताओं को उन्हें भी पार करना होगा।

संख्या में मेरा बहुत विश्वास नहीं है। कभी-कभी हम देखते हैं कि एक व्यक्ति इतना काम कर देता है, जितना हजारों नहीं कर सकते। पर, हमारे पास ऐसे व्यक्ति कम हैं। ऐसी स्थिति में हमें आत्म-निरीक्षण करना है कि इसका क्या कारण है; हम जो काम करते हैं, उसमें हमारा व्यक्तिगत या सांप्रदायिक कोई स्वार्थ तो नहीं है। नहीं, ऐसी कोई स्थिति नहीं है। पर इसके बावजूद वह अभिलषणीय मात्रा में हो नहीं रहा है, यह एक तथ्य है। इसका कारण है कि हमारे कार्यकर्ताओं का जीवन इतना ज्वलंत नहीं है कि उससे दूसरे लोग प्रेरणा पा सकें। अतः आज मैं उनसे यह कहूंगा कि वे अपने जीवन का निरीक्षण करें। वे सोचें कि उनका जीवन पवित्र है या नहीं; वे जो कुछ बोलते हैं, वैसा आचरण करते हैं या नहीं। इस प्रकार आत्म-निरीक्षण करनेवाले कार्यकर्ता जितने अधिक होंगे, हमारा काम उतनी ही तीव्र गति से आगे बढ़ सकेगा।

असहयोग न करें

मैं यह भी देखता हूँ कि कुछ कार्यकर्ताओं में काम करने की ललक है। पर उनमें से कुछ लोगों में अहंवृत्ति आ जाती है। अगर कोई दूसरा काम करता है तो वे सोचते हैं कि देखें, यह इसमें कितना सफल होता है; हमारे सहयोग के बिना यह कितना काम कर सकता है। और इस प्रकार वे एक-दूसरे का सहयोग नहीं करते, बल्कि असहयोग कर बैठते हैं। यह अच्छा नहीं है। होना तो यह चाहिए कि कोई भी व्यक्ति काम क्यों न करे, आप उसे अपना ही काम मानें, अपना मान उसमें सहयोग दें। पर मान लें किसी कारणवश आप सहयोग नहीं कर सकते। ऐसी स्थिति में असहयोग तो न करें।

जाते पायं पसारिए, तेती लांबी सौर

कार्यकर्ताओं को एक बात और ध्यान में रखने की है। उन्हें उतना ही काम हाथ में लेना चाहिए, जितना उनका सामर्थ्य हो। काम हाथ में लेकर उसे पूरा नहीं करना, आंदोलन की गति को मंद कर देना है।

मैं मानता हूँ, जो काम होनेवाला है, वह होकर ही रहेगा। मुझे लगता है कि संसार आज संहार के उत्कर्ष पर आ गया है। क्या अब उसकी स्थिति वैसी ही बनी रहेगी ? क्या दुनिया का दुर्भाग्य चलता ही रहेगा ? संसार की नाजुक स्थितियों में हमेशा कुछ शक्तियां आगे आई हैं और परिवर्तन घटित हुआ है। मुझे लगता है, संसार की अपकर्ष की स्थिति में अब बदलाव होगा और उसमें अणुव्रत की निर्णायक भूमिका रहेगी।

चूरु

२५ : अणु-अस्त्रों की होड़

आज सिंहावलोकन की बेला है। विश्व प्रगति की चोटी पर पहुंच चुका है। अब संतुलन की जरूरत है। एकांगी प्रगति ने विश्व को विपदा के तट पर लाकर खड़ा कर दिया है।

एक ऐसी अनुश्रुति हैह्वराक्षस से भिड़ो मत, टलकर चले जाओ।

स्पर्धा से संहार को बल मिलता है। भय, आशंका और शस्त्र अभय, विश्वास और अहिंसा के जगत में नहीं बढ़ते। इनका विकास भय, आशंका और शस्त्रों की प्रतिस्पर्धा से होता है।

प्रतिस्पर्धा कभी-कभी क्षम्य हो जाती है। आज वह अक्षम्य है। जनता ने अपना भाग्य राजनीतिक नेताओं को सौंप रखा है।

वे अपना दायित्व निभाने में सफल नहीं हो रहे हैं। विश्व का बहुमत युद्ध और संहारक अस्त्र-शस्त्र निर्माण करने के पक्ष में नहीं है।

कुछ-एक बड़ों को भय और अविश्वास सता रहा है। वे अपने विरोधियों को मिटाने के लिए स्वयं अपने मिटने की स्थिति पैदा करते जा रहे हैं!

दूसरों को मिटाकर कोई बच जाएगा, यह अनहोनी बात है। आज की स्थिति जितनी उलझी हुई है, उतनी ही स्पष्ट है। संभलने की आवश्यकता उन बड़ों को है, जो विराट जनता के भाग्य की सुरक्षा का दायित्व लिए हुए हैं।

अगर समय रहते वे न संभल सके तो जनता को भी अपने अधिकार की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए।

क्रांति का सूत्र सदा जनता के हाथ में रहता है। हिंसात्मक क्रांति के बाद भी स्थिति सुलझी नहीं है। अहिंसक क्रांति के संदेशवाहकों के लिए कसौटी का समय है।

ये युद्ध और अस्त्र-निर्माण के विरुद्ध जनमत जगाए। जनमत जाग्रत करने के सिवा इनके प्रतिकार का कोई भी विकल्प सरल नहीं रहा है।

जाग्रत जनमत की उपेक्षा करके कोई भी राष्ट्र इन स्थितियों को अधिक लंबा नहीं कर सकता। दूसरे महायुद्ध की समाप्ति पर मैंने एक संदेश में सुझाया था कि विश्वशांति के लिए संहारक अस्त्र-शस्त्रों का निर्माण एकबारगी बंद किया जाए।

कुछ लोगों ने इसे सुना, किंतु जिन्हें सुनना चाहिए था, उन लोगों ने नहीं सुना।

संहारक अस्त्रों का निर्माण बराबर चलता रहा और अब वह चरम बिंदु पर पहुंच रहा है।

पश्चिमी जर्मनी के अणु-वैज्ञानिक अपने राष्ट्र को अणु-शस्त्रों से सज्जित करने का विरोध कर रहे हैं।

इंग्लैंड में एक शांतिवादी संगठन पीस प्लेज यूनियन बना है, जिसकी सदस्य-संख्या दस-ग्यारह हजार बताई जाती है। वह युद्ध-सामग्री के निर्माण का विरोध कर रहा है।

दुनिया के बड़े-बड़े दार्शनिक, विचारक और वैज्ञानिक भी संभावित खतरे की ओर संकेत कर रहे हैं।

अणु का विरोध करनेवाले शांतिवादी सफल नहीं हो रहे हैं। उनका स्वर क्षीण है। वे पूरा जनमत जगा नहीं सके हैं। इसलिए उनकी बात कोई भी राष्ट्र नहीं सुन रहा है।

आणविक अस्त्रों के निर्माण, परीक्षण और संग्रह को स्थगित करने के लिए कोई भी तैयार नहीं है। वे अणु-अस्त्रों को ही अपने लिए सुरक्षा और विपक्ष के लिए विरोध मान रहे हैं। यह किसी एक का नहीं, व्यापक दोष हो रहा है।

संहारक स्थिति पैदा करनेवाला कोई भी अच्छा नहीं है; भले फिर वह असाम्यवादी हो या साम्यवादी। साम्यवाद या असाम्यवादहये गौण प्रश्न हैं। मूल प्रश्न मानवता का है। मानवता को मिटानेवाले ये मानव स्वयं मिट जाएंगे, तब वाद किसका रहेगा ?

आज के राजनीतिज्ञ राजनीति का घेरा तोड़कर बाहर देख-सुन नहीं रहे हैं। जो राजनीति से परे मानवतावादी हैं, उन्हें वे कुछ समझते ही

नहीं, ऐसा लगता है।

राजनीति को सर्वाधिक महत्त्व देकर जनता क्या अपने लिए गहरा गड़ढ़ा नहीं खोद रही है?

भौतिक सुख-सुविधाओं को ही जीवन का सर्वस्व मानकर उसके लिए दूसरों की सत्ता छीननेवाले क्या प्रलय को बुलावा नहीं दे रहे हैं?

निःशस्त्रीकरण की चर्चा लंबे समय से चल रही है। सेना और सैनिक-व्यय की कमी के प्रस्ताव भी कभी से रखे जा रहे हैं। अणु-शस्त्रों का निर्माण, परीक्षण और संग्रह रोकने के लिए सुझाव भी कभी से आ रहे हैं। किंतु कुछ भी बन नहीं पा रहा है। इसके दो कारण हैं—आपसी भय और आशंका। इनके मिटे बिना विषफल अमृत नहीं बनेंगे।

अभय और विश्वास का साधन मैत्री है।

आज की दुनिया में आपसी संपर्क कम नहीं है। इसके बावजूद व्यक्ति या तो एक-दूसरे को समझ नहीं रहा है या समझने पर जो सद्भावना मिलनी चाहिए, वह नहीं मिल रही है।

दूसरों को हीन या अधिकारशून्य बनाए रखने की बात गलत है। उसका निश्चित परिणाम संघर्ष है। दो विरोधी विचार दुनिया में एक साथ रह सकते हैं, यह हृदय से नहीं समझा गया है।

विचार-परिवर्तन के लिए बल-प्रयोग के तरीके अब भी चल रहे हैं।

ग्राह्य और अग्राह्य विचार की निश्चित परिभाषाएं नहीं हो सकतीं। जो जनता को ग्राह्य लगेगा, वह विचार टिकेगा और जो ग्राह्य न लगेगा, वह मिट जाएगा।

किसी एक विचार का आग्रह करनेवाले अग्राह्य के परिणाम की भयंकरता असमय में, समय से पहले ही ला देते हैं।

मैत्री-भाव के विस्तार के लिए आग्रह छोड़ देना आवश्यक है।

अणुव्रत-आंदोलन के साथ मैत्री का गहरा संबंध है। इसी लिए मैत्री के रूप में 'मैत्री-दिवस' मनाने का निश्चय हमने किया। इस वर्ष दिल्ली में उसका प्रारंभ हुआ।

इसका कार्यक्रम हैहसरलतापूर्वक अपनी भूलों के लिए दूसरों से क्षमा मांगना और दूसरों की भूलों को क्षमा करना।

यूनेस्को के डाइरेक्टर जनरल लूथर इवान से इसे व्यापक बनाने के

बारे में बातचीत चली थी और उन्होंने ऐसा करना चाहा भी था।

पंडित नेहरू ने विश्वशांति के लिए 'पंचशील' के रूप में एक वैज्ञानिक हल प्रस्तुत किया था, किंतु उसका भी हार्दिक पालन नहीं हो रहा है, ऐसा लगता है। शक्ति पर आधारित नीति को ही प्रश्रय मिलता रहा तो स्थितियां सुलझने की अपेक्षा और अधिक उलझ जाएंगी।

आध्यात्मिकता से संतुलित प्रगति ही टिक सकती है और वह जगत के लिए भयंकर नहीं होती। राजनीतिक मस्तिष्क से ही शांति की बात सोचनेवाले राजनीतिज्ञ मानवता की दृष्टि की उपेक्षा न करें। मानवता के बिना मानव की दुर्गति हो जाएगी। लाखों, करोड़ों शांतिवादियों और मानवतावादियों की आंतरिक पुकार यदि उपेक्षित होगी तो उसका परिणाम राजनीतिज्ञों के लिए भी इष्ट नहीं होगा।

अगर सुनें तो मैं दुनिया के छोटे और बड़े सभी लोगों को यह सुनाना चाहता हूँ कि वे एक बार सिंहावलोकन करें।

चूरू

२६ : पुरुषार्थ के भेद

संसार में चार पुरुषार्थ माने गए हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। कई आचार्यों ने इनकी संख्या तीन भी मानी है। उनकी व्याख्या करते हुए एक आचार्य लिखते हैं—

**त्रिवर्गसंसाधनमंतरेण, पशोरिवायुर्विफलं नरस्य।
तत्रापि धर्मं प्रवरं वदन्ति, न तं विना यद् भवतोऽर्थकामौ॥**

हम धर्म, अर्थ और काम इन तीनों पुरुषार्थों को जो मनुष्य नहीं अपनाता, उसका जीवन पशुओं के जीवन के सदृश निरर्थक है। इन तीनों पुरुषार्थों में धर्म प्रमुख है, क्योंकि उसके अभाव में अर्थ और कामहये दोनों भी नहीं सध सकते।

यद्यपि पशु भी कोई बिलकुल निरर्थक ही हों, ऐसा तो नहीं है। लोक-जीवन में वे भी उपयोगी हैं। बावजूद इसके, इतना तो स्पष्ट है कि उनमें विवेक की कमी होती है; ज्ञान की कमी होती है। किसी बैल के पैर में अगर कोई रस्सी आ जाती है तो उस अज्ञानी में इतनी बुद्धि नहीं होती कि वह उसे निकाल ले। बलिष्ठ होने पर भी वह तड़पेगा, पर उससे मुक्त नहीं हो सकेगा। इसी लिए अज्ञानी मनुष्यों को शास्त्रों में जगह-जगह मृग कहा गया है।

धर्म परम पुरुषार्थ है

पर इन तीन पुरुषार्थों में भी धर्म को सबसे बड़ा माना गया है। प्रश्न होना सहज है कि ऐसा क्यों; धर्म को इतना महत्त्व क्यों दिया गया। यह इसलिए कि बिना इसके न तो अर्थ को साधा जा सकता है और न ही काम को। भारतीय चिंतन-धारा में यद्यपि यह माना गया है कि काम और अर्थ अपने पुरुषार्थ से ही होते हैं, तथापि उनमें पुण्योदय भी नितांत अपेक्षित है। उसके बिना ये दोनों भी नहीं सध सकते।

धर्म और पुण्य

यह भी सही है कि पुण्य और धर्म दोनों भिन्न-भिन्न तत्त्व हैं। धर्म है ह्यैह्य-आत्म-शुद्धि का साधन। पुण्य है ह्यैह्य-उसके साथ होनेवाला शुभ-बंधन। उदाहरण के लिए दीपक को लें। उससे प्रकाश के साथ-साथ काजल भी पैदा होता है। यद्यपि उसका मूल स्वभाव प्रकाश करना है, पर उसके साथ काजल भी पैदा हो जाता है। तब क्या इससे प्रकाश और काजल दोनों एक हो गए? नहीं। इसी प्रकार धर्म और पुण्य का भी संबंध है। धर्म से आत्मशुद्धि होती है और इसके साथ-साथ पुण्य-बंधन भी। मोक्षप्राप्ति पर तो यह भी अंत में छूटेगा ही, क्योंकि आखिर है तो बंधन ही, बेड़ी ही। इसे आत्मा का धर्म मानना बिलकुल गलत है। इसी लिए उपाध्याय विनयविजयजी ने कहा है

शुद्धा योगा रे! यदपि यतात्मनां स्रवन्ते शुभकर्माणि।

काञ्चननिगडांस्तान्यपि जानीयाद्, हतनिर्वृतिशर्माणि॥

हह हमारी अच्छी प्रवृत्ति-हसत्कर्म से पुण्य का बंधन होता है। इसलिए वह एक प्रकार की बेड़ी है। हो सकता है, वह बेड़ी लोहे की नहीं हो, सोने की हो। पर है तो आखिर बेड़ी ही। लोग सोने के आभूषणों से प्रसन्न होते हैं और लोहे की बेड़ियों से दुखी। पर तत्त्वतः धातु की दृष्टि से दोनों में क्या भेद है? क्या सोने का वजन नहीं होता? पर मनुष्य ने सोने को अच्छा मान लिया है, अतः उसे उसका बोझ मालूम ही नहीं पड़ता है। इसी प्रकार शुभकर्म का बंधन भी अंततः तो त्याज्य ही है।

पुण्य का स्वतंत्र बंधन नहीं

धर्म सहज साधना है और पुण्य उसका प्रासांगिक फल। अभी दीप और काजल का उदाहरण दिया गया। दीप के प्रकाश के साथ ही काजल पैदा होता है। स्वतंत्र रूप से काजल नहीं हो सकता। दूसरा उदाहरण और दूं। अन्न के साथ भूसा पैदा होता है, उसी प्रकार धर्म के साथ पुण्य-बंधन हुए बिना नहीं रहता। यदि कोई मनुष्य कहे कि उसे तो केवल अनाज चाहिए, भूसा नहीं, तो क्या यह संभव है? हां, यह ठीक है कि बीज जितना अच्छा होगा, उतना ही भूसा कम होगा, अनाज ज्यादा होगा। पर भूसा बिलकुल न हो, यह तो संभव नहीं है। उसी प्रकार धर्म के साथ पुण्य का बंधन होगा। हो सकता है, उसकी मात्रा कम हो।

बंधन-मुक्ति की प्रक्रिया

फिर यहां एक प्रश्न और आता है कि जब प्रत्येक शुभ क्रिया के साथ पुण्य का बंधन लगा हुआ है, तब जो मोक्षार्थी है, अर्थ-सिद्धि जिसका लक्ष्य नहीं है, उसकी बंधन-मुक्ति कैसे होगी। इसका समाधान यह है कि जिस प्रकार अच्छे बीज से भूसा कम पैदा होता है, उसी प्रकार जिस आत्मा में कषाय की मंदता अधिक होगी, उसमें पुण्य-बंधन का घनत्व भी उतना ही कम होता चला जाएगा। कषाय के सर्वथा छूट जाने के बाद आखिर एक ऐसा स्थान भी है, जहां बंधन का सर्वथा अभाव हो जाएगा। वहां केवल निर्जरा रहेगी। कषाय यानी राग-द्वेष। इसी लिए साधक बाह्य क्रियाकांडों की अपेक्षा कषाय-मुक्ति पर ज्यादा जोर देते हैं। यद्यपि मैं यह नहीं कहता कि सब बाहरी क्रिया-कांड व्यर्थ ही हैं, तथापि इतना सुनिश्चित है कि जब तक कषाय में कमी नहीं आती, उनका फल भी वैसा नहीं मिलेगा। भरत जी ने महलों में बैठे-बैठे ही केवलज्ञान प्राप्त कर लिया। क्या ऐसे ही प्राप्त कर लिया? नहीं, ऐसे ही प्राप्त नहीं किया। मूलतः भावधारा की विशुद्धि के साथ उन्होंने अपना कषाय क्षीण कर दिया था। कषाय क्षीण होने के पश्चात ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अंतराय कर्म का क्षीण होना तो सुनिश्चित है। इस प्रकार उन्होंने केवलज्ञान प्राप्त कर लिया।

पर इस तथ्य से भी आंखें नहीं मूंदी जा सकतीं कि जितनी कषाय-मुक्ति होती जाएगी, साधक क्रियाकांडों से उतना ही विरक्त होता चला जाएगा। जैसे प्रतिलेखन, प्रतिक्रमण, एक गांव में एक महीने से अधिक नहीं रहनाहये सब हमारे लिए आवश्यक हैं, पर कल्पातीत के लिए ये बंधन नहीं हैं। यद्यपि कल्पातीत का भी यह अर्थ नहीं है कि वे जो-कुछ भी करें। पर स्वभावतः ही वे ऐसा करते नहीं। और जो-कुछ करते हैं, वही सही बन जाता है, क्योंकि उनमें प्राणाय राग-द्वेष नहीं है।

झूठ बोलने के कारण

रागाद्वा द्वेषाद्वा, मोहाद्वा वाक्यमुच्यते ह्यनृतम्।

यस्य तु नैते दोषास्तस्यानृत कारणं किं स्यात्॥

हृ कोई भी आदमी झूठ बोलता है तो उसके कारण हैंहराग, द्वेष और मोह। पर जिसमें ये दोष नहीं हैं, उसके झूठ बोलने का कारण ही क्या रह जाता है?

अतः कल्पातीत होने पर जब व्यक्ति के राग, द्वेष और मोह से सर्वथा उपरत हो जाता है तो उसके झूठ बोलने का, असदाचरण का कारण ही नहीं रह जाता।

प्रसंग रामायण का

रामायण में एक प्रसंग आता है। वसु नाम का राजा बड़ा सत्यवादी था। कहा जाता है कि सत्यवादिता के कारण उसका सिंहासन अधर आकाश में टिका रहता था। एक बार कुछ ब्राह्मणों में विवाद हो गया। विवाद का कारण था। ऋग्वेद में आई **अजैर्यष्टव्यं** शब्द-संरचना। कुछ ब्राह्मण उसका अर्थ करते थे कि बकरे की बलि से होम करना चाहिए। पर नारद का मत था। **जायते इति अजाः ब्रीह्याः। अजैर्यष्टव्यं** का मतलब है। ऋग्वेद के धान की आहुति देनी चाहिए। विवाद बढ़ते-बढ़ते इतना बढ़ गया कि उन्हें अंतिम निर्णय के लिए राजा वसु की शरण लेनी पड़ी। वसु के लिए भी यह एक बड़ी समस्या हो गई। एक तरफ उसके स्वजन थे, जो बकरे की आहुति का समर्थन करते थे और दूसरी तरफ था सत्य का पक्ष। वह बड़ा पेशोपस में पड़ गया। आखिर स्वजनों का दबाव अधिक पड़ा और निर्णय में उसे कहना पड़ा कि **अजैर्यष्टव्यं** का मतलब है। बकरे की आहुति देनी चाहिए। कहते हैं कि उसी वक्त उसका सिंहासन नीचे गिर पड़ा और वह नष्ट हो गया।

उसके इस झूठ बोलने का कारण था राग। इसी प्रकार स्वार्थ के कारण हिंसा को भी अहिंसा कह दिया जाता है। आप देखते हैं कि अगर कोई व्यक्ति किसी को मार दे तो उसे फांसी का दंड दिया जाता है। किंतु वही व्यक्ति अगर लड़ाई के मोर्चे पर सौ-पचास जवानों को भी मार दे तो उसे कोई दंड नहीं दिया जाता, उल्टे उसकी पीठ ठोकी जाती है। उसे 'पद्म-भूषण' और 'महावीर-चक्र' से सम्मानित किया जाता है। यह क्यों? यह इसीलिए कि इसमें देश का स्वार्थ है। यह ठीक है कि वह स्वार्थ व्यक्तिगत स्वार्थ नहीं है, पर हर-किसी अवस्था में स्वार्थ आखिर स्वार्थ ही है। हम इसे अहिंसा नहीं कह सकते, धर्म नहीं कह सकते। धर्म का कोई सवाल नहीं है, रक्षा का सवाल है। रक्षा का दायित्व निभाना नीति हो सकती है, पर आध्यात्मिक धर्म नहीं। महात्मा गांधी ने भी कितना सूक्ष्म देखा है! वे कहते हैं। 'युद्ध करना तो हिंसा है ही, पर युद्ध में आहत व्यक्तियों की परिचर्या करना भी अहिंसा नहीं है। हां, यह

सहयोग हो सकता है, पर इसे अहिंसा मानना जरूरी नहीं।’

भिक्षु स्वामी ने भी यही कहा है। एक व्यक्ति ने उनसे पूछा वह ‘भीखणजी! शेर को मारने में हिंसा है या अहिंसा?’ उन्होंने स्पष्ट कहा वह ‘वह अहिंसा नहीं, हिंसा है। चूंकि सामाजिक लोग उसे छोड़ नहीं सकते, अतः वे उसकी हिंसा करते हैं। पर तत्त्वतः वह अहिंसा नहीं है। अगर वह अहिंसा होती, तो मुनि के पास शेर आने पर वे शांत क्यों रहते हैं? वे भी उसे क्यों नहीं मारते?’

आदर्श का स्वरूप

लोग कहेंगे, यह तो बड़ा अव्यावहारिक सिद्धांत है। भला शेर मारने को आए और उसे मारो मत; तब तो क्या थोड़े ही दिनों में संसार उजड़ नहीं जाएगा। पर आप लोगों को यह भी अच्छी तरह से समझ लेना है कि यह आदर्श की बात है। यह आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक व्यक्ति आदर्श तक पहुंच ही जाए। आदर्श वह नहीं, जिस पर कोई चल ही नहीं सके और न वह आदर्श है, जिसे कोई भी न अपना सके। वह तो जीवन का प्रकाश-स्तंभ होता है। सब लोग अपना सकें अथवा न अपना सकें, इस आधार पर आदर्श का निर्णय नहीं होता।

इस प्रकार असत्य आचरण के कारण जिनमें नहीं हैं, वे कल्पातीत होते हैं और उनके लिए बाह्य क्रियाकांडों का इतना बोझ नहीं रहता। वे जो-कुछ करते हैं, वही दूसरों के लिए करणीय बन जाता है।

हां, तो मैं आपसे बता रहा था कि कषाय ज्यों-ज्यों छूटता चला जाएगा, त्यों-त्यों पुण्य-बंधन के घनत्व में भी कमी आती जाएगी। इस क्रम में मोक्षार्थी प्राणी जब कषाय-मुक्त बन जाएगा तो उसकी क्रिया से पुण्य-बंधन इतना क्षीण हो जाएगा कि उसके प्रतिकार की कोई अलग से आवश्यकता नहीं रहेगी। वह अपने-आप नष्ट होता जाएगा और अंतिम अवस्था में व्यक्ति अक्रिय होकर मुक्त बन जाएगा।

धर्म परम पुरुषार्थ क्यों

यद्यपि अर्थ और काम की प्राप्ति में पुरुषार्थ की भी आवश्यकता है, तथापि धर्म के बिना केवल पुरुषार्थ भी कुछ नहीं कर सकता। अतः सब दृष्टियों से ही धर्म एक ऐसा तत्त्व रह जाता है, जिसे मनुष्य को करना ही चाहिए। पर इसमें एक बात का ख्याल रखना अपेक्षित है कि धर्म अर्थ

और काम के लिए नहीं किया जाना चाहिए। यदि इनके लिए धर्म-जैसे विशुद्ध तत्त्व को खपा दिया गया तो वह तो करोड़ों की संपत्ति को कौड़ी में बेचने-जैसी नासमझी की बात होगी। पर खेद के साथ कहना पड़ता है कि आज यह नासमझी होती है! साधना को भौतिक प्राप्ति के लिए खपाया जाता है। मनुष्य धार्मिक बनता है, पर मुक्ति के लिए नहीं, बल्कि अपने पाप छिपाने के लिए। यह केवल बाह्याचार है। कष्ट सहकर भी साधना को तुच्छ मूल्य पर बेचने-जैसा कार्य है। केवल कष्ट सहना साधना नहीं है। कष्ट तो बहुत-से लोग सहते हैं। पर स्वार्थ के लिए, परमात्मा के लिए नहीं। टॉलस्टाय ने एक जगह कहा है कि 'ईसा के बलिदान, त्याग और कष्ट-सहिष्णुता की सब लोग प्रशंसा करते हैं। पर क्यों? क्या संसार में अधिक लोग ऐसे नहीं हैं, जो ईसा से भी ज्यादा कष्ट सहते हैं? तब फिर उनकी प्रशंसा क्यों नहीं की जाती? इसका कारण यही है कि ईसा ने बलिदान किया परमात्मा के लिए निःस्वार्थ भाव से, जबकि दूसरे लोग बलिदान करते हैं केवल अपने स्वार्थ के लिए। बस, यही कारण है कि ईसा का कल्याण हुआ और दूसरे लोग कष्ट सहकर भी उलटे डूबते जाते हैं।' सारांश यही है कि धर्म-जैसी शुद्ध वस्तु को ऐहिक प्राप्ति का साधन नहीं बनाना चाहिए। वह प्राप्ति तो स्वयं होती है। उसकी प्राप्ति का उद्देश्य नहीं होना चाहिए।

लाडनूँ

२७ : त्याग का महत्त्व

संतों को नमस्कार करने का उद्देश्य

कई लोग कहते हैं कि साधुओं को नमस्कार क्यों किया जाए। इसमें समझने की बात इतनी-सी है कि नमस्कार कोई चादर और ओघे (रजोहरण) को तो किया नहीं जाता। नमस्कार किया जाता है हस्त्याग को। त्याग को नमस्कार करने से कुछ हानि होती हो, ऐसा कुछ भी नहीं है, बल्कि लाभ ही होता है। त्याग को नमस्कार करने से त्याग के प्रति लोगों की श्रद्धा बढ़ती है। मैं पूछना चाहता हूँ कि इसमें हानि क्या है। और जब हानि नहीं है, तब आप बताएं कि यह आवश्यक क्यों नहीं है; क्या आप यह चाहते हैं कि लोग भोग को नमस्कार करें। यदि आप यह नहीं चाहते तो अवश्य ही आपको त्याग के प्रति नम्र होना ही पड़ेगा। मनुष्य या तो स्वयं त्यागी बने या त्यागियों के प्रति झुके। इसके सिवा त्याग की प्रतिष्ठा का कोई रास्ता नहीं है, विकल्प नहीं है। फिर त्याग के रास्ते में तो अंततः हर व्यक्ति को झुकना ही पड़ता है।

त्याग के मार्ग में प्रतिस्पर्धा नहीं है

भोग में स्पर्धा हो सकती है, एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से ज्यादा भोग-सामग्री प्राप्त करने की चेष्टा कर सकता है, पर त्याग के मार्ग में प्रतिस्पर्धा नहीं है। वहां तो मनुष्य को स्वयं को खपाना पड़ता है। वह भी केवल अपने परम उत्थान के लिए। *आगमों* में इस संबंध में एक कथा आती है।

दशार्णभद्र दशार्ण देश का राजा था। वह भगवान महावीर का परम भक्त था। एक बार भगवान उसकी राजधानी में पधारे। दशार्णभद्र को सूचना मिली। उसे अत्यंत प्रसन्नता हुई। उसके मन में प्रभु की पर्युपासना करने की शुभ भावना जागी। वह जाने को उद्यत हुआ। तभी उसके मन में एक विचार आया। मैं एक विशाल राज्य का स्वामी हूँ। मेरे

पास अपार वैभव है, संपदा है। बहुत बड़ी सेना है। भगवान के पास आज उस रूप में उपस्थित होऊँ, जिस रूप में अब तक कोई भी उपस्थित नहीं हुआ। इस विचार के साथ उसने अद्भुत रूप से अपनी सवारी सजवाई और वह प्रभु के समवसरण की ओर प्रस्थित हुआ। मार्ग में विशाल सेना के साथ सजी अपनी सवारी निरख-निरखकर वह फूला नहीं समा रहा था। मन-ही-मन इस उत्कर्ष में बहा जा रहा था कि जैसी मेरी संपदा और वैभव है, वैसी संपदा और वैभवसहित न तो आज तक भगवान के दर्शन करने कोई गया है और न कोई आगे भी जाएगा।

इंद्र सौधर्मैद्र ने अवधिज्ञान का उपयोग कर पृथ्वी का हाल देखते हुए दशार्णभद्र का उत्कर्ष देखा, उसके दिखावे की भावना देखी। वह मन-ही-मन हंसने लगाहमनुष्य में कितनी दुर्बलता होती है! तभी अनायास उसके मन में दूसरा विचार आयाहआज तो मुझे इसका मान-मर्दन करना चाहिए। प्रदर्शन की भावना तोड़नी चाहिए। विचार की ही देरी थी, कमी तो किसी बात की थी नहीं। उसी समय विकुर्वणा के द्वारा उसने एक अति विशाल लवाजमे का निर्माण किया। एक बहुत बड़ा ऐसा हाथी बनाया, जिसके पांच सौ मुंह थे। प्रत्येक मुंह में आठ-आठ दंतशूल और प्रत्येक दंतशूल पर आठ-आठ विशाल बावड़ियां बनाईं। प्रत्येक बावड़ी में एक लाख पंखुड़ियोंवाला कमल का फूल तथा उस फूल की प्रत्येक पंखुड़ी पर बत्तीस प्रकार के नाटक हो रहे थे। ऐसे हाथी पर सवार होकर इंद्र प्रभु दर्शन के लिए आकाश-मार्ग से चल पड़ा।

दशार्णभद्र ने इंद्र का यह ठाट-बाट देखा तो दंग रह गया। वह सोचने लगाहमैं तो समझता था कि मेरी जैसी संपदा और वैभव है, वैसी संपदा और वैभव के साथ आज तक न तो कोई भगवान के दर्शनार्थ गया है और न कोई जाएगा। पर यह क्या ! इंद्र के ठाट-बाट के समक्ष मेरा ठाट-बाट तो कुछ भी नहीं है। मैं व्यर्थ ही इतराया। लज्जा के मारे वह पृथ्वी में धंसने लगा। यह बहुत स्वाभाविक ही है। जो व्यक्ति जितना अधिक उत्कर्षशील होता है, उसे लज्जा भी उतनी ही अधिक महसूस होती है।

लज्जा की अनुभूति के साथ ही वह विचारने लगा कि अब मैं क्या करूँ! सोचते-सोचते उसके मन में विचार आयाहभौतिक-स्पर्धा से अब मैं इंद्र को जीत सकूँ, यह सर्वथा असंभव है। यह भौतिक स्पर्धा बहुत

बुरी है। मैंने अविचारित काम कर लिया। उसी कारण मुझे शर्मिदा होना पड़ रहा है। अब किसी प्रकार मेरे सम्मान की रक्षा हो सकती है तो उसका एकमात्र उपाय यह है कि मैं प्रदर्शन से दर्शन की ओर मुड़ूं, प्रभु के चरणों की शरण स्वीकार कर लूं, उनके चरणों में मुनिव्रत ग्रहण कर लूं। इस चिंतन के साथ ही उसने अपनी आत्मा को तौला और करबद्ध प्रभु से बोलाह‘भंते! भौतिक स्पर्धा का खेल खेलकर उसका परिणाम मैंने देख लिया। अब मैं आत्म-साधना की दिशा में बढ़ना चाहता हूं, त्याग का पथ स्वीकार करना चाहता हूं। आप मुझे प्रव्रजित कर मेरी संयम-साधना का मार्ग प्रशस्त करें।’

भगवान महावीर ने अनुग्रह किया और वह मुनि बन गया, अकिंचन बन गया। इंद्र उलट-पुलट का यह खेल देखकर आश्चर्यचकित था। दशार्णभद्र के चरणों में झुककर बोलाह‘मुने! आप महान हैं। आपने त्याग का महान आदर्श उपस्थित किया है। भौतिक स्पर्धा में मैंने आपको पराजित अवश्य कर दिया, पर आपके त्याग के समक्ष मैं पराजित हूं, प्रणत हूं। आपकी आशातना के लिए मैं क्षमाप्रार्थी हूं।’

विनय आत्म-धर्म है

देखा आपने त्याग का महत्त्व! त्याग का चमत्कार! एक इंद्र को भी त्याग के सामने झुकना पड़ता है, तब मनुष्य की तो बात ही क्या! हालांकि साधु यह नहीं चाहते कि आप उनके पैरों पर पड़ें। इससे उनका कोई महत्त्व नहीं बढ़ता है। यदि वे ऐसा चाहते हों तो उनकी साधना में कमी आ जाती है। वह तो व्यक्ति की नम्रता है। विनय-नम्रता तो आत्म-धर्म है। साधु-संतों के प्रति विनय-विनम्रता करने से व्यक्ति का अपना ही आत्म-धर्म प्रकट होता है। यह तो व्यक्ति के सोचने की बात है कि वह त्याग का आदर किस प्रकार कर सकता है? मैं मानता हूं कि सारे शरीर में सिर का स्थान सबसे ऊंचा है। वह सब जगह झुक जाए, यह मुश्किल भी लगता है। और आज तो वह माता-पिता के सामने झुकने में भी सकुचाता है। किंतु अगर व्यक्ति त्याग को महत्त्व देता है तो उसे त्यागीजनों के सामने तो सिर झुकाना ही पड़ेगा।

भारत का आदर्श

आप यह बात समझें कि साधुओं के सामने झुकना कोई गुलामी नहीं है। गुलामी तो वह होती है, जब व्यक्ति के कोई भौतिक आकांक्षा

हो। साधुओं के सामने झुकते व्यक्ति की कोई आकांक्षा नहीं होती। अतः यह गुलामी कैसी ? फिर भारत का तो यह सांस्कृतिक मूल्य रहा है कि त्याग वंदनीय है। और रहा ही क्यों, आज भी तो यह मूल्य प्रतिष्ठित है।

यह तो पश्चिम की सभ्यता है कि वह धन और सत्ता को सिर झुकाती रही है। भारत में तो बड़े-बड़े सम्राटों का और ज्ञानियों का सिर भी अकिंचन साधुओं के सामने झुक जाता है, फिर साधारण धनी और ज्ञानी की तो बात ही क्या है! हमारे यहां धन और विद्या से ज्यादा आचार को महत्त्व दिया गया है, त्याग को महत्त्व दिया गया है, संयम को महत्त्व दिया गया है। मैं मानता हूं, जब तक भारत की यह आस्था रहेगी, तब तक यहां की धुरी गलती की ओर नहीं जाएगी। हमें इसकी रक्षा करनी है और आज के अर्थ-प्रधान विश्व को त्याग की ओर झुकाना है, संयम और सदाचार की ओर झुकाना है।

एक प्रश्न आता है कि अगर साधु श्रावकों को अपने पैरों पर झुकाना नहीं चाहते तो दर्शन करने का नियम क्यों दिलाते हैं। पर यहां दर्शन का मतलब हैहसंपर्क। अगर लोग साधुओं का संपर्क करते रहें तो वे उनसे प्रतिदिन जीवन-शुद्धि की प्रेरणा पा सकते हैं। फिर यह तो उलटा तर्क है कि साधु अपने पास ठाट चाहते हैं। उन्हें न तो एकांत से मोह है और न ठाट से। उनके लिए दोनों ही समान हैं। अस्तु, त्याग का यथार्थ मूल्यांकन करते हुए आप त्याग के प्रतीक साधु-संतों के प्रति सदैव विनम्र रहें। इससे सहज रूप से समाज में त्याग की सही प्रतिष्ठा बनी रहेगी। ध्यान रहे, त्याग की प्रतिष्ठा ही भारतीय संस्कृति की प्रतिष्ठा है।

२८ : अपरिग्रह का मूल्य

भगवान महावीर ने अपरिग्रह पर बहुत बल दिया है, बल्कि कहना चाहिए कि सर्वाधिक बल दिया है। इसका कारण ? कारण बहुत स्पष्ट है। दुःख और अशांति का कारण हिंसा है और हिंसा का मूल परिग्रह है। इसलिए जब तक व्यक्ति अपरिग्रह की ओर मुख नहीं करता, तब तक हिंसा से विमुख नहीं हो सकता और जब तक वह हिंसा के विमुख नहीं बनता, तब तक दुःख और अशांति से नहीं छूट सकता। पर जाने कैसी स्थिति है कि लोग यह सच्चाई समझ नहीं रहे हैं, समझने का प्रयास नहीं कर रहे हैं। यही कारण है कि लोगों की अपरिग्रह के स्थान पर परिग्रह में निष्ठा है। वे येन-केन-प्रकारेण अधिक-से-अधिक अर्थ का संग्रह करना चाहते हैं। साधु-संतों को छोड़कर अपरिग्रह में निष्ठा रखनेवाले व्यक्ति खोजने से भी मुश्किल से मिलेंगे।

परिग्रह के प्रति आस्था ने ही संसार में दुःखों का अंबार खड़ा किया है। आज तो स्थिति बहुत विकट है। जिन लोगों ने कल का समाचार-पत्र देखा है, उनसे शायद ही कुछ छिपा रहा हो। इस बार सरकार द्वारा बजट में धनीवर्ग पर भारी कर लगाए गए हैं। हम अणुव्रत के माध्यम से सदैव लोगों को अपरिग्रह की बात समझाते रहे हैं। पर लोगों की समझ में नहीं आई। नहीं आई सो नहीं आई, कुछ लोग तो अणुव्रत-कार्यक्रम का उपहास करते भी नहीं चुकते थे। पर अब अणुव्रत की उपयोगिता स्वयं स्पष्ट हो गई है, इस कार्यक्रम की सार्थकता स्वयं प्रकट हो गई है। जिन लोगों ने अणुव्रत की बात पर ध्यान देकर अपने को अपरिग्रह की दिशा में मोड़ लिया, उनके लिए सरकार का यह कदम चिंता का कारण नहीं है, समस्या नहीं है। चिंता या समस्या उनके लिए है, जिन्होंने अणुव्रत का स्वर सुना-अनसुना करके स्वयं को अधिक-से-अधिक परिग्रही बनाया।

यद्यपि व्यापारी अपने-आपको बहुत होशियार समझते हैं। दो-दो खाते रखते हैं, ताकि वे सरकार को धोखा देकर धन-संग्रह कर सकें। पर सरकारी अफसर उनकी यह तथाकथित होशियारी समझने लगे हैं। उन्होंने बीस-बीस वर्ष पुराने खाते देखने शुरू कर दिए हैं। इससे व्यापारी-वर्ग में एक घबराहट व्याप गई है। वे बचाव के नए-नए उपाय ईजाद करने का प्रयत्न कर रहे हैं। लेकिन वे कब तक बचेंगे? और कदाचित्त बच भी गए तो भी उनके मन में सदा भय बना रहेगा, अशांति बनी रहेगी।

पूँजी : अपरिग्रह : शांति

कोई कहेगा कि पूँजीपति कितने हैं। पर मेरी दृष्टि में पूँजीपति कितने हैं, यह कोई महत्त्वपूर्ण सवाल नहीं है। महत्त्वपूर्ण सवाल तो यह है कि पूँजीपति बनना कौन नहीं चाहता। मैं मानता हूँ, जब तक व्यक्ति में पूँजीपति बनने की चाह मौजूद है, तब तक वह अपरिग्रही नहीं बन सकता। इसलिए अपेक्षा यह है कि व्यक्ति की पूँजीपति बनने की ललक समाप्त हो, वह अर्थ के प्रति अपनी आकांक्षा नियंत्रित करे। सरकार की आंखें पूँजीपतियों पर है। वह जैसे-तैसे उनके अर्थ को बाहर निकालना चाहती है। इसी लिए वह आयकर, व्ययकर, मृत्युकर, संपत्तिकर आदि लगा रही है। और एक अपेक्षा से उसके लिए यह आवश्यक भी हो जाता है। राष्ट्र की विभिन्न अपेक्षाओं और विकास-योजनाओं के लिए उसे धन तो चाहिए ही। कहा जाता है कि चक्रवर्तियों के धन के भंडार भरे रहते थे। पर यह कोई चक्रवर्ती की सरकार तो है नहीं। यह तो जनता द्वारा चुने गए प्रतिनिधियों की सरकार है। दूसरे शब्दों में जनता की ही सरकार है। इसलिए यह तो कर लगाकर ही अपनी व्यवस्था करेगी। खैर, यह अप्रासंगिक बात है। मूल बात है अपरिग्रह का मूल्य समझने की। मैं आप लोगों से कहना चाहता हूँ कि आप लोग हमारे तीर्थंकरों, ऋषि-महर्षियों के उपदेश का हार्द समझकर धन के प्रति अपनी आकांक्षा का सीमाकरण करें; महापरिग्रही न बनें। सरकार विभिन्न तरीकों से आपका परिग्रह नियंत्रित करने का प्रयत्न करे, इसमें आपकी कहां गरिमा है? आपकी गरिमा तो इसी में है कि आप स्वयं अपना परिग्रह नियंत्रित करें। अणुव्रत-आंदोलन, जिसका प्रासंगिक उल्लेख मैंने पूर्व में किया था, परिग्रह को नियंत्रित करने की दिशा में आपका मार्ग-दर्शन करता है।

आप उसके मार्ग-दर्शन में आगे बढ़ें। निश्चित रूप में आपका परिग्रह नियंत्रित होगा, आप अपरिग्रह का रसास्वादन कर सकेंगे। जिस सीमा तक आप अपरिग्रही बन सकेंगे, उस सीमा तक आपका जीवन सुखी, शांत और पवित्र बन सकेगा। अपरिग्रह सुख, शांति और पवित्रता का निर्विकल्प हेतु है।

२९ : शांति का मार्ग

सम्यक दर्शन, ज्ञान और चरित्र यह एक त्रिवेणी है। भगवान महावीर ने इस त्रिवेणी को मुक्ति का मार्ग बतलाया है। इन तीनों में भी सम्यक दर्शन का स्थान प्रमुख है। सम्यक दर्शन से युक्त ज्ञान ही ज्ञान है। सम्यक दर्शन के अभाव में वही ज्ञान अज्ञान माना गया है। *आगम* की भाषा में **हनादंसणिस्सनाणं**।

दर्शन का बोलचाल की भाषा में अर्थ हैह्रश्रद्धा। व्यक्ति की श्रद्धा सम्यक होनी चाहिए। प्रश्न है कि श्रद्धा किसके प्रति। श्रद्धा होनी चाहिएह्रतत्त्व के प्रति। सीधी भाषा में इसका समाधान हैह्रयह श्रद्धा होनी चाहिए देव, गुरु और धर्म के प्रति। देव, गुरु और धर्म के प्रति सम्यक श्रद्धा को मुक्ति का प्रवेश-द्वार कहा जा सकता है। जब तक व्यक्ति की श्रद्धा सम्यक नहीं बनती, वह व्रती नहीं बन सकता, श्रावक और साधु नहीं हो सकता; और बिना पूर्ण व्रती यानी साधु की भूमिका से गुजरे वह मोक्ष तक नहीं पहुंच सकता। इन सब बातों से हम श्रद्धा/दर्शन का महत्त्व समझ सकते हैं।

हालांकि यह सच है कि श्रद्धा के आंख नहीं होती। जब तक श्रद्धा होती है, तब तक श्रद्धेय की कोई बात नहीं खलती। उसकी हर क्रिया व्यक्ति को अच्छी लगती है। लेकिन जैसे ही श्रद्धा डिगी, उसके पैर लड़खड़ाने लगते हैं। वह अच्छी बात को भी बुरी के रूप में देखने लगता है। इसलिए यह अत्यंत आवश्यक है कि श्रद्धा सम्यक के साथ-साथ प्रगाढ़ भी हो। जहां यह प्रगाढ़ता जुड़ जाती है, वहां उसकी गुणात्मकता में बहुत बड़ा अंतर आ जाता है।

हमारे ऋषि-महर्षियों ने श्रद्धा का माहात्म्य मुक्त-कंटों से गाया है। ग्रंथ-ग्रंथ में इसकी गौरव-गाथाएं हमें मिलती हैं। हम दूर क्यों जाएं, गौतम स्वामी की बात ही लें। ज्ञान की दृष्टि से कोई कम ज्ञानी नहीं थे,

तथापि श्रद्धा का उनमें उल्लेखनीय गुण था। भगवान महावीर के प्रति उनके मन में अगाध श्रद्धा थी। जिस बात के बारे में वे स्वयं अपने ज्ञान-बल से जान सकते थे, देख सकते थे, उसके बारे में वे भगवान के मुख से सुनकर, जानकर अनिर्वचनीय आत्मतोष एवं अमित आनंद का अनुभव करते थे। ज्ञानी होने का भी अपना एक आनंद है, पर श्रद्धा के आनंद की बात कुछ विलक्षण ही है! उसे श्रद्धालु का हृदय ही पा सकता है। वहां ज्ञान की पहुंच नहीं है।

आवश्यक सूत्र में श्रद्धा का एक बड़ा ही सुंदर चित्र खींचा गया है। वहां कहा गया है—

**इणमेव निग्गंथं पावयणं सच्चं अणुत्तरं केवलं पडिपुण्णं नेआउयं
संसुद्धं सल्लगतत्तणं सिद्धिमग्गं मुत्तिमग्गं निज्जाणमग्गं निव्वाणमग्गं
अवितहमविसंधि सव्वदुक्खप्पहीणमग्गं इत्थंठिया जीवा सिज्झंति बुज्झंति
मुच्चंति परिनिव्वायंति सव्वदुक्खाणमंतं करेति तं धम्मं सहहामि
पत्तियामि रोएमि फासेमि अणुपालेमि।**

ह (एक उपासक कहता है) यही निर्ग्रथ प्रवचन सत्य है, अनुत्तर है, अद्वितीय है, प्रतिपूर्ण है, मोक्ष तक पहुंचानेवाला है, संशुद्ध है, शल्यों को काटनेवाला है, सिद्धि का मार्ग है, मुक्ति का मार्ग है, मोक्ष का मार्ग है, शांति का मार्ग है, यथार्थ है, अविच्छिन्न है, सब दुःखों का अंत करनेवाला है, इस निर्ग्रथ-प्रवचन में स्थित प्राणी सिद्ध होते हैं, बुद्ध होते हैं, मुक्त होते हैं, परिनिर्वाण को प्राप्त होते हैं, सब दुःखों का अंत करते हैं। मैं इस धर्महनिर्ग्रथ प्रवचन पर श्रद्धा रखता हूं, प्रतीति करता हूं, रुचि लाता हूं, उसका आचरण करता हूं, अनुपालन करता हूं।

यह है श्रद्धा का चरम रूप।

निर्ग्रथ प्रवचन : जैन धर्म

सूत्रों में जैन-धर्म का कहीं भी उल्लेख नहीं आया है। जिसे आज जैन-धर्म कहते हैं, वही आगम-रचना-काल में निर्ग्रथ-प्रवचन कहा जाता था। आखिर तात्पर्य दोनों का एक ही है। जिन का धर्महजैन-धर्म। और जिन वह होता है, जिसने अपना राग-द्वेष जीत लिया है। उसे वीतराग भी कहा जाता है। गुणस्थान की दृष्टि से वीतराग की स्थिति ग्यारहवें से चवदहवें गुणस्थान तक की है। इधर निर्ग्रथ का प्रवचनहनिर्ग्रथ-प्रवचन।

निर्गन्ध यानी जिसने राग और द्वेष की गांठ छेद है। वह ग्यारहवें गुणस्थान से चौदहवें गुणस्थान तक है। भगवान महावीर के लिए अनेक जगहों पर **निर्गन्ध** विशेषण आता है। बौद्ध सूत्रों में उन्हें **नियंद्ठनायपुत्त** कहकर ही बताया गया है। उनका जो शासन होता है, उसे निर्गन्ध-प्रवचन कहें या जैन-धर्म कहें, उसमें स्वरूप-दृष्टि से कोई अंतर नहीं आता।

दंड-व्यवस्था का इतिहास

वीतराग का शासन दंड का शासन नहीं होता। दंड का मतलब है ह्मपरवशता। वह तो स्ववशता का शासन है। इसी लिए उसे आत्मानु-शासन कहते हैं। राजनीति के इतिहास में भी पहले-पहल दंड का शासन नहीं था। एक जमाने में सब लोग स्वतंत्र यानी स्वयं-शासित थे। किसी में बुरा काम करने की प्रेरणा ही नहीं होती थी। धीरे-धीरे दंड-शासन का विकास हुआ।

यह युगलियों का युग था। उन्हें कोई कहनेवाला था ही नहीं, क्योंकि उनका जीवन सहज ही अच्छा था। अतः उन्हें किसी पर क्रोध करने का अवसर ही नहीं आता था। चलते बैल को कौन पीटता है ? अतः अगर वे दूसरों पर अनुशासन करना ही नहीं चाहते तो उन्हें किसी दंड की क्यों आवश्यकता पड़ती ? आज भी लोग यह चाहते हैं कि हम पर कोई अनुशासन न करे। पर स्वयं वे अपने ही अनुशासन में नहीं चलना चाहते। आज की स्थिति ठीक वैसी ही है ह्म

फलं पापस्य नैच्छन्ति, पापं कुर्वन्ति मानवाः।

फलं धर्मस्य चेच्छन्ति, धर्मं नेच्छन्ति मानवाः॥

ह्म मनुष्य पाप का फल नहीं चाहता, पर पाप करता है। वह धर्म का फल चाहता है, पर पाप करना नहीं छोड़ता।

अगर मनुष्य किसी दूसरे का अनुशासन नहीं चाहता, तो स्वयं अपना नियंत्रण करे, आत्मानुशासन करे। फिर उस पर दूसरा कोई शासन करनेवाला नहीं रहेगा। धीरे-धीरे ज्यों-ज्यों युगलियों का युग बीतता गया, त्यों-त्यों अपराध भी क्रमशः बढ़ने लगे। 'हकार', 'मकार' और 'धिक्कार' का दंड-विधान अपराध-विकास की स्थिति को और भी स्पष्ट कर देता है। पहले-पहल अगर कोई गलत काम कर लेता तो उसका इतना ही दंड था ह्म 'हा! तुमने ऐसा काम कर लिया!' बस, इतने मात्र से अपराधी लज्जित हो जाता था और फिर अपराध करने के लिए

सहसा तैयार नहीं होता था। किंतु धीरे-धीरे 'हकार' का दंड शिथिल पड़ने लगा। लोग इसकी परवाह नहीं करने लगे। तब उन्हें अपराध से 'मकार'हमना करने की आवश्यकता पड़ी। कुछ काल तक यह स्थिति चली। पर आगे चलकर इससे भी अपराधों की संख्या-वृद्धि न रुक सकी। तब फिर अपराधी को धिक्कारने की आवश्यकता पड़ने लगी। और आज तो इसका विकास होते-होते स्थिति यहां तक आ पहुंची है कि मनुष्य को कानून के मारे सांस लेने की भी फुरसत नहीं रही! इसके बावजूद अपराधों की संख्या कम हुई है, ऐसा नहीं लगता। इससे यह तथ्य भी स्पष्ट हो जाता है कि कानून से अपराध नहीं रोके जा सकते। इससे तो उलटे दोष उभरते हैं।

बुराइयां क्यों बढ़ रही हैं

प्रश्न हो सकता है कि पहले जब व्यवस्था इतनी सुंदर थी तो आज वह बिगड़ी क्यों। इसका सही उत्तर तो केवली ही दे सकते हैं या फिर अपनी-अपनी आत्मा से ही इसका उत्तर पूछा जा सकता है। मुझे तो इसके तीन कारण नजर आते हैं। हम देख रहे हैं कि आज यहां ही नहीं, अपितु सारे संसार में अपनी-अपनी स्थिति के अनुसार अपराधों में वृद्धि हो रही है। लगता है, काल ही कुछ ऐसा है, जिसके प्रभाव से सारे संसार में से न्याय का हास होता चला जा रहा है। यह स्वभाव है, इसके लिए कोई तर्क नहीं हो सकता। लगता है, प्रत्येक पदार्थ में शक्ति का हास हो रहा है। इसे काल का ही प्रभाव मानना चाहिए। इस दृष्टि से मनुष्य की नैतिक निष्ठा में भी काल का हाथ रहा है, ऐसा मानने में भी कोई बाधा नहीं मालूम पड़ती। एक बात कही जाती है कि नैतिक जीवन के अंकुर यदि नहीं निकलते हैं तो संभव है कि यह उनके बोनेवाले की कमी हो। एक दृष्टि से यह ठीक भी है। आखिर बीज बोनेवाले भी तो उसी वातावरण में रह रहे हैं, जिसमें अन्य लोग रहते हैं। अतः उनकी बात का भी पूरा असर न हो, यह भी संभव है। अन्न में भी आज प्राचीन समय के अन्न की-सी शक्ति नहीं रही है। पहले अन्न पकाया जाता था तो वह दूर तक उछलता था। इतनी दूर तक कि छोटे बच्चों को तो उससे काफी दूर रखना पड़ता था। इसी प्रकार पुरानी मिट्टी में भी आज की अपेक्षा अधिक ताकत होती थी। और तो क्या, मनुष्य भी पुराने जमाने में सबल होते थे। पर आज तो जन्म से ही नीरोग बच्चे

कम पैदा होते हैं। संतानें भी पहले की अपेक्षा ज्यादा होती हैं। वे स्त्रियां, जिनके मुंह से अभी तक कौमार्य भी पूरी तरह दूर नहीं हुआ है, दो-तीन संतानों की मां बन जाती हैं।

पर एक बात और ध्यान में आती है। इसमें अकेले बीज बोनेवाले की ही जिम्मेदारी क्यों है? जिस प्रकार यदि भूमि ऊसर हो तो उसमें बीज चाहे कितने ही अच्छे क्यों न बो दिए जाएं, फिर भी अंकुर नहीं निकलेंगे। इसी प्रकार आज का जन-मानस ही कुछ ऐसा हो गया है कि उस पर बात का असर बहुत कम होता है। अतः अकेला बोनेवाला क्या कर सकता है? भूमि भी तो उपजाऊ होनी चाहिए। गांधीजी ने इस बारे में अथक प्रयत्न किया था, पर वे भी इस प्रयोग में पूर्ण सफल नहीं हो सके। कुछ लोगों ने उनकी बात स्वीकार भी की थी, पर लगता है, आज तो गांधीजी के भक्त कहलानेवाले लोग भी अनैतिकता में किसी से पीछे नहीं हैं। गांधीजी के अभी-अभी आंखों से ओझल होते ही ऐसी स्थिति हो गई है तो आगे उनके भक्तों का न जाने क्या होनेवाला है! वे ही लोग, जो पहले सादगी और सच्चाई का राग अलापा करते थे, आज विलासिता और भ्रष्टाचार में फंसे पड़े हैं। यह काल का नहीं तो और किसका असर है?

दूसरी बात है आज भौतिकता का आवरण संसार पर इतना छा गया है कि मनुष्य अपनी आत्मा की आवाज तो सुन ही नहीं पाता। तीसरी बात है आज त्याग के प्रति लोगों की श्रद्धा दृढ़ नहीं रही है। कहने को तो बहुत-से लोग अपने को आस्तिक मानते हैं, पर वे अपने क्रिया-कलापों से नास्तिकों को भी पीछे बिठाते हैं! धर्म, पाप, स्वर्ग, नरक, आत्मा, परमात्मा में विश्वास करते हुए भी वे धड़ल्ले से पाप करते रहते हैं, अनैतिक आचरण करते रहते हैं!

यह बात मैंने प्रासंगिक तौर पर कही। मेरा मूल प्रतिपाद्य था श्रद्धा। जैसा कि मैंने कहा, तत्त्व के प्रति, देव, गुरु और धर्म के प्रति व्यक्ति की प्रगाढ़ श्रद्धा होनी चाहिए। दूसरे शब्दों में लक्ष्य के प्रति, मार्गदर्शक के प्रति और मार्ग के प्रति दृढ़ आस्था होनी चाहिए। जो व्यक्ति इस दृष्टि से सजग होता है, वह संसार-सागर का पार पा लेता है।

३० : दृष्टि-भेद

दो प्रकार की दृष्टियां

लोक-दृष्टि और तत्त्व-दृष्टि ये दोनों भिन्न-भिन्न तत्त्व हैं। लोक-दृष्टि लोकानुगामी है, जबकि तत्त्व-दृष्टि का लक्ष्य मोक्ष होता है। लोक-दृष्टि का ध्येय होगा कि लोक कैसे आबाद रहे। इससे बिलकुल भिन्न दिशा में तत्त्व-दृष्टि लक्ष्य रहेगा कि मोक्ष कैसे आबाद रहे। तत्त्व-दृष्टि में लोक-स्थिति की चिंता विशेष महत्त्व नहीं रखती। जहां लोक-दृष्टि में विलास और सुविधा दोनों मान्य हैं, वहां तत्त्व-दृष्टि में **देहे दुक्खं महाफलं** का महत्त्व है।

कई बार ऐसा होता है कि बहुत-से लोग उक्त सूक्त के अर्थ का अनर्थ कर देते हैं। अतः इसका अर्थ समझ लेना आवश्यक है। भगवान् महावीर ने कहाह्व'संयम की साधना के बीच शरीर में जो दुःखहृकष्ट उत्पन्न होता है, उसे समभावपूर्वक सहन करना महान फल का कारण है।' हमारे यहां साधना की दो भूमिकाएं रही हैंहृजिकल्प और स्थविरकल्प। जिनकल्पी मुनि कष्टों की उदीरणा करते हैं। यानी कष्टों को जानबूझकर उत्पन्न करते हैं, जबकि स्थविरकल्पी मुनि साधना के मार्ग में सहज रूप से उत्पन्न होनेवाले कष्ट सहन करते हैं। यहां साधु-चर्या में सहज रूप से उत्पन्न होनेवाले भूख, प्यास, सर्दी, गरमी, मच्छर आदि के परीषह सहन करने का दिशा-निर्देश देते हुए कहा गया है कि इन्हें समभावपूर्वक सहन करना महाफलहृमोक्ष का हेतु है।

साधु का काम

इसी लिए तो आचार्य भीखण जी ने कहाह्व'संसार और मोक्ष दोनों के मार्ग अलग-अलग हैं।' पर साथ ही उन्होंने यह भी कहा थाह्व'साधु प्रत्यक्ष में लौकिक कामों की सीधी मनाही नहीं कर सकता।' हजारों विवाह होते हैं। मकान बनते हैं। पाठशालाएं व कॉलेज चलते हैं। पुस्तकालय

खुलते हैं।.....साधु किस-किस की मनाही करेगा? इन सब कार्यों के बिना गृहस्थ जीवन-निर्वाह नहीं कर सकता। पर मोक्ष-दृष्टि में त्याग और साधना का महत्त्व है। साधु-संतों का लक्ष्य मोक्ष प्राप्त करना है, संसार चलाना नहीं। ये दोनों एक कर देना भोग और त्याग को मिलाना है।

इस समय हमारे सामने एक प्रश्न और आता है कि साधु लोक-दृष्टि का निषेध तो नहीं करते, पर वे लोक-दृष्टि के कार्य में सहयोग क्यों नहीं देते। यह तो बहुत सीधी-सी बात है कि जो लोग आरंभ यानी हिंसा के त्यागी हैं, वे इन हिंसक कार्यों का उपदेश कैसे दे सकते हैं? जब उन्होंने सर्व सावद्य कार्य न करने का व्रत ले लिया है, तब वे सावद्य कार्य कैसे कर सकते हैं; उनमें सहयोग कैसे दे सकते हैं? जिस प्रकार दो और दो चार होते हैं, यह गणित स्पष्ट है, उसी प्रकार इन कार्यों में हिंसा तो स्पष्ट है ही। तब वे अपने व्रतों की संभाल करें या सांसारिक कार्यों की?

सुखवाद : तर्क की कसौटी पर

कई लोग यह कहते हैं कि हमें तो मुक्ति और स्वर्ग नहीं चाहिए, हम तो दुखी जनों की सेवा कर सकें, यह हमारा अभीष्ट है।

यह सिद्धांत मनुष्य को सुखवाद की ओर ले जाता है। सुखवाद लोक-दृष्टि की देन है और वह तर्कसंगत भी नहीं है, क्योंकि विभिन्न प्राणियों की सुख की कल्पनाएं अलग-अलग होती हैं। यदि सबको सुख दिया जाए, तृप्त किया जाए तो सिगरेट, चाय और रोटी की इच्छावाले को ये चीजें देना भी क्या धर्म नहीं हो जाएगा? मांस-भक्षी को मांस देना भी क्या धर्म की श्रेणी में नहीं आ जाएगा? इतना ही क्यों, जब प्राणिमात्र को सुख देना धर्म है, तब तो शेर या अन्य जंगली जानवरों को मांस खिलाना भी धर्म क्यों नहीं होगा? अतः ऐकांतिक रूप से ऐसा कहना कि सुखी बनाओहयह सिद्धांत सही नहीं होता। पर किसी को दुखी मत बनाओहयह सिद्धांत सर्वथा शुद्ध है। इसमें किसी को कष्ट नहीं होगा तो सुख अपने-आप हो जाएगा। सुख के लिए व्यक्ति जो कोई काम करता है, यह उसकी अपनी आवश्यकता है। पर उसे मोक्ष का मार्ग क्यों मान लिया जाता है? जो सुख हिंसा से जुड़ा है, उसे मोक्ष-धर्म मान लेना भारी भूल है।

जरूरी है यथार्थ दृष्टिकोण

इसके लिए फिर एक बात आती है कि अगर हम इन्हें धर्म नहीं

कहेंगे तो लोग इन कामों को करेंगे ही नहीं। अतः धर्म के नाम पर लोक-हितकारी कामों को कराना आवश्यक हो जाता है। पर यह भी गलत बात है। जो चीज जैसी है, उसे वैसी ही मानना जरूरी है। बहुत-से लोग अपना कर्तव्य समझकर लौकिक कर्म करते हैं, पर उन्हें करने में धर्म नहीं मानते और यह बिलकुल ठीक है।

जैन-दर्शन में यथार्थ दृष्टिकोण को बहुत मूल्य दिया गया है। एक अपेक्षा से तो सर्वाधिक महत्त्व दिया गया है। जब तक व्यक्ति का दृष्टिकोण सम्यक नहीं बनता, तब तक उसके लिए मोक्ष का दरवाजा बंद रहता है। वह श्रावकाचार और साध्वाचार का पालन नहीं कर सकता। उसका ज्ञान भी अज्ञान ही कहलाता है। दृष्टिकोण का सम्यक्त्व प्राप्त होने के पश्चात उसके लिए ये सारी वर्जनाएं समाप्त हो जाती हैं। वस्तुतः दृष्टिकोण सम्यक बन जाने के पश्चात हिंसा आदि प्रवृत्तियां द्वारा होनेवाले कर्म-बंधन में एक गुणात्मक अंतर आ जाता है। एक हिंसक प्रवृत्ति में जितना बंधन एक मिथ्यादृष्टि करता है, उतना एक सम्यग्दृष्टि नहीं करता। मिथ्यादृष्टि की तुलना में उसका बंधन बहुत हलका होता है। मिथ्या दृष्टि का पाप हमारे यहां सबसे बड़ा पाप माना गया है। इस पाप से सम्यग्दृष्टि व्यक्ति सहजतया बच जाता है। ध्यान देने की बात यह है कि सम्यक दृष्टि व्यक्ति को अपने आवश्यक लौकिक कार्य करने से नहीं रोकती, पर मिथ्या दृष्टि के पाप से अवश्य बचा लेती है। इसलिए हर व्यक्ति को अपना दृष्टिकोण सम्यक रखना चाहिए।

अपने पारिवारिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय दायित्व/कर्तव्य निभाना व्यक्ति के लिए आवश्यक होता है। उनसे संबद्ध बहुत-सी प्रवृत्तियों में हिंसा की संभावना को भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता। पर वह उसे हिंसा ही माने। आवश्यक होने के बहाने उसे अहिंसा या धर्म मानने की भूल न करे। हालांकि लोक-भाषा में उसे भी धर्म कह दिया जाता है, पर वहां धर्म शब्द आत्मशुद्धि के साधन के रूप नहीं, अपितु लौकिक कर्तव्य के रूप में प्रयुक्त है। लोक-दृष्टि सामाजिक और राष्ट्रीय व्यवस्थाओं को मुख्यता देकर जहां धर्म-अधर्म का विभाजन करती है, वहीं तत्त्व-दृष्टि आत्मोज्ज्वलता और आत्ममलिनता के आधार पर यह विभाजन करती है। आपका काम है कि आप ये दोनों दृष्टियां अच्छे ढंग से समझें और अपनी दृष्टि सम्यक रखें।

लाडनूँ

३१ : आगमों की परंपरा

अथं भासइ अरहा, गंथं पुण गणहरा निउणहइस कथन के अनुसार तीर्थकरदेव देशना करते हैं और गणधर-गण उसे संकलित करते हैं। जैसे वर्षा होती है तो वह किसी भूमि की उर्वरता नहीं देखती। वह तो सब जगह एकरस बरसती जाती है, उसी प्रकार तीर्थकर प्रवचन करते जाते हैं। उन्हें उसके उपयोग की कोई चिंता नहीं रहती। उसके उपयोग की बात वे साचेंगे, जिनके लिए वह उपयोगी है। यह काम है गणधरों का। जिस प्रकार कई जगह वर्षा का पानी व्यर्थ नहीं जाने दिया जाता, उसे जलाशय में इकट्ठा कर लिया जाता है, उसी प्रकार गणधर भी भगवान की वाणी संकलित कर लेते हैं; और वे संकलन ही आगमों का रूप लेते हैं। उन्हें गणपिटक भी कहा जाता है। गणपिटक एक मंजूषा के समान है, जिसके अधिकारी अपनी उपस्थिति में तो गणधर होते हैं तथा उनकी अनुपस्थिति में उस पर आचार्य का अधिकार हो जाता है। इसीलिए इसका नाम गणपिटक है। गणी यानी आचार्य। आचार्य का पिटकहगण-पिटक। आचार्य शास्त्रों के ज्ञाता होते हैं, अतः वे उनका मंथन कर लोगों के सामने तथ्य उपस्थित करते रहते हैं। जन-साधारण ज्ञाता न होने के कारण कहीं अर्थ का अनर्थ न कर दे, इसलिए शास्त्रों की कुंजी आचार्य के हाथ में रहती है।

प्रश्न है कि आचार्य स्वयं ही अर्थ का अनर्थ कर दें तो। यह तर्क भी ठीक है। इससे अनर्थ ही नहीं, महान अनर्थ भी हो सकता है। पर यह संभव नहीं है। भला वह मनुष्य जो बांध की रक्षा के लिए नियुक्त किया गया है, क्या कभी स्वयं बांध को तोड़ सकता है? इसमें उसका स्वयं का भी तो भला नहीं है। फिर उसकी रक्षा का भार भी तो उसे ही दिया जाता है, जो योग्य हो। अयोग्य व्यक्ति तो फिर क्या-क्या नहीं कर सकता? अतः आचार्य भी योग्य व्यक्ति को ही बनाया जाता है। आचार्य का सबसे बड़ा काम यही है कि वे भी आचार्य-पद के लिए उत्तराधिकारी

के रूप में योग्य व्यक्ति की नियुक्ति करें। अपने वर्तमान काल में आचार्य कोई महत्वपूर्ण कार्य कर सके हैं या नहीं, अधिक प्रचार कर सके हैं या नहीं, ये उनकी योग्यता की कसौटियां नहीं हैं। योग्यता की सच्ची कसौटी तो यही है कि वे अपने पीछे योग्य उत्तराधिकारी की नियुक्ति करते हैं या नहीं। यदि आचार्य ऐसा नहीं करते हैं तो मानना चाहिए कि वे अपना कर्जा नहीं चुकाते हैं। इसी लिए आचार्य को तब तक चिंता बनी ही रहती है, जब तक वे अपने उत्तराधिकारी का चयन नहीं कर लेते, क्योंकि उसके आधार पर ही तो पीछे लाखों मनुष्यों की नैया तैरती और डगमगाती है। अतः इतनी सावधानी के बाद निर्वाचित होने पर आचार्य पर शंका का कोई स्थान नहीं रह जाता।

वैसे जो आशंका ही करता रहता है, उसके लिए फिर कोई समाधान भी नहीं है, क्योंकि आशंका तो पग-पग पर की जा सकती है। गीता में लिखा है **हसंशयात्मा विनश्यति** हसंशयालु का विनाश हो जाता है। संशयालु यानी त्रिशंकु, जो न इधर का रहा न उधर का। सही ढंग से निर्वाचित आचार्य पर ऐसी शंका करनेवाले पर यह कथन पूरी तरह लागू हो जाता है। समझने की बात यह है कि आचार्य जानबूझकर तो कोई गलत काम करते नहीं। भूल से अगर कोई गलत काम हो जाता है तो उसके लिए शंका नहीं हो सकती। वैसे आशंका करनेवाले किसे छोड़ते हैं? उन्होंने तो भिक्षु स्वामी-जैसे महान आचारसंपन्न आचार्य को भी नहीं छोड़ा। उनका यह कहना 'भीखणजी कोड़ कसायां बीचे ही भारी' क्या उनके निर्मल आचार पर कीचड़ उछालना नहीं है? पर सूर्य के सामने धूल फेंकने से उसका क्या जाता है? उलटी वह फेंकनेवाले की आखों में ही आकर पड़ती है। अतः ऐसे व्यक्तियों की बात पर ज्यादा विचार करने की आवश्यकता नहीं। उनके लिए तो बस यही मान लेना चाहिए कि यह उनका स्वभाव है।

हां, तो मैं *आगमों* की बात कह रहा था। मध्यकाल में *आगम* यतियों के हाथों में रहकर भी सुरक्षित रहे, यह कहना अन्यथा नहीं है, क्योंकि वे लोग यह निश्चित मानते थे कि जान-बूझकर *आगमों* का एक अक्षर भी इधर-उधर करना महापाप है।

लाडनूं

३ मई १९५७

३२ : परदा-प्रथा

मेरे समक्ष बड़ी संख्या में बहिन बैठी हैं। बहिनों में आज भी परदा-प्रथा चालू है। बहिनो! मैं इस विवाद में नहीं पड़ता कि आप परदा रखें या नहीं रखें। यह अपनी-अपनी इच्छा पर निर्भर है। पर इसके गुण-दोष बताना मेरा काम है। अणुव्रत-आंदोलन के प्रारंभ में कुछ बहनों ने समझ लिया कि अणुव्रती बहनें परदा नहीं रख सकतीं। अतः वे घबड़ाई और मेरे पास आईं। मैंने उन्हें समझाया कि अणुव्रत-आंदोलन में ऐसा कोई नियम नहीं है। इससे पता चलता है कि बहनों में अभी कमजोरी है। यह सही है कि इसके पीछे भी कुछ कारण हैं। समाज का भय, परिवार का भय, अपने संबंधियों का भय। फिर वर्षों के संस्कार भी उन्हें परदा नहीं छोड़ने देते।

परदा धर्म-साधना में बाधक है

पर मैं आपसे एक बात कहूंगा। आप यहां धर्म-स्थान में आती हैं। पर किसलिए? इसी लिए न कि यहां आप साधुओं के दर्शन कर सकें, उनका उपदेश सुन सकें। पर यहां आकर भी आपकी आंखों की यह पट्टी नहीं खुली तो मैं समझता हूं, अपने यहां आने का लक्ष्य ही नहीं समझा। उधर पंजाब में यह रिवाज है कि औरतें घर में तो परदा रखती हैं, पर साधुओं के आगे परदा नहीं रखतीं। मैंने उनसे पूछा 'तुम्हारे यहां यह रिवाज कैसे?' उन्होंने कहा 'महाराज! साधु तो सारे संसार के माता-पिता होते हैं। उनके सामने परदा रखने का क्या मतलब! फिर हम यहां उनके दर्शन करने के लिए ही तो आती हैं। यदि यहां आकर भी आंखें बंद रहें तो फिर हम यहां आएंगे ही क्यों?' मुझे लगा कि इनका कहना ठीक है।

आप सामायिक, पौषध आदि करती हैं। उनमें भी आपका यह परदा तो साथ ही रहता है; और उस समय आप चलती-फिरती न हों, यह

बात भी नहीं है। मैं आपसे ही पूछता हूँ कि उस समय आपकी ईर्या-समिति का ध्यान कौन रखता है; क्या उस परदे में से आप कीड़े-मकोड़े अच्छी तरह देख सकती हैं; अगर नहीं तो क्या यह पर्दा आपकी ईर्या-समिति में बाधक नहीं बनता। इसी प्रकार आप दर्शन करने के लिए घर से आती हैं। रास्ते में अगर आप जमीन देखकर चलती हैं तो वह चलना आपके कर्मनाश होने का साधन बन सकता है। पर अगर आप आंखों पर पट्टी रखें तो कर्म कटना तो दूर की बात, उलटा वह चलना कर्म बंधने का निमित्त हो जाता है। अतः इस आध्यात्मिक दृष्टिकोण से मैं आपसे यह कह सकता हूँ कि परदा आपकी धर्म-साधना में बाधक है।

अनेक गलत धारणाओं को जन्म देता है परदा

आपका यह परदा हमारे संबंध में भी अनेक गलत धारणाएं पैदा कर देता है। महाराष्ट्र की यात्रा में मुझे इसका विचित्र अनुभव हुआ। यात्रा में परदेवाली बहनें भी सेवा में थीं। उन्हें देखकर लोगों ने अनुमान लगाया कि आचार्यजी स्वयं औरतों को परदे में रखना चाहते हैं, अन्यथा समाज में जब इनका इतना प्रभाव है तो ये औरतें क्यों परदा रखती हैं। उन्होंने अपना यह अनुमान व्यक्त भी कर दिया। सुनकर मैं दंग रह गया। मेरे सामने दोनों स्थितियां हैं। कहीं तो लोग कहते हैं कि आचार्यजी परदे के विरोध में हैं और कहीं कहते हैं कि आचार्यश्री जान-बूझकर औरतों से परदा रखवाते हैं।

प्रसंग दिल्ली का

दिल्ली में चलनेवाले कार्यक्रमों में अनेक शिक्षित लोगों ने हमारी बहनों के मुंह पर परदा देखकर उसे अच्छा नहीं माना। एक बहिन ने मुझसे कहा कि आप सबसे पहले यही काम हाथ में लें। जब तक बहनों में यह निर्भयता नहीं आ जाती, तब तक आप जो अहिंसा का विकास करना चाहते हैं, वह असंभव है, क्योंकि अहिंसा का सबसे पहला चरण हैहअभय बनना। अतः आप बहनों में अभय की भावना पैदा करने के लिए सबसे पहले इनका परदा उतराइए। इस प्रकार कई तरह के विचार मेरे सामने आते रहते हैं।

परदे का विकृत रूप

परदा रखने का आखिर उद्देश्य क्या है? यही न कि उससे लज्जा ढंकी रहती है। पर लज्जा तो आंखों में रहती है। उसे परदे में बंद कैसे

किया जा सकता है? और आजकल तो इसका इतना विकृत रूप हो गया है कि देखकर शर्म आती है। बहुत-सी बहनें पर्दा रखती तो हैं, पर इतना झीना (महीन) कपड़ा पहनती हैं, जिसमें से मुंह तो क्या, शरीर का एक-एक अंग देखा जा सकता है। यह परदे की विडंबना नहीं तो और क्या है? यदि मोटा कपड़ा रखें तो कुछ भी ठीक से देख नहीं पातीं। कुछ बहनें परदा रखती भी हैं, पर किनसे? केवल अपने संबंधियों व परिचितों से। यदि दूसरी जाति का कोई व्यक्ति आ जाए तो उसके सामने परदे की कोई आवश्यकता नहीं है। मैंने स्वयं बंबई के मार्केट में देखा है कि जो बहनें, अपने-अपने घर में परदा रखती हैं, वे ही वहां खुले मुंह निःसंकोच वस्तुएं खरीद रही हैं। मुझे देखकर वे शरमा गईं और उन्होंने झट परदा कर लिया। मुझे लगाहिन तो बहनें परदा रखना चाहती हैं और न ही वे पूरा रखती हैं, पर समाज के बंधनों के कारण बेमन वह उनकी आंखों पर पड़ा हुआ है। साधारण व्यवहार में भी इससे इतनी बाधाएं आती हैं कि जिनकी कल्पना नहीं की जा सकती।

परदा हटाने का एक लाभ

एक भाई कहते थे कि पहले हमारे घर की औरतों में परदा था। अतः बीमारी की अवस्था में भी वे हमारी पूरी परिचर्या नहीं कर पाती थीं और न हम ही उनकी उचित परिचर्या कर पाते थे। स्थिति तो यहां तक थी कि आपस का कुशल पूछने के लिए भी किसी तीसरे व्यक्ति की आवश्यकता रहती थी। इससे कई दफा अनर्थ भी हो जाया करता था। पर अब हमारे घर में परदा नहीं है। अतः हम आसानी से एक-दूसरे की उचित सेवा कर सकते हैं और लगता है, जैसे जीवन कुछ हलका बन गया है।

हो सकता है कि किसी जमाने में परदा आवश्यक रहा हो। पर आज तो इसके लिए उचित वातावरण नहीं है। बहुत-सी महिलाएं भी इसे नहीं चाहतीं। वे अंदर-ही-अंदर घुटती रहती हैं। किंतु यह युग का प्रवाह है। पुरुष औरतों से परदा रखवाना चाहते हैं। पर मैं उनसे पूछना चाहता हूं कि क्या उन्होंने भी कभी परदा रखकर देखा है कि उससे किस तरह जी घबराने लग जाता है। मुझे लगता है, आज परदा रखना/रखवाना युग की चिंतन-धारा के प्रतिकूल है। भले कुछ समय तक व्यक्ति युग-चिंतन के विरुद्ध चल ले, पर अधिक दिन तक प्रवाह के विरुद्ध नहीं

चला जा सकता। अच्छा हो, इसका रास्ता न रोका जाए। नहीं तो पानी तो कहीं-न-कहीं रास्ता निकालेगा ही। यदि समझदारीपूर्वक पहले ही नाला बना दिया जाए तो उससे सर्वनाश की संभावनाएं नहीं रहेंगी और साथ-ही-साथ उस प्रवाह का अनुचित अपव्यय भी नहीं होगा।

दूसरा पक्ष

परदा रखने में जैसे ये बुराइयां हैं, उसी प्रकार परदा न रखने में कुछ खतरे हैं। उनकी ओर से आंख मूंदना भी उपयुक्त नहीं है। कई बहनें परदा उठा तो देती हैं, पर वे फैशनपरस्ती में पड़ जाती हैं। उन्हें रोज नए-नए कपड़े और नई-नई डिजाइनें चाहिए। तरह-तरह की प्रसाधन सामग्री चाहिए। यह बहुत बुरी बात है। **कुंए से निकलकर खाड़ में पड़ना** कहावत चरितार्थ करने-जैसी बात है। अस्तु, जीवन में जब तक सादगी नहीं आएगी, तब तक परदा उठाने और नहीं उठाने में कोई विशेष अंतर हो, यह नहीं दीखता। इसी प्रकार परदा उठाने का मतलब स्वच्छंद हो जाना भी नहीं है। परदा उठाकर यह मान लिया जाए कि अब तो हम स्वतंत्र हैं, चाहे जैसे घूमें-फिरें, हमें कोई रोकने-टोकनेवाला नहीं है, यह बात भी उलटी बहनों के पतन का कारण बन सकती है। हर चीज की अपनी मर्यादा होती है। उसे तोड़कर काम करना विकास का नहीं, पतन का रास्ता है। अतः इस खतरे से भी बचना आवश्यक है। सारांश यह कि इन बाहरी चीजों की अपेक्षा आंतरिक शुद्धि का महत्त्व अधिक है। बिना आंतरिक शुद्धि के बाहरी चीजें अनेक बार दिग्भ्रमित कर देती हैं। हमारा काम यही है कि हम हर वर्ग को उसकी बुराइयों के प्रति सजग करते रहें। इसी दृष्टि से परदा रखने और न रखने की इन दोनों स्थितियों पर आज मैंने अपने विचार रखे हैं।

लाडनूँ

१४ मई १९५७

३३ : साधु का विहार-क्षेत्र

आर्य क्षेत्र : अनार्य क्षेत्र

जैन-साधुओं के विहार-क्षेत्रों के बारे में *आगमों* में विशद विवेचन आता है। उसके अनुसार साधु अनार्य-क्षेत्रों में नहीं जा सकते या दूसरे शब्दों में वे ही क्षेत्र आर्य हैं, जहां साधु विहार कर सकते हैं।

क्षेत्र की दृष्टि से *पन्नवणा* में साढ़े पचीस देशों को आर्य-क्षेत्र माना गया है। इसका कारण उस समय उन क्षेत्रों में साधुओं को अपने आचार-पालन में अनुकूलता थी। बाकी के क्षेत्रों में उस समय अनुकूलता नहीं होने के कारण वे अनार्य क्षेत्र कहलाए। पर उन्हें त्रैकालिक रूप से आर्य या अनार्य मान लेना उचित नहीं लगता, क्योंकि एक समय में एक क्षेत्र साधुओं के आचार के अनुकूल पड़ता है और उसे आर्य-क्षेत्र कहा जा सकता है, पर दूसरे समय में वह अनुकूल ही हो, यह कोई नियम नहीं है। आज तो साढ़े पचीस देशों की यह समस्या *टेढ़ी खीर* हो गई है। आज न तो उन देशों की पुरानी भौगोलिक सीमाएं ही निश्चित रही हैं और न उनमें बसनेवाले लोगों का आर्यत्व ही। इस स्थिति में किसी देशविशेष को आर्य या अनार्य कैसे कहा जा सकता है?

आर्य और अनार्य क्षेत्र की सीमाएं सापेक्ष हैं

फिर शास्त्रों में यह भी कहा गया है कि जहां ज्ञान-दर्शन-चारित्र की वृद्धि हो, वह क्षेत्र साधुओं का विहार-क्षेत्र है। जहां ज्ञान-दर्शन-चारित्र की वृद्धि नहीं होती हो, वहां साधुओं को नहीं जाना चाहिए। कल ही एक भाई ने पूछाह 'सैद्धांतिक दृष्टि से कलकत्ता आप का विहार-क्षेत्र है या नहीं?' मैंने कहाह 'क्यों नहीं? जहां हमारा आचार सुरक्षित रह सकता हो, वहां हम जा सकते हैं। इस दृष्टि से हमारा कलकत्ता जाना कोई निषिद्ध नहीं है। यदि उत्सर्ग आदि की जगह न हो तो कलकत्ता क्या, मेवाड़ भी हम नहीं जा सकते; और ऐसा होता भी है। कई बार मेवाड़ के

उन ग्रामों में भी स्थानाभाव के कारण चातुर्मास नहीं होते, जहां अच्छी संख्या में श्रावक रहते हैं। अतः आर्य और अनार्य की बात भी सापेक्ष है। उसे किसी ऐकांतिक परिभाषा में बांध देना उचित नहीं जंचता।

असीमित है धर्म का क्षेत्र

मैं कई दफा कह चुका हूँ, धर्म और धर्म-क्षेत्र को किसी सीमाविशेष में बांधना हितकर नहीं है। कच्छ (गुजरात) का एक धर्म-संप्रदाय सीमित क्षेत्र में ही विहार करता है। उसके साधुओं से जब पूछा गया कि आप बाहर क्यों नहीं आते तो उन्होंने बताया कि बाहर साधुपन नहीं पलता। यह उनकी धारणा हो सकती है, पर भगवान महावीर ने यह नहीं कहा। उन्होंने तो कहा है 'जिस प्रकार पाप का आगमन सभी क्षेत्रों में हो सकता है, उसी प्रकार धर्म किसी क्षेत्र में किया जा सकता है।'

सामायिक सर्व क्षेत्र में होती है

सामायिक में एक प्रत्याख्यान किया जाता है 'क्षेत्र थीकी सर्वक्षेत्र।' सर्वक्षेत्र का क्या मतलब? कई लोग समझते हैं वे सामायिक लेने के बाद सभी क्षेत्रों में जा सकते हैं। पर इसका सही मतलब यह नहीं है। इसका मतलब है 'सामायिक का प्रत्याख्यान प्रत्येक क्षेत्र में है। अगर कोई सामायिक लेकर दूसरी जगह चला जाता है या उसे कोई उठाकर दूसरी जगह ले जाए तो भी उसकी सामायिक पूरी नहीं हो जाती है। वहां भी उसकी सामायिक चालू रहती है। इसी प्रकार साधुत्व भी किसी क्षेत्रविशेष में पलता हो, ऐसी बात नहीं है। उसके लिए तो सारा संसार ही उपयुक्त स्थान हो सकता है।

प्रश्न हो सकता है कि फिर शास्त्रों में साढ़े पचीस देशों की सीमा क्यों की गई। इसका उत्तर यह है कि वहां साधुओं को साधुत्व-पालन में सुगमता रहती है। पर इसका मतलब यह नहीं है कि साधु वहीं रहें, जहां उन्हें सुगमता होती है। आप देखें, राजस्थान में साधुओं को कई प्रकार की सुगमताएं रहती हैं। लेकिन फिर भी साधु राजस्थान से बाहर जाते हैं। हां, ऐसा क्षेत्र, जहां साधुत्व-पालन में बाधा हो, वहां साधु नहीं जा सकते।

प्रसंग जैन-रामायण का

जैसा कि मैंने पहले कहा कि अनार्य केवल क्षेत्र नहीं होते। मनुष्य भी अनार्य होते हैं। उन अनार्यों में उपदेश करने के लिए अनेक साधु

उनके क्षेत्रों में गए हैं। भगवान मुनिसुव्रतस्वामी के समय की एक बात जैन-रामायण में आती है। खंदक नामक एक साधु अपने पांच सौ शिष्यों के साथ भगवान के पास गए और उन्होंने अपने बहनोई के देश में जाकर उसे सम्यक धर्म में प्रव्रजित करने की आज्ञा मांगी। भगवान ने कहाह 'वहां तुम्हें भयंकरहमरणांतिक उपद्रव होंगे।' उन्होंने पूछाह 'भंते! वहां जाकर हम संयम के आराधक होंगे या विराधक?' भगवान ने उत्तर दियाह 'तुम्हें छोड़कर शेष पांच सौ शिष्य आराधक होंगे।'

अपने अशेष शिष्यों का कल्याण जानकर उन्होंने भगवान से आज्ञा लेकर उस ओर प्रयाण कर दिया। वहां पहुंचकर वे एक उपवन में ठहरे। उनके आने का संवाद सुनकर राजा को बड़ी खुशी हुई। पर राजा का एक अधिकारी थाहपालक। खंधक जब राजकुमार थे, तब वह उनसे एकबार चर्चा में हारा हुआ था। तबसे उसके मन में खंधक के प्रति विद्वेष भरा पड़ा था। आज खंधक को अपने देश में आया सुनकर उसका सोया हुआ विद्वेष पुनः जग गया और उसने उपवन के आस-पास गुप्त रूप से अपने अस्त्र-शस्त्र गड़वा दिए। समय पाकर उसने राजा से झूठ ही यह कह दियाह 'महाराज! आप अपने साले को अपने देश में आया जानकर खुशी मनाते हैं। पर आपको पता रहना चाहिए कि वह यहां क्यों आया है।' राजा यह सुनकर जिज्ञासित हुआ। उसने अधिकारी से मुनि खंदक के आने का कारण पूछा। बड़ी चतुराई से अपनी बात की भूमिका बनाते हुए उसने कहाह 'शायद आप मेरी बात पर विश्वास नहीं करेंगे। पर एक अधिकारी होने के नाते मुझे आपको सचेत कर देना आवश्यक जान पड़ रहा है कि खंधक जी यहां उपदेश देने नहीं, बल्कि आपका राज्य छीनने के लिए साधुवेष में पांच सौ सुभटों के साथ यहां आए हैं।' सचमुच ही राजा को सहसा उसकी बात पर विश्वास नहीं हुआ। पर पालक के पास पक्के प्रमाण थे। उसने राजा को उपवन के आस-पास गड़े अस्त्र-शस्त्र निकालकर राजा को दिखाए। अब तो राजा को भी विश्वास करना पड़ा। बस, उसने अधिकारी को यह अधिकार दे दिया कि इस संबंध में वह जो चाहो करने के लिए स्वतंत्र हो। पालक को और क्या चाहिए था? उसने वहीं उपवन में ही एक बड़ी घाणी बनवाई और उसमें एक-एक कर पांच सौ साधुओं को पील डाला। यह कथानक और आगे चलता है। पर यहां अप्रासंगिक हो जाएगा। अतः आगे नहीं बढ़ाऊंगा। हमें यहां इतना ही समझना है कि मुनि इस प्रकार के अनार्य

लोगों को भी धर्मोपदेश देने के लिए जाते हैं।

वस्तुतः शास्त्रों में कही गई किसी बात के पीछे कोई-न-कोई विवक्षा जुड़ी हुई है। वह विवक्षा समझे बिना उसका सही-सही अर्थ नहीं पकड़ा जा सकता। इसलिए हर बात के पीछे रही विवक्षा को समझना अत्यंत आवश्यक है। साधु-साध्वियों के विहार-क्षेत्र के संदर्भ में शास्त्रों में जो-कुछ कहा गया है, उसके पीछे रही विवक्षा समझ लेने के पश्चात हमारे सामने कोई उलझन शेष नहीं रहती।

लाडनूं

१८ मार्च १९५७

३५ : धर्म : व्यक्ति और समाज

धर्म जीवन-उत्थान की प्रक्रिया है। वह व्यक्ति-व्यक्ति को कर्तव्य-बोध देता है। व्यक्ति का कर्तव्य है कि वह आत्म-निरीक्षण करे। मैं कौन हूँ, इस बारे में बहुत-से आदमी नहीं जानते। वे समझते हैं, हम जो दीख रहे हैं, वही हम हैं। पर यह तो पुद्गलों और हाड़-मांस का पिंड है। यह जलनेवाला है। आत्मा अजर-अमर है। उसे न कोई काट सकता है और न कोई जला सकता है। इसलिए मनुष्य को पहले सोचना कि मैं कौन हूँ। फिर सोचना है कि मेरा क्या कर्तव्य है। उसे यह समझना चाहिए कि मैं मानव हूँ, मुझमें विवेक है, मैं सत्य और असत्य का भेद कर सकता हूँ, अच्छा और बुरा समझ सकता हूँ। खाना-पीना, भोग-संभोग करना, आराम करना ये मनुष्य के चिह्न नहीं हैं। ये प्रवृत्तियां तो पशु में भी पाई जाती हैं। अगर इसी से मनुष्य अपने को मनुष्य कहता है तो उसमें और पशु में सींग-पूँछ के अलावा और अंतर ही क्या रहा? पर नहीं, मनुष्य में विवेक है, ज्ञान है, पवित्रता है। इसलिए उसे अपने-आपका निर्माण करना चाहिए। अच्छाइयां ग्रहण करते हुए बुराइयां छोड़ते रहना चाहिए।

आज के युग में मनुष्य की बड़ी-बड़ी समस्याएं हैं। वह समस्याओं का पुतला-सा बन गया है। गरीबों की तो समस्या इसलिए है कि उनके पास रोटी के लिए पैसा नहीं है। पर अपार धनराशि के रहते हुए पूंजीपतियों को भी समस्याओं ने घेर रखा है। रात में उन्हें नींद नहीं आती। इस समय वही आदमी बड़ा होगा, जो इस विषमता-भरे युग में अपना गंतव्य-पथ तय कर लेगा। इसके लिए व्यक्ति को सम्यक श्रद्धा से संपन्न होना आवश्यक है।

शास्त्रों में सम्यक दर्शन, सम्यक ज्ञान और सम्यक चारित्र्यये तीन तत्त्व बताए गए हैं। इनमें पहला सम्यक दर्शन है। जानियों ने ज्ञान और चारित्र्य से पहले दर्शनह्रद्धा को स्थान दिया। श्रद्धावान व्यक्ति ही ज्ञान

को प्राप्त करता है। अतः हमें पहले श्रद्धावान बनना चाहिए। आज के मानव ने श्रद्धाशून्य होकर बहुत बड़ा तत्त्व खो दिया है। विद्यार्थियों की अध्यापकों के प्रति आस्था नहीं है; श्रद्धा नहीं है। इसी कारण उन्होंने कलह मोल ले लिया है।

धर्म और धर्मस्थान

बहुत-से लोग, जो धार्मिक कहलाते हैं, मात्र धर्मस्थान में जाने से, मंदिरों की फेरी देने से अपनी धार्मिकता की सार्थकता समझ लेते हैं। पर मेरी दृष्टि में वहां जाने के बाद धार्मिक क्रिया व उसका जीवन में असर ही वास्तविक धार्मिक जीवन कहलाता है। आज तो मानव दूसरे की निंदा, विवाद आदि तथ्यहीन चर्चा में पड़कर धर्म-विहीन-सा होता जा रहा है। उसे झंझटों में न पड़कर दूसरे का वास्तविक गुण ग्रहण करना चाहिए। मंदिर, मस्जिद या और कहीं धर्मार्थ जाना यह कोई विशेष बात नहीं है। जिसकी जिसमें श्रद्धा होती है, वह वहीं जाएगा। उसे रोकनेवाला कौन है?

कई लोग मुझसे पूछते हैं कि क्या मूर्ति-पूजा में आपका विश्वास है। इसका उत्तर बहुत स्पष्ट है कि हमारा मूर्ति-पूजा में विश्वास नहीं है। पर इसका यह अर्थ नहीं कि मैं मंदिर में जाने का विरोध करता हूं। मैं तो यह मानता हूं कि हर व्यक्ति, चाहे वह हिंदू हो या मुसलमान, हरिजन हो या महाजन, मंदिर, गिरजाघर, बाजार, जंगल शहर सभी जगह धर्म कर सकता है। धर्म अमुक स्थान पर ही हो सकता है, यह सर्वथा तथ्यहीन बात है। क्या मंदिर में पाप नहीं किया जाता? जब पाप किया जा सकता है तो धर्म क्यों नहीं किया जा सकता? मुझे इसमें कोई कठिनाई महसूस नहीं होती। मंदिर में जाकर कोई भगवान की भाव-पूजा करे, इसमें कहां आपत्ति है? मैं स्वयं अनेक बार मंदिरों में गया हूं। वहां मैंने भगवान की भाव पूजा की है।

प्रसंग जयपुर का

जयपुर की घटना है। एक दिगंबर मूर्तिपूजक भाई बहुधा प्रवचन सुना करता था। एक दिन वह भाई सुबह-सुबह आया और बोलाह 'आचार्य श्री! आज अभी आपको मंदिर चलना होगा।' मुझे उस समय कुछ आवश्यक कार्य था, अतः मैंने जाने में कठिनाई जताई। पर उस भाई का आग्रह बना रहा। मैंने उसे समझने का प्रयास करते हुए कहाह 'देखो, आज और अभी चलने का आग्रह मत करो, कभी

अनुकूलता हुई तो फिर देखूंगा।’ पर वह नहीं माना, बल्कि उसका आग्रह और बढ़ गया। अंततः उसका तीव्र आग्रह और भावना देखकर मैं मंदिर गया। वहां जाकर मैंने भगवान की भाव स्तुति की, ध्यान किया। जब मैं मंदिर से बाहर आया, तब वह भाई भावविह्वल होता हुआ-सा बोलाह ‘आचार्य जी! आज तो आपने मेरी शान रख ली।’ मैं उसके कथन का आशय नहीं समझ पाया। मैंने पूछाह ‘कैसे?’ उसने कहाह ‘आपके मंदिर आने की बात पर मुझे मेरे साथियों में परस्पर गहरा विवाद हो गया था। उनका कहना था कि आचार्य जी मंदिर के विरोधी हैं, इसलिए वे किसी हालत में मंदिर नहीं आ सकते, जबकि मैंने पूर्ण विश्वास के साथ कहा कि वे मंदिर अवश्य आएंगे। इसी लिए मैंने आपसे इतना आग्रह किया था।’ उसकी बात सुनकर मैंने कहाह ‘यह बात तुमने मुझे पहले ही क्यों नहीं बताई? यदि मुझे इस बात का पता होता तो मैं तत्काल ही मंदिर चलता। इतना आग्रह करने की तुम्हें अपेक्षा ही नहीं पड़ती। मंदिर में जाने मात्र से हमारी मान्यताएं थोड़े कुचली जाती हैं; हमारे विचार थोड़े ही समाप्त हो जाते हैं? वे तो हमारे पास ही रहेंगे।’

जैन-एकता का पंचसूत्री कार्यक्रम

पिछले दिनों मैंने पंचसूत्री कार्यक्रम प्रस्तुत किया था। हालांकि वह कार्यक्रम मुख्य रूप से जैन-एकता को दृष्टिगत रखकर प्रस्तुत किया था, तथापि उसका दायरा इतना व्यापक है कि उसे सांप्रदायिक एकता या सांप्रदायिक सद्भाव की योजना कहा जा सकता है। अगर सभी धर्म-संप्रदाय के लोग, भले वे हिंदू हों या मुसलमान, बौद्ध हों या जैन, उसका सलक्ष्य सजगतापूर्वक पालन करें तो जब-तब, जहां-तहां होनेवाले सांप्रदायिक संघर्षों से किनारा पाया जा सकता है। जैनों को तो उस पंचसूत्री कार्यक्रम को अपनाना ही चाहिए, फिर चाहे वे दिगंबर हों या श्वेतांबर, मूर्तिपूजक हों या अमूर्तिपूजक, स्थानकवासी हों या तेरापंथी। पंचसूत्री कार्यक्रम इस प्रकार हैह

१. मंडनात्मक नीति बरती जाए। अपनी मान्यता का प्रतिपादन किया जाए। दूसरों पर लिखित या मौखिक आक्षेप न किया जाए।

प्रत्येक धर्मावलंबी को यह अधिकार है कि वह अपनी बात दूसरों को बताए। उसे ऐसा करने से कैसे रोका जा सकता है? पर अपने विचारों के फैलाव के लिए दूसरों के विचार कुचलना,

उन्हें तोड़-मरोड़कर विकृत रूप में रखना, मिथ्या लांछन लगाना, अपशब्दों का प्रयोग करना आदि प्रवृत्तियां अनुचित हैं। इनसे बचना बहुत आवश्यक है।

२. दूसरों के विचारों के प्रति सहिष्णुता रखी जाए।

यह बहुत संभव है कि एक संप्रदाय के कुछ विचार दूसरे संप्रदाय के विचारों से न मिलें। इस स्थिति में यह तो कोई आवश्यक नहीं कि व्यक्ति दूसरे संप्रदाय के यथार्थ प्रतीत न होनेवाले विचार स्वीकार करे, पर इतना तो आवश्यक है ही कि वह अपने से विपरीत विचारों के प्रति सहिष्णु रहे। मैं अभी आपसे अपने विचार बता रहा हूँ। यह कोई जरूरी नहीं कि वे आप सबको जचें ही। पर आप शांति से सुन तो लें। यदि जचें तो मानें, अन्यथा मेरे विचार मेरे पास पड़े हैं। मैं नहीं समझता, वह कैसा धार्मिक, जो अपने से भिन्न विचार रखनेवाले को शांतिपूर्वक सुन भी न सके।

३. दूसरे संप्रदायों के साधु-साध्वियों के प्रति घृणा व तिरस्कार की भावना का प्रचार न किया जाए।

४. संप्रदाय-परिवर्तन के लिए दबाव न डाला जाए। स्वेच्छा से कोई व्यक्ति संप्रदाय-परिवर्तन करे तो उसके साथ सामाजिक बहिष्कार आदि के रूप में अवांछनीय व्यवहार न किया जाए।

५. धर्म के सर्वसंप्रदायमान्य सिद्धांतहअहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह को जन-जन-जीवनव्यापी बनाने का सामूहिक प्रयास किया जाए।

पर मुझे लगता है कि अभी तक जैन-समाज में सांप्रदायिक एकता की चेतना पूरी तरह जागी नहीं है। जैन भाइयों को पता होना चाहिए कि हमारा तत्त्व स्याद्वाद है, अनेकांतवाद है। जिस प्रकार दोनों हाथों को आगे-पीछे किए बिना मक्खन नहीं निकलता, उसी प्रकार अगर हमें किसी तत्त्व का नवनीतहसार निकालना है तो संप्रदाय/मत को कड़ा और ढीला करना ही होगा, अन्यथा अभीप्सित उद्देश्य की प्राप्ति नहीं हो सकती।

कल्याण का मार्ग

मैं देखता हूँ, बहुत-से लोग अपनी सांप्रदायिक मान्यतानुसार तीर्थ

यात्रा करने जाते हैं। वे गंगा आदि नदियों में स्नान करते हैं और मन में ऐसा समझते हैं कि हमारे सारे पाप धुल गए। इस संदर्भ में मेरा अभिमत/ चिंतन यह है कि व्यक्ति भले गंगा में स्नान कर ले, भले अन्य किसी तीर्थ में स्नान कर ले या साधु-संतों के पास चला जाए, पर इतने मात्र से कल्याण नहीं हो सकता। फिर कल्याण का मार्ग कौन-सा है? कल्याण का मार्ग हैहत्याग। कल्याण का मार्ग हैहबुराइयों से मुक्त होना। जब तक बुराइयों से विसंबंधन नहीं होता, तब तक कल्याण नहीं हो सकता। इसलिए कल्याण चाहनेवाले हर भाई-बहिन का प्रथम काम यह है कि वह अपने जीवन में व्याप्त एक-एक बुराई को चुन-चुनकर बाहर निकाले। ऐसा करने से एक दिन उसका जीवन स्वयं पवित्र बन जाएगा, उसका कल्याण सुनिश्चित हो जाएगा।

अणुव्रत-आंदोलन जीवन को पवित्र बनाने का उपक्रम है। छोटे-छोटे व्रतों के माध्यम से वह व्यक्ति की संयम और आत्मानुशासन की चेतना को जगाने का प्रयत्न करता है। जहां यह चेतना जाग्रत हो जाती है, वहां व्यक्ति बहुत सहजतया बुराइयों से छूट जाता है। फिर वह शोषण नहीं कर सकता, किसी को धोखा नहीं दे सकता, बेमेल मिलावट करके नहीं बेच सकता, माप-तौल में कमी-बेशी नहीं कर सकता, अनावश्यक संग्रह नहीं कर सकता, जाली हस्ताक्षर नहीं कर सकता। दूसरे शब्दों में हम ऐसा भी कह सकते हैं कि अणुव्रत को स्वीकार करनेवाले व्यक्ति का जीवन प्रामाणिकता, नैतिकता, सत्यनिष्ठा आदि गुण-सुमनों के सौरभ से महक उठता है। वह एक आदर्श नागरिक बन जाता है।

धर्म जीवन-व्यवहार में आए

प्रकारांतर से यह बात इस भाषा में भी कही जा सकती है कि अणुव्रत धर्मशास्त्रों का धार्मिकपन जन-जन के जीवन में प्रतिष्ठित करने का प्रयास है। मेरा मानना है कि धर्मशास्त्रों में लिखी हुई अच्छी-अच्छी बातें तब तक व्यक्ति का कोई हित नहीं साध सकतीं, जब तक कि वे उसके जीवन के व्यवहार और आचरण में न उतर आएँ। इससे भी आगे मैं तो यहां तक कहता हूँ कि धर्मशास्त्रों की अच्छी-अच्छी बातें व्यवहारगत और आचारणगत बनाकर ही व्यक्ति धार्मिक कहलाने का वास्तविक अधिकारी बनता है। जब तक धर्मशास्त्रों का धार्मिकपन जीवनगत नहीं होता, तब तक व्यक्ति भले अपने मन में स्वयं को कुछ भी क्यों न समझे, पर वास्तव

में धार्मिक नहीं है। अणुव्रत को स्वीकार करके व्यक्ति अपनी धार्मिकता को सार्थकता प्रदान कर सकता है।

धर्म आकाश की तरह व्यापक है

यह कैसी विडंबना है कि धर्म को लोग जाति-पांति के बंधनों में बांधने का प्रयास करते हैं! धर्म तो आकाश की तरह व्यापक है, सार्वभौम है। कोई चाहकर भी उसे संकीर्ण सीमाओं में बांध नहीं सकता। जहां ऐसा प्रयास होता है, वहां धर्म मानव-समाज का अपेक्षित हित संपादित नहीं कर सकता। अणुव्रत ने धर्म का सार्वभौम रूप नए सिरे से जन-जन के सामने रखा है। उसमें जाति, वर्ण, वर्ग आदि का कोई भेद नहीं है। जीवन की पवित्रता साधने का इच्छुक हर-एक व्यक्ति, भले वह किसी जाति का हो, किसी वर्ण और वर्ग का हो, उसे बिना किसी रोक-टोक के स्वीकार कर सकता है। इसी प्रकार अणुव्रत में अमीर और गरीब का भी कोई भेद नहीं है। गरीब को भी उसे अपनाते का उतना ही अधिकार है, जितना एक अमीर को। एक शब्द में कहा जाए तो अणुव्रत मानव-धर्म है।

सुधार का राजमार्ग

मैं देख रहा हूँ, आज चारों तरफ सुधार की चर्चा है। लोग समाज-सुधार की चर्चा कर रहे हैं, राष्ट्र-सुधार की चर्चा कर रहे हैं, दुनिया को सुधारने की कल्पना कर रहे हैं। मैं समझता हूँ, सुधार की बात, चाहे वह किसी स्तर पर क्यों न हो, अच्छी है, अनुमोदनीय है। पर एक बात मेरी समझ के बाहर की है कि व्यक्ति-सुधार के बिना समाज सुधार, राष्ट्र-सुधार और विश्व-सुधार की कल्पनाएं साकार कैसे हो सकेंगी। आखिर इन सभी की मौलिक इकाई व्यक्ति ही है। व्यक्ति-व्यक्ति के योग से ही समाज और राष्ट्र बने हैं, दुनिया बनी है। इसलिए व्यक्ति को सुधारना आवश्यक है। व्यक्ति-सुधार के कार्यक्रम के माध्यम से हम समाज-सुधार, राष्ट्र-सुधार और विश्व-सुधार के लक्ष्य तक आगे बढ़ सकते हैं। *अणुव्रत-प्रार्थना* में मैंने कहा है—

सुधरे व्यक्ति समाज व्यक्ति से, उसका असर राष्ट्र पर हो।

जाग उठे जन-जन का मानस, ऐसी जाग्रति घर-घर हो।

‘तुलसी’ सत्य-अहिंसा की जय-विजयध्वजा फहराएं हम॥

आत्म-साधना के सत्पथ में अणुव्रती बन पाएं हम॥

तात्पर्य यह कि सुधार का मूल मंत्र व्यक्ति-सुधार ही है। 'अणुव्रत' व्यक्ति-सुधार का कार्यक्रम है। वह जन-जन को उत्पथ से सत्पथ पर लाने का प्रयत्न है, मानवता के राजपथ पर आगे बढ़ाने का संकल्प है। यह कार्यक्रम जितनी तीव्र गति से आगे बढ़ेगा, स्वस्थ समाज संरचना और उन्नत राष्ट्र की कल्पना उतनी ही तीव्र गति से साकार रूप ले सकेगी। इस क्रम में दुनिया के सुधार की बात स्वयं मूर्त रूप लेने लगेगी। अपेक्षा है, आप लोग अणुव्रत का दर्शन समझें, उसे हृदयंगम करें और संकल्प के स्तर पर उसकी आचार-संहिता स्वीकार करें। यह स्वीकरण आपके वर्तमान को सुख और शांति से जीने का आधार देगा, आपका भविष्य संवारेगा। आप अपने जीवन की सार्थकता को प्राप्त होंगे।

लाडनूँ

१८ मई, १९५७

३५ : अवधान विद्या

अवधान विद्या भारतीय ऋषि-महर्षियों की एक महान देन है। आज यह लोगों को चामत्कारिक लगती है, पर गंभीरता से ध्यान दिया जाए तो भारतीय ज्ञान-विज्ञान का भंडार ऐसी अनेक विद्याओं से भरा पड़ा है। लेकिन कठिनाई यही है कि लोग उस ओर बहुत कम ध्यान देते हैं। अपेक्षा है कि भारतीय प्राचीन विद्याओं का गंभीर अध्ययन, शोध और अनुशीलन हो।

अवधानकार यह न सोचे कि मैंने सैकड़ों-सैकड़ों लोगों को चमत्कृत कर दिया। वह इस भाषा में भी न सोचे कि मैं इस विद्या में पूर्ण पारंगत हो गया हूँ। यदि वह इस भाषा में सोचने लगेगा तो उसकी प्रगति अवरुद्ध हो जाएगी। वह यह बात समझे कि विकास का अवकाश आगे से आगे बना रहता है। इसलिए उसे सदैव विद्यार्थी बनकर रहना चाहिए।

अभी आपने अवधान के कुछ प्रयोग देखे। अवधानकार को बहुत बड़ी साधना करनी पड़ती है। आप पूछेंगे कि कैसी साधना। साधना यही कि उसे अपने मन व अन्य शक्तियों पर अपना नियंत्रण रखना होता है। एक शब्द में कहूँ तो उसे आत्मानुशासी बनना होता है। आप चाहें तो स्वयं भी इस विद्या में पारंगत हो सकते हैं। पर होंगे तभी, जब आप भी आत्मानुशासी बनने की साधना करेंगे। ब्रह्मचर्य का पालन करना भी इस प्राप्ति के लिए अत्यावश्यक है।

अणुव्रत-पथ अपनाएं

इस अवसर पर मैं एक बात आप लोगों से विशेष रूप से कहना चाहता हूँ। आप भले महाव्रतों की साधना नहीं कर सकते, पर अणुव्रती तो अवश्य बनें। अणुव्रती बनने का अर्थ है कि अच्छा मानव बनना, मानवोचित गुणों से अपना जीवन सजाना-संवारना। 'अणुव्रत' समाज के विभिन्न वर्गों में व्याप्त बुराइयां मिटाकर उसे स्वस्थ बनाना चाहता है। इसलिए वह प्रत्येक वर्ग में अपना कार्य कर रहा है। अध्यापक-वर्ग और

विद्यार्थी वर्गहिये समाज के दो प्रमुख और महत्त्वपूर्ण घटक हैं। मैं मानता हूं, यदि ये दो वर्ग अणुव्रत को अपना लें तो स्वस्थ समाज निर्माण का आधा काम हलका हो सकता है। इसी लिए मैंने इन दोनों वर्गों पर अपना विशेष ध्यान केंद्रित किया है। हालांकि मैं अपने उद्देश्य में कितना सफल हो पाता हूं, यह तो इन दोनों वर्गों के सहयोग पर निर्भर करता है, तथापि इतना सुनिश्चित है कि इन दोनों वर्गों का सही निर्माण हुए बिना समाज का नव-निर्माण नहीं हो सकता। अपेक्षा है, विद्यार्थी और अध्यापक इसे निकटता से देखें, परखें और यदि उन्हें यह जीवनोपयोगी लगे तो इसे स्वीकार करें। इससे उनका स्वयं का जीवन तो निर्मित होगा ही, वे दूसरों के लिए भी प्रेरणास्रोत बन सकेंगे। यही बात कमो-बेश दूसरे-दूसरे वर्गों के लिए भी है। मैं आशा करता हूं, लोग मेरी भावना को सफल बनाएं।

लाडनूं

१९ मई १९५७

३६ : अहिंसा सार्वभौम सत्य है

संसार में जितने भी धर्मप्रवर्तक और महान आत्माएं हुई हैं, उन्होंने अहिंसा का उपदेश दिया है; उसे सर्वोच्च जीवन-मूल्य के रूप में स्वीकार किया है। दूसरे शब्दों में कहा जाए तो अहिंसा सार्वभौम सत्य है, शाश्वत सत्य है, धर्म का सार है और इस जगती का आधार है। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति को अहिंसा का मूल्य समझना चाहिए। उसे यह कदापि नहीं भूलना चाहिए कि जैसी पीड़ा मुझे होती है, वैसी ही पीड़ा दूसरों को होती है। अतः किसी प्राणी को संकल्पपूर्वक पीड़ा पहुंचाना अनुचित है, धर्म के विपरीत आचरण है।

प्रसंग संत नामदेव का

प्रसिद्ध संत नामदेव के बचपन का एक घटना-प्रसंग है। उनकी माता ने उन्हें एक कुल्हाड़ी दी और पलास का वृक्ष काटने के लिए कहा। नामदेव ने कुल्हाड़ी ले ली और पलास वृक्ष के पास पहुंच गए। पर यह क्या! उन्होंने कुल्हाड़ी वृक्ष पर न चलाकर अपने पर चला ली। परिणाम तो जो होना था, वही हुआ। खून की धारा बह चली। धोती लाल हो गई। वे दर्द से कराह उठे। मां के पूछने पर बोलेह 'वृक्ष को काटने से उसे पीड़ा होती है या नहीं, और होती है तो कितनी होती है, यह जांचने-परखने के लिए मैंने यह परीक्षण किया है।' आगे चलकर ये ही नामदेव अहिंसा के महान चिंतक और प्रचारक बने।

कहने का तात्पर्य यही है कि हर-एक प्राणी में आत्मा है, सबको समान रूप से पीड़ा और दुःख होता है। हालांकि एक गृहस्थ की भूमिका में हिंसा से सर्वथा उपरत होना किसी व्यक्ति के लिए संभव नहीं है, तथापि अनावश्यक हिंसा से तो वह आसानी से बच ही सकता है। और बच ही क्यों सकता है, उसे सलक्ष्य बचना ही चाहिए।

बंधुओ! मैं इस तथ्य से सुपरिचित हूँ कि गृहस्थ की अपनी कुछ

जिम्मेदारियां होती हैं, इसलिए वह साधु-संतों की तरह आध्यात्मिक साधना नहीं कर सकता, चाहकर भी नहीं कर सकता। पर इसका अर्थ यह भी नहीं कि वह बिलकुल भी साधना नहीं कर सकता। यदि वह चाहे तो इस दिशा में बहुत-कुछ कर सकता है। बस, अपेक्षा इतनी-सी है कि वह सांसारिक कार्यों के प्रति अपनी आसक्ति कम करे और एक सीमा तक आत्मसाधना में समय का नियोजन करे। कविवर तुलसीदासजी के लिए कहा जाता है कि वे संत बनने से पूर्व सांसारिक भोगों में बहुत रचे-रचे थे। पत्नी के प्रति उनके मन में प्रगाढ़ आसक्ति थी। उनकी इस मनःस्थिति पर व्यंग्यात्मक प्रहार करते हुए एक दिन उनकी पत्नी ने कहा 'जितना प्रेम आप मुझसे करते हैं, उतना प्रेम यदि भगवान से करते तो आप का कल्याण न हो जाता!' पत्नी के इन शब्दों ने उनका हृदय बींध दिया। परिणामतः वे सांसारिक भोगों से विरक्त होकर संत बन गए, साधना की अलख जगाने लगे। बंधुओ! मैं आपको व्यंग्यात्मक भाषा में तो कुछ नहीं कहना चाहता, पर सीधी-साधी भाषा में यह अवश्य कहना चाहता हूँ कि गृहस्थ की भूमिका में रहते हुए भी आप आत्म-साधना को जीवन का एक हिस्सा बनाएं। यदि आप अपने जीवन की दिशा जरा-सी मोड़ देते हैं तो आपके जीवन में एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन घटित होगा। आप आत्मिक सुख और शांति की अनुभूति कर सकेंगे। आपके कल्याण का मार्ग प्रशस्त हो जाएगा।

लाडनूँ

२० मई १९५७

३७ : मोक्ष का अर्थ

आत्माएं दो प्रकार की होती हैं—संसारि और सिद्ध। संसारि आत्माएं संसार में जन्म-मरण के रूप में परिभ्रमण से मुक्त होती हैं। एक बार मुक्त हो जाने के पश्चात् वे पुनः संसार में नहीं आतीं। हालांकि कई लोग यह मानते हैं कि मुक्त होने के बाद भी आत्मा को पुनः संसार में आना पड़ता है। पर यह सही नहीं है, क्योंकि मुक्त होने के बाद उसके संसार में आने का कोई कारण ही नहीं रह जाता। आत्मा को संसार-भ्रमण तो कर्मों के कारण करना पड़ता है और मुक्त आत्माएं कर्मों से सर्वथा मुक्त हो जाती हैं। ऐसी स्थिति में वे संसार में आए ही क्यों? कई लोग कहते हैं—**गत्वाऽगच्छन्ति भूयोपि भवं तीर्थनिकारतः।** यानी तीर्थ का जब हास हो जाता है, तब मुक्त आत्माओं के मन में क्षोभ पैदा हो जाता है। अतः तीर्थ-प्रतिष्ठापन के लिए उन्हें संसार में पुनः-पुनः आना पड़ता है। पर यहां समझने की बात यह है कि क्षोभ तो मनुष्यों को होता है। उनमें भी जो विशिष्ट मनुष्य होते हैं, उन्हें क्षोभ कम होता है। तब फिर राग-द्वेष-विजेता मुक्त आत्माओं को क्षोभ कैसा? इसी लिए *गीता* में कहा गया है—**यद् गत्वा न निवर्तन्ते, तद् धामं परमं मतः**—जहां जाकर पुनः नहीं आना पड़े, ऐसा है मेरा स्थान। इससे स्पष्ट है कि मुक्त आत्माएं पुनः संसार में नहीं आतीं।

अवतारवाद : एक विमर्श

प्रश्न हो सकता है कि तब क्या अवतारवाद निष्फल हो जाएगा; यदि अवतारवाद असत्य है तो *गीता* के इन श्लोकों का क्या अर्थ होगा—

- यदा यदा हि धर्मस्य, ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानाय धर्मस्य, तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
- परित्राणाय साधूनां, विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्म-संस्थापनार्थाय, संभवामि युगे-युगे॥

यह सत्य है कि समय-समय पर अंधकार में एक प्रगतिशील आत्मा आती है। भगवान महावीर की आत्मा भी एक ऐसी ही आत्मा थी। और भी अनेक ऋषि-महर्षियों ने समय-समय पर संसार को प्रकाश दिया है। पर जब हम यह स्पष्ट देखते हैं कि वे साधारण मनुष्यों के घरों में ही पैदा हुए और पले-पुसे, तब यह क्यों माना जाए कि वे मुक्ति से ही आए थे? उनके मोक्ष से आने का क्या कारण हो सकता है? आज भी अनेक ऐसी आत्माएं हैं, जो शीघ्र ही मुक्त होनेवाली हैं और वे इस क्षेत्र में ही काम करती हैं। पर इसका मतलब यह नहीं हो जाता कि हम अवतारवाद को मानें ही।

यदि मुक्त होने पर वापस आना ही पड़े तो इस कठोर तपस्या का क्या फल होगा? फिर साधना ही क्यों की जाए? यदि वास्तव में वहां से वापस आना ही पड़े तो वहां जाना ही क्यों? मोक्ष का अर्थ हैह्रपूर्ण बंधन-मुक्तिया पूर्ण आत्म-विकास। वह यदि पूर्ण हो गया तो वापस आने का कारण ही क्या रह जाएगा?

ईश्वर-कर्तृत्व : यथार्थ की कसौटी

कुछ लोग ईश्वर को संसार का कर्ता-हर्ता मानते हैं। पर यदि वही सबका कर्ता-हर्ता है तो हम पुरुषार्थ करें ही क्यों? किसान खेती क्यों करे? हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि प्रत्येक मनुष्य अपने काम में संलग्न है। फिर हम यह क्यों मानें कि हमारे सारे कर्मों का कर्ता ईश्वर ही है? वास्तव में हर बात की कर्ता-हर्ता हमारी आत्मा ही है। हम अगर अच्छे काम करेंगे तो हमें उनका अच्छा फल मिलेगा। इसके विपरीत हम अगर बुरे काम करेंगे तो हमें उनका बुरा फल मिलेगा। फिर बात-बात में ईश्वर को बीच में लाने का क्या अर्थ रह जाता है?

आज भी संसार में ईश्वरवाद को माननेवालों की संख्या ज्यादा है। इसका क्या कारण है? मेरी समझ में इसका यही कारण हो सकता है कि विद्वानों ने सोचाह्रहम जो काम करते हैं, उसमें घमंड न आ जाए। अतः उन्होंने अपनी सारी कृतियां ईश्वर को अर्पित कर दीं। साधारणतया जब किसी से पूछा जाता है कि यह मकान किसका है तो उसका उत्तर होता है कि यह आपका ही मकान है। प्रश्न है कि ऐसी स्थिति में क्या वास्तव में ही वह मकान प्रश्नकर्ता का हो जाता है। इसी प्रकार यदि किसी ने कोई काम किया हो और उससे पूछा जाए कि क्या यह काम

आपने किया तो उसका बहुत संभावित उत्तर यही होगा, नहीं, मैंने नहीं किया, यह तो आपने ही किया है। स्वकृत काम पर से अपना ममत्व हटाने के लिए ही शायद ईश्वर-कर्तृत्ववाद को स्वीकार किया गया हो, पर आज तो इसका रूप ही बदल गया है।

ईश्वर की उपासना का उद्देश्य

यद्यपि ईश्वर सर्वज्ञ है, वह सब-कुछ जानता है, पर जगत के इस प्रपंच में वह नहीं पड़ता। जैनों और बौद्धों ने ईश्वर-कर्तृत्व का खंडन करके एक बहुत बड़ी क्रांति की। इसी लिए श्रमण-संस्कृति का घोष हैह पुरुषार्थवाद। ईश्वरकर्तृत्व मानने का अर्थ हैहश्रम पर प्रहार।

अब प्रश्न होता है कि यदि ईश्वर हमें सुखी नहीं बनाता है तो हम ईश्वर का स्मरण क्यों करते हैं। यदि हम सुखी होने के लिए ही ईश्वर का स्मरण करते हैं तो यह तो उसके साथ सौदा है। हम उसका स्मरण करें, अर्घ्य चढ़ाएं और वह हम पर खुश हो, हमें धन देहयह सौदा नहीं तो और क्या है? हम तो उसकी उपासना इसलिए करते हैं, ताकि हमारा मन टिका रहे। ईश्वर तो एक प्रकार से मेढ़ी है। जिस प्रकार मेढ़ी बैलों को अपने चारों ओर घुमाने में सहायक है, पर चलाती नहीं, उसी प्रकार हमारा चंचल मन वहां स्थिरता प्राप्त कर सके, यही हमारे ईश्वर-स्मरण का उद्देश्य है। ईश्वर के स्वरूप-चिंतन के सहारे हम भी वे गुण प्राप्त कर सकें, यही उसकी उपासना का लक्ष्य होता है।

यदि हम किसी भौतिक प्राप्ति के लिए ईश्वर का स्मरण करते हैं तो उसकी अप्राप्ति पर हमें उस पर क्षोभ हुए बिना नहीं रहेगा; और ऐसा होता भी है। बहुधा यह देखा जाता है कि बहुत-से लोग अपने यथेप्सित की प्राप्ति न होने पर ईश्वर को कोसने लगते हैं। हाय राम! तुमसे मेरा सुख देखा नहीं गया! तुमने मेरे साथ बुरा किया! तुमने मेरे बेटे को उठा लिया! आदि-आदि वाक्य क्या सचमुच ही ईश्वर पर लांछन नहीं हैं?

घटना बंबई की

बंबई में एक भाई मेरे पास आया। मैंने उससे पूछाह'क्यों भाई! कभी ईश्वर का भजन करते हो?' उसने कहाह'महाराज! पहले तो बहुत किया था।' मैंने कहाह'पहले किया था, इसका मतलब यह है कि अब नहीं करते हो।' उसने कहाह'हां।' मैंने पूछाह'क्यों?' वह बोलाह'पहले

मैंने ईश्वर का बहुत स्मरण किया था, पर उसने मेरी एक नहीं सुनी। तबसे मैंने भी उसकी उपासना करनी छोड़ दी। लगता है, ईश्वर साला गुंडा है।' अब आप समझ गए होंगे कि ईश्वर का कर्तव्य मानने से ही ऐसी गालियां ईश्वर के पल्ले पड़ती हैं। नहीं तो भला उस पवित्र आत्मा को क्यों गालियां पड़ती!

क्या जैन नास्तिक हैं

ईश्वर का कर्तव्य नहीं मानने के कारण ही बहुत-से लोग जैनों को नास्तिक कह देते हैं। पर यह हम यह प्रत्यक्ष देखते हैं कि कुंभकार घड़े बनाता है, कृषिकार खेती करता है, बढ़ई काठ का सामान बनाता है। और भी सृष्टि में जितने काम हैं, उनमें से प्रत्येक को करनेवाला कोई-न-कोई जरूर है। ऐसी स्थिति में हमें यह क्यों मानना चाहिए कि ईश्वर ही संसार का कर्ता है? संसार का कर्ता स्वयं प्राणी है। वही अपना संसार रचता है।

लाडनूँ

२१ मई १९५७

३८ : पहल कौन करे

मानव! जरा आंखें खोलकर तो देखो कि आज तुम्हारी स्थिति क्या हो गई है। जान-बूझकर क्यों अंधे बनते हो भले मानुष? क्या तुम्हें माता, पिता और पुत्र की वह कहानी याद नहीं? माता-पिता और पुत्र तीनों जा रहे थे। पुत्र के मन में सहसा विचार आयाहऐसा न हो, पर कभी हो भी सकता है कि हम अपने छोटे-से परिवार के सारे-के-सारे प्राणी अंधे हो जाएं। क्या होगा उस समय! कौन आएगा हमारा सहयोग करने! अतः भविष्य की बात पहले सोचनी चाहिए और आपत्ति सहन करने के लिए हमें पहले ही तैयारी कर लेनी चाहिए। उसने अपनी बात प्रस्ताव के रूप में माता-पिता के सामने रखी। उन्हें भी उसकी बात जंच गई। बस, तीनों ने अपने हाथ में लकड़ी ले ली और रास्ता टटोल-टटोलकर चलने लगे। वह भूमि जिस पर वे चल रहे थे, सोने की खदान-भूमि थी। चारों ओर सोने के ढेर लगे पड़े थे। पर वहां देखता कौन? थोड़ी दूर चले और वहां तक चले, जहां तक खदान की सीमा पूरी हो रही थी। पुत्र खुशी से उछल पड़ा। बोलाह'बस, पिताजी! अब आंखें खोल लीजिए। पूरा हो गया हमारा अभ्यास। हमारा परीक्षण सही निकला। इतनी दूर चलकर हमने देख लिया कि ऐसे संकट के समय में भी अपना काम चला सकते हैं।' तीनों आंखें खोलकर चलते गए। पर अब क्या था? जो अवसर चूक गए, सो तो चूक ही गए। भले ही उन्हें यह ज्ञान न हो कि वे सोने की खदान पीछे छोड़कर आ रहे हैं, भले ही वे अपनी सफलता पर फूले न समाते हों, पर जो कोई उनकी कहानी सुनेगा, वह उन पर हंसे बिना नहीं रहेगा।

शायद तुम भी उनकी मूर्खता पर हंसे बिना नहीं रहे होगे। पर दूसरों पर हंसना सहज है भाई! तुम अपनी देखो। तुम भी तो वही अभिनय कर रहे हो ना आज। क्या कभी तुमने अपने दैनिक कार्यक्रम की तरफ आंख उठाई है? तुम्हें भी कहीं 'पोजीशन' का रोग तो नहीं हो

गया है? दूसरे को अपने ऊंट को फिटकरी देते देख कहीं तुम भी अपने ऊंट को पानी तो नहीं पिला रहे हो, ताकि वह भी गड़गड़ाहट तो उसी प्रकार कर सके? फिटकरी नहीं तो क्या, पानी ही सही। पर गड़गड़ाहट तो वैसी ही होनी चाहिए। दूसरों के बढ़ा हुआ देखकर क्या तुम भी उनकी बराबरी करने की नहीं सोचते? तब बताओ कि तुम्हें उन पर हंसने का क्या अधिकार है।

हां, तुम भी जानने तो सब-कुछ लगे हो। देखते हो कि यह 'पोजीशन' की होड़ बुरी है। पर प्रश्न है कि पहल कौन करे; म्याऊं के मुंह पर कौन चढ़े। पर जरा गहराई से सोचो कि इस होड़ में क्या धरा है।

३९ : कविता कैसी हो

कविता कवि का सहज धर्म है। कवि के हृदय की अनुभूतियां और संवेदनाएं जब विचारों के रूप में ढलती हैं, तब कविता बनती है और वही साहित्य बनती है। ऐसी कविता ही दूसरों के अंतस्थल को छूनेवाली सिद्ध होती है। जहां कविता में यह गुणात्मकता नहीं होती, वहां उसमें जीवंतता के दर्शन नहीं होते। उसके स्वर दूसरों के हृदय तक नहीं पहुंच पाते, कानों तक ही रह जाते हैं। इसलिए कविता अनुभूति एवं संवेदना-प्रधान होनी चाहिए। दूसरी बात है कविता शब्दाडंबरों से रहित होनी चाहिए। पर आज हम कवियों को बिलकुल इसके विपरीत पाते हैं। अधिक कविताएं ऐसी देखने में आती हैं, जिनमें अनुभूति और संवेदना का पक्ष बहुत कमजोर मिलता है। शब्दों की जोड़-तोड़ ही अधिक होती है। भगवान महावीर-जैसे महापुरुषों ने जिस विचार का प्रचार किया, वह आज हमारे लिए सबसे ऊंचा साहित्य है। इसका कारण? कारण यही कि उनके विचार अनुभूतिप्रधान थे, संवेदनाप्रधान थे। उसमें उनके हृदय की भावना व्यक्त हुई है। मैं मानता हूं, आज ऐसे ही साहित्य की सर्वाधिक जरूरत है।

हमारे साधु-साध्वियां इस क्षेत्र में अच्छी गति कर रहे हैं, यह मेरे लिए तोष का विषय है। मेरा यह बहुत स्पष्ट चिंतन और लक्ष्य है कि विकास सर्वांगीण होना चाहिए। एकांगी विकास लाभ की अपेक्षा हानि ही अधिक पहुंचाता है। साधु-साध्वियां इस दृष्टि से सजग हैं, यह बहुत शुभ बात है। जिन-जिन क्षेत्रों में अभी तक गति शुरू नहीं हुई है, उन-उन क्षेत्रों में भी उन्हें गति पकड़नी है, यह लक्ष्य उनके सामने स्पष्ट रहना चाहिए।

लाडनूं

२३ मई १९५७

४० : श्रम और संयम

जीवन के दो पहलू होते हैं। पहला विचार और दूसरा आचार। दूसरे शब्दों में पहला ज्ञान और दूसरा क्रिया। आध्यात्मिक जीवन के लिए इन दोनों का होना आवश्यक है। इसी लिए शास्त्रों में कहा गया है **ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षः।** पुराने जमाने में शिक्षा-केंद्र गुरुकुलों के रूप में होते थे। उनका लक्ष्य यही रहता था कि छात्रों को ज्ञान और क्रिया की शिक्षा मिले। पर आजकल तो शिक्षण-केंद्रों का लक्ष्य यह न रहकर केवल देश की बेकारी दूर करना रह गया है। बेकारी की समस्या तो सामयिक है। आज यह समस्या है, पर हो सकता है कि कल इसका नाम-निशान भी न रहे। अतः यह तो शिक्षा का एक अंग है। यह मुख्य ध्येय नहीं हो सकता। शिक्षा का मुख्य ध्येय होना चाहिए जीवन की आध्यात्मिक उन्नति। परंतु आध्यात्मिक उन्नति का मतलब केवल उपासना करना नहीं है। उसका अर्थ है कषाय-मुक्त, सादा और सात्त्विक जीवन-यापन। वही जीवन उंचा है, जिसमें कषाय की क्षीणता ज्यादा-से-ज्यादा हो, जो सादा और सात्त्विक विचारों से ओतप्रोत हो। हमारे शास्त्रों में कहा गया है वह विद्या अविद्या है, जिसमें आत्म-ज्ञान और धर्म को स्थान न हो।

हां, एक बात यह भी ध्यान रखने की है कि धर्म केवल रूढ़ि न बन जाए। यदि वह रूढ़ि का रूप धारण कर लेगा तो उसमें भी अस्थिरता आ जाएगी। आज जो श्रद्धा है, वह कल न रहेगी। अतः यह आवश्यक है कि धर्म जीवन में पूर्ण श्रद्धा व सोच-विचारपूर्वक उतारा जाए।

आज अनेक कार्य-पद्धतियां संसार में चल रही हैं। एक पद्धति कहती है 'श्रम ही जीवन है।' इधर अणुव्रत का यह घोष है 'संयम ही जीवन है।' इस घोष के पीछे का चिंतन यह है कि श्रम में यदि संयम नहीं है, तो वह गलत बात होगी। श्रम तो पशु और पागल व्यक्ति भी करते हैं। पर उनके श्रम का क्या मूल्य है! एक आदमी केवल बोलने में

बहुत श्रम करता है। पर संयम की बात भुला देता है। परिणाम क्या होता है? वह अनर्गल बोल जाता है। इसकी परिणति यह निकलती है कि वह लोगों का कोपभाजन बन जाता है। लोग उसकी बात सुनते तक नहीं। उसे बीच में ही टोकाटोकी के बीच बैठना पड़ता है। इसलिए श्रम के साथ संयम की अनिवार्य अपेक्षा है। इसी प्रकार संयम के साथ भी श्रम का होना जरूरी है। संयम यदि श्रमरहित है तो वह भी गलत है। आप देखते ही हैं हमारे साधु-साध्वियां कितना श्रम करते हैं। यह संयम के साथ श्रम के योग का निदर्शन है। मैं चाहता हूं, समाज में संयम और श्रम के समन्वित रूप का मूल्य प्रतिष्ठित हो। यह भारतीय संस्कृति के अनुकूल है, श्रमण-संस्कृति के अनुकूल है।

लाडनूं

२६ मई १९५७

४१ : अणुव्रतों की अलख

कहा जाता है कि पानी बहता अच्छा होता है, जोगी रमता अच्छा होता है। क्यों? कारण स्पष्ट है। पानी यदि बहता न रहे, एक स्थान पर ठहर जाए तो उसकी निर्मलता समाप्त हो जाती है, वह गंदेला बन जाता है। इसी प्रकार साधु भी सदा एक स्थान से दूसरे स्थान पर विहरण करता रहे, इसी में अच्छा है। यदि वह एक स्थानविशेष से बंध जाए तो उसकी साधना की तेजस्विता कम होने का खतरा पैदा हो जाता है, उसके पथच्युत होने का खतरा पैदा हो जाता है। इसी लिए साधु के लिए विहार-चर्या प्रशस्त मानी गई है। तब आज विदाई के अवसर पर यह विषाद की बात क्यों? फिर समारोह तो स्वयं उल्लास के प्रतीक होते हैं। उल्लास व्यक्त करने के क्षणों में विषाद की बातों का क्या अर्थ? साधु-संत तो यह सोचकर ही किसी गांव में आते हैं कि हमें वहां से कुछ दिनों पश्चात प्रस्थान कर देना है। इसलिए उनके लिए स्वागत और विदाई का कोई विशेष महत्त्व नहीं है। उनके लिए तो महत्त्व है कार्य का। वे जहां भी जाते हैं, जहां भी रहते हैं, वहां अपनी साधना करते हुए जन-जन को अध्यात्म और नैतिकता का पथ दिखाते हैं। आप लोगों से भी मैं कहना चाहता हूं कि आप इसी कार्य को महत्त्व दें। साधु-संतों के इस प्रवासकाल में अध्यात्म की जो फुलवाड़ी खिली है, उसे मुरझाने न दें, खिलती रखें। 'अणुव्रत' का काम इस प्रवास में बहुत सुंदर ढंग से चला है। इस कार्यक्रम के प्रचार-प्रसार की दृष्टि से यहां बहुत सुंदर वातावरण निर्मित हुआ है। यह जो अलख जगी है, उसे आपको जगाए रखना है। जिस उत्साह से आप लोगों ने यह कार्य आगे बढ़ाया है, उसी उत्साह के साथ हमारी अनुपस्थिति में भी बढ़ाते रहना है। यह न केवल आपके लिए, बल्कि पूरे लाडनूं एवं आस-पास के क्षेत्रों के लिए हितकर और शुभकर होगा।

लाडनूं, २७ मई १९५७

४२ : सांप्रदायिक समन्वय की दिशा

संप्रदाय और सांप्रदायिकता

संप्रदाय और सांप्रदायिकता तो भिन्न-भिन्न तत्त्व हैं। संप्रदाय एक गुरु-विशेष की परंपरा को कहते हैं, जबकि सांप्रदायिकता एक प्रकार की संकीर्ण मनोवृत्ति है। उससे ग्रसित व्यक्ति स्वयं के संप्रदाय के हित के लिए दूसरे-दूसरे संप्रदायों के हितों की उपेक्षा कर देता है, उन्हें कुचल देता है। अनंत सत्य तक को वह अपने संप्रदाय की संकीर्ण सीमाओं में कैद करने का विफल प्रयास करता है! दूसरे-दूसरे संप्रदायों में भी सत्य हो सकता है, अच्छाइयां हो सकती हैं, यह सचाई स्वीकार करने का साहस वह नहीं कर पाता। जहां तक भिन्न-भिन्न संप्रदायों के होने का प्रश्न है, यह कोई बुरी बात नहीं है, संघर्ष का कारण भी नहीं है। पर सांप्रदायिकता अच्छा तत्त्व कदापि नहीं है। सीधी भाषा में कहूं तो बहुत घातक तत्त्व है, धर्म को सर्वाधिक नुकसान पहुंचानेवाला तत्त्व है, धार्मिक जगत के लिए कलंक के समान है। संसार में धर्म के नाम पर जितने युद्ध हुए, वे वास्तव में धर्म के कारण नहीं, बल्कि सांप्रदायिकता के कारण ही हुए हैं। आज भी यह मनोवृत्ति जहां लोगों के विचारों पर हावी हो जाती है, वहां जब-तब संघर्ष की स्थिति पैदा हो जाती है।

यह प्रसन्नता की बात है एवं भविष्य के शुभ का संकेत है कि इन दिनों चारों ओर समन्वय की बात को बल मिल रहा है। प्रबुद्ध एवं चिंतनशील लोग समन्वय को बहुत मूल्य दे रहे हैं। यह और भी प्रसन्नता का विषय है कि युवा पीढ़ी सांप्रदायिकता की बात पसंद नहीं करती। उसमें समन्वय की भावना बुजुर्ग पीढ़ी की तुलना में कहीं अधिक है। इस अंतर का कारण यह हो सकता है कि बुजुर्ग पीढ़ी रूढ़िवादिता से ग्रस्त है, जबकि युवा पीढ़ी इस बीमारी से मुक्त है। अपेक्षा है, बुजुर्ग पीढ़ी भी स्वस्थ बने, समय की अपेक्षा समझे और समन्वय की दिशा में

गतिशील बने।

इस विषय में सबसे पहली बात यह है कि हम सांप्रदायिक मतभेदों को चिंतन का विषय रखें।

यह तो बहुत स्पष्ट है कि मतभेद हैं, पर वे हैं बहुत थोड़े ही, अतः उनके कारण आपस में झगड़ना नहीं चाहिए। उन्हें आलोचनापूर्वक समझने की कोशिश करनी चाहिए। हम आपस में बैठकर यह चर्चा करें कि हर एक-मान्यता की बुनियाद क्या है; और जब हम शुद्ध जिज्ञासा लेकर चलते हैं तो फिर चर्चा में कटुता आए ही क्यों? आज तो जब राजनीतिक लोग भी एक स्टेज पर आकर सभ्यतापूर्वक चिंतन कर सकते हैं, तब हम धार्मिक लोग आपस में बैठकर चर्चा क्यों नहीं कर सकते? यदि कदाचित कहीं कटुता आ जाए तो चर्चा वहीं बंद कर देनी चाहिए। यह ठीक और यह गलतहयह खींचातानी कटुता का कारण होती है। पर जहां ज्ञान के लिए विवेचन चलता है, वहां कटुता आए ही क्यों? मैंने अनेक बार इसका अनुभव किया है और पाया है कि उसका अंत बड़ा सरस होता है।

समन्वय की भावना को मूर्त रूप देने के लिए यह आवश्यक है कि इसकी कुछ रूपरेखा तय की जाए। उसके बारे में मैं आपको तीन बातें सुझाना चाहूंगा

- किसी संप्रदाय का अनुयायी किसी दूसरे संप्रदाय की आक्षेपात्मक कटु आलोचना न करे।
- विचार-विनियम के लिए समय-समय पर संयुक्त गोष्ठियों का आयोजन किया जाए।
- सामूहिक उत्सव सामूहिक रूप में ही मनाए जाएं।

वीर-निर्वाण-दिवस, महावीर-जयंती आदि-आदि उत्सव सभी जैनों को समान रूप से मान्य हैं। उन्हें अलग-अलग न मनाकर सामूहिक रूप में मनाया जाए। भगवान महावीर के जीवन पर प्रकाश डाला जाए। पर यह ध्यान रखने की बात है कि ऐसा प्रकाश नहीं, जो अंधकार का रूप ले। यानी जिससे एक-दूसरे की मान्यताओं को ठेस पहुंचे।

बहुत-से जैन लोग यह प्रश्न करते हैं कि जब भारत में बौद्ध धर्म के कम अनुयायी होने के बावजूद बुद्ध जयंती की राष्ट्रीय छुट्टी होती है, तब महावीर जयंती की राष्ट्रीय छुट्टी क्यों नहीं होती। इसके दो कारण

हैंहपहला तो यह कि आम लोगों की धारणा है कि जैन लोग सबसे ज्यादा परिग्रही हैं। अतः सब लोगों की उन पर आंख है कि भला जिन भगवान महावीर ने सबसे ज्यादा अपरिग्रह का उपदेश दिया, उनके अनुयायी ही आज परिग्रह के पंडे कैसे हो गए। यद्यपि मैं मानता हूँ कि यह एक भ्रांति है कि जैन लोग ज्यादा परिग्रही हैं। हां, यह अवश्य है कि जैनों में ज्यादा भूखे-फकीर नहीं हैं। पर इसका मतलब यह नहीं कि वे सारे पूंजीपति ही हैं। मेरी समझ में जैन लोग मध्यमवर्गीय ज्यादा हैं। किंतु फिर भी आज अपरिग्रह की प्रतिष्ठा नहीं रहने के कारण आम जनता की उनके प्रति विशेष श्रद्धा नहीं है। नीति-निष्ठ तो आज जैन क्या, और भी बहुत कम लोग हैं, पर नाम के लिए जैनों का नाम सबसे पहले आता है। दूसरी बात यह है कि जैनों में स्वयं में भी आपसी कलह इतना है कि दूसरे लोगों को उनकी उपेक्षा करने का अवसर मिल जाता है। मंदिरों, स्थानकों और यहां तक कि साधुओं व श्रावकों के भी कोर्ट में अनेक मुकदमे चलते हैं। इस कारण लोग मानने लगे हैं कि ये लोग तो लड़ाकू हैं। अतः कोई चोटी का नेता उनकी सुनने को भी तैयार नहीं होता। नेता लोग यह मानने के लिए भी तैयार नहीं हैं कि ये लोग कुछ काम करते हैं। ये ही कुछ कारण हैं कि महावीर जयंती की राष्ट्रीय छुट्टी की बात भी बल नहीं पकड़ती। इसलिए अपेक्षा है कि जैन लोग जन-साधारण में व्याप्त भ्रांत अवधारणाएं मिटाएं, अपनी छवि सुधारें, आपसी छोटे-मोटे विवाद गौण करके जैन-धर्म और जैन-समाज की सामूहिक आवाज बनाएं।

जैन-धर्म जाति के बंधन से मुक्त हो

यद्यपि जैन-तत्त्वों के प्रति लोगों की आस्था है, तथापि जैन-संतों के प्रति उनकी भावना बहुत ही नीची है। इसका कारण यह है कि जैन-संतों का आज सार्वजनिक और यथार्थ परिचय नहीं है। जैन-धर्म आज कुछ इतने सीमित दायरे में बंध गया है कि लोग जैन-संतों को बनियों के महाराज कहने लगे हैं। जो जैन-धर्म कभी सभी कौमों में चलता था, आज लगभग बनियों में सिमटकर रह गया है। मुझे इस बात से बड़ा दुःख होता है। इन थोड़े वर्षों में हमारा सार्वजनिक कार्य देखकर बहुत-से लोग मुझसे कहते हैंह‘महाराज! आपने बड़ी प्रगति कर ली।’ तब मैं उत्तर दिया करता हूँह‘इसमें प्रगति की क्या बात है? अभी तक तो हमने

अपनी गलती सुधारी है।' बंधुओ! जैन-धर्म स्वयं ही इतना व्यापक है कि उसमें कोई भेद-भाव नहीं। पर समय की गति ने उसे बांध दिया। अतः आज हमारा सबसे बड़ा काम है कि हम उसे जाति के बंधन से मुक्त करें। पर इसके लिए जैनों को अपने-अपने मताग्रह का त्याग करना होगा। मतभेदों को मतभेदों की सीमा तक ही रखना होगा, उन्हें मनभेद की सीमा में प्रवेश करने से रोकना होगा। जब तक यह स्थिति निर्मित नहीं होती, तब तक जैन-धर्म की प्रभावना की दिशा में वे कार्य कैसे कर सकते हैं?

साधु का कैसा मान! : कैसा अपमान!

अतः आज समन्वय की बड़ी आवश्यकता है। श्वेतांबरों में वल्लभ-विजयजी महाराज और दिगंबरों में सूर्यसागरजी महाराज में मैंने समन्वय की बड़ी तड़प देखी। इसी लिए मैं स्वयं उनसे मिलने के लिए उनके स्थान पर गया था। प्रसंगवश एक बात कह दूं। मान और अपमान का भी जैन-मुनियों में आज बड़ा सवाल है। और तो क्या, बैठने के लिए उन्हें अगर थोड़ा भी नीचा स्थान मिल जाता है तो उसमें वे अपना अपमान समझने लग जाते हैं। अभी दिल्ली में बहुत-से बौद्ध भिक्षु हमारे स्थान पर आ गए। पहले मैं स्वयं उनके स्थान पर भी गया था। वे बोले कि हम आपसे बात तो करना चाहते हैं, पर आसन समान हो, तभी यह संभव है। मैंने सोचा कि मुझे इसमें क्या दिक्कत है; अगर कोई नीचे बैठने मात्र से मुझसे कुछ ले सकता है तो मुझे इसमें क्या आपत्ति। मैं नीचे बैठ गया। वे भी नीचे बैठ गए। बहुत देर तक उनसे हमारी चर्चा हुई। हम दोनों को ही उसमें बड़ा रस आया। अतः सोचने की बात यह है कि साधुओं का क्या मान और क्या अपमान। मैं जैनों के सभी संप्रदायों के मुनियों से विनम्रतापूर्वक कहना चाहता हूं कि वे इस नाकुछ बात में न उलझें। अगर वे ऐसी महत्वहीन छोटी-छोटी बातों में ही उलझ जाते हैं तो जैन-धर्म के संरक्षण और उन्नति का दायित्व कैसे निभा सकेंगे? यदि सचमुच ही उनके मन में इस दिशा में कार्य करने की तड़प है तो उन्हें अपने-अपने अहं का त्याग करना होगा; और यदि मुनि-जन अपना दृष्टिकोण विधायक बनाएंगे तो श्रावक-समाज के लिए सहज ही समन्वय की दिशा में आगे बढ़ने का मार्ग प्रशस्त हो जाएगा। आशा है, सभी लोग समन्वय का मूल्यांकन करते हुए इस कार्य को अहमियत देंगे।

लाडनूं, २८ मई १९५७

४३ : नैतिक क्रांति के क्षेत्र

.....तब मुझे अत्यधिक खुशी होती है

जो आनंद वर्ग-विहीन परिषद में बोलने में आता है, वह एक वर्ग के लोगों में नहीं आता। केवल जैन या ओसवालों में बोलकर मैं उतना खुश नहीं होता, जितना सर्वसाधारण में बोलकर होता हूँ। उससे भी अधिक खुशी तो मुझे तब होती है, जब मैं ग्रामीणों में बोलता हूँ। अभी मैं गांवों से होकर आ रहा हूँ। वहां मुझे बड़ी सरलता-सहजता दिखाई दी। हालांकि मैं यह नहीं कह सकता कि वहां पाप है ही नहीं, तथापि शहरों की अपेक्षा वहां पाप कम है, यह कहा जा सकता है। हालांकि आजकल तो शहरों के सामीप्य ने ग्रामों पर भी हाथ फेर दिया है, फिर भी ग्रामवासी संतों की बातें सुनने के लिए उत्सुक रहते हैं, यह भी मैंने वहां देखा। दोपहर की भयंकर गरमी में भी वे लोग प्रवचन सुनने के लिए इकट्ठे हो जाते थे। वहां टाउन हॉल तो है नहीं। किसी वृक्ष की छाया के नीचे मैं बैठ जाता और वे लोग मेरे चारों ओर बैठ जाते। कितने प्रेम से वे मेरी बातें सुनते! सुनते ही नहीं, वे उन्हें जीवन में भी उतारते।

यहां शहरी लोगों में मेरे प्रवचन की प्रशंसा करनेवाले बहुत मिल जाएंगे। मेरे स्वागत में लंबे-लंबे और लच्छेदार भाषण करनेवाले भी अनेक मिल जाएंगे, पर मैं अगर उनसे किसी व्रत की मांग कर लूं तो शायद वे धरती कुरेदने लग जाएंगे या आकाश की ओर देखने लग जाएंगे। संस्कृत में एक वाक्य आता है **वैयाकरणखसूचि**। जब किसी वैयाकरणी को प्रश्न का उत्तर नहीं आता है तो वह आकाश की ओर देखने लग जाता है। उस अवस्था को कहते हैं **वैयाकरणखसूचि**। शहरी लोग भी शायद किसी व्रत का नाम सुनकर आकाश की तरफ देखने लग जाएंगे। पर गांवों में मैंने देखा कि पचासों वर्ष से तंबाकू पीनेवाले लोगों

ने भी थोड़ा-सा उपदेश सुनकर उसी वक्त मेरे सामने अपनी चिलमें तोड़ डालीं और आजीवन तंबाकू नहीं पीने का व्रत ले लिया। यह क्या कम बात है? यहां शहरों में ऐसे उदाहरण कम मिलेंगे।

प्रसंग आचार्य भिक्षु का

तेरापंथ के प्रवर्तक भिक्षु स्वामी ने अनेक बार कहा है कि वास्तव में कार्यक्षेत्र तो गांव ही हैं। एक बार वे किसी शहर में चातुर्मास बिताकर एक गांव में पहुंचे। वहां किसी व्यक्ति ने उनसे कहा हूँ 'महाराज! अबकी बार तो आपने शहर में अच्छा उपकार किया।' स्वामीजी ने कहा हूँ 'हां भाई! अनेक लोगों ने हमारी बातें सुनीं, समझीं। हमने खेती की तो है, पर वह है गांव के गोरवे (किनारे)। यदि गधे उसे उखाड़ न दें, तभी उसकी सफलता है।' कितना गहरा मर्म छिपा था उनके कथन में! इसका कारण यह है कि शहरों में अनेक लोग रहते हैं। उन सबके विचार भी अलग-अलग होते हैं। बुरे विचारों का असर बहुत जल्दी और बहुत ज्यादा होता है। अतः शहरों में व्रत-नियम की बातें कैसे जड़ पकड़ पाएंगी? वहां तो अनेक ऐसे आकर्षण रहते हैं कि वे त्याग के प्रति आस्था ही नहीं जमने देते। पर गांवों में ऐसा नहीं होता।

दूध और पूत बेचे नहीं जाते

जहां शहरों में दूध में प्रायः पानी मिलाया जाता है, वहां गांवों में अब भी दूध बेचा तक नहीं जाता। उलटे ग्रामीण लोग तो यह कहते हैं कि दूध और पूत क्या बेचे जाते हैं? अनेक गांवों में तो हमारे साथवाले गृहस्थ दूध लाने के लिए जाते तो उन्हें दूध नहीं मिलता। वे लोग कहते हैं 'तुम चाहे जितना दूध ले जाओ, पर हम उसके पैसे नहीं लेंगे।' श्रावक भी मुफ्त में दूध कैसे लेते? अतः वे घूम-फिरकर वापस आ जाते। उन्हें पैसों से दूध नहीं मिलता।

दूसरी ओर शहरों का जीवन कितना कृत्रिम हो गया है! जयपुर में हम गए। वहां हमें यह भी पता नहीं चलता कि आकाश में चंद्रमा उदय होता है या नहीं, क्योंकि वहां तो हमेशा बिजली की चकाचौंध रहती है। और उस कृत्रिम प्रकाश ने मनुष्य का आंतरिक प्रकाश, सहज प्रकाश छीन लिया है।

संतों का स्वागत

मैं देख रहा हूँ कि शहरी-जीवन में आज इतनी विकृतियां आ गईं

हैं कि वहां आत्मा की आवाज बड़ी मुश्किल से सुनी जाती है। पर मुझे तो सभी जगह काम करना है। अतः मैं शहरों को भी कैसे भूल सकता हूं? आपने संतों का स्वागत किया। पर आपसे मैं यह स्पष्ट कह देता हूं कि केवल शाब्दिक स्वागत को मैं स्वागत नहीं मानता। मेरा स्वागत तभी हो सकता है, जब आप अपने जीवन की बुराइयां मुझे अर्पित कर स्वयं हलके हो जाएं।

४४ : जिज्ञासु और जीगीषु

मनुष्य में जिज्ञासा अवश्य रहनी चाहिए। इसी लिए चर्चा का भी जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान है। पर वह जय और पराजय के लिए नहीं की जाए। जहां जय और पराजय का प्रश्न है, वह चर्चा अहिंसक चर्चा नहीं होती। साधु किसी की हार-जीत चाहता ही नहीं। *दसवेआलियं* में कहा गया है

देवाणं मणुयाणं च, तिरियाणं च वुग्गहे।

अमुयाणं जओ होउ, मा वा होउ त्ति नो वए॥

ह देव, मनुष्य और तिर्यचों के आपस के कलह में साधु को यह नहीं कहना चाहिए कि अमुक की जय हो और अमुक की पराजय।

इससे यह स्पष्ट रूप में समझा जा सकता है कि चर्चा में भी जय-पराजय का प्रश्न उठाना हिंसा है।

यद्यपि साधु यह चाहता है कि सत्य की विजय हो, तथापि वह विजय की कामना व्यक्तिपरक नहीं। व्यक्तिपरक विजय की कामना राग है। इसी आधार पर तो आचार्य भिक्षु ने कहा था 'किसी की विजय और पराजय में मत पड़ो। निर्बल और सबल का संसार में झगड़ा हमेशा से चला आ रहा है।' आज भी तो वाद और राष्ट्र के नाम पर यह निर्बल और सबल का ही तो झगड़ा है। ऐसी स्थिति में शक्तिवान की जय और निर्बल की पराजय हिंसा नहीं तो और क्या है? आचार्य भिक्षु ने एक पद्य लिखा है

एकण रे दे चपेटी, एकण रो दे दुख मेटी॥

ए तो रागद्वेष नो चालो दशवैकालिक सम्भालो॥

ह एक आदमी को पुचकारना और एक आदमी को मारनाहयह राग-द्वेष का परिणाम है। *दशवैकालिक* सूत्र में यह तथ्य स्पष्ट

रूप में देखा जा सकता है।

अतः शास्त्रार्थ भी जय और पराजय के लिए नहीं होकर ज्ञान-विकास के लिए होना चाहिए। यदि ऐसा हो तो फिर चर्चा पांच दिन भी क्यों न चले, उसमें उत्तेजना नहीं होगी। उत्तेजना तो वहां होती है, जहां प्रतियोगिता होती है।

प्रतियोगिता बहुत बुरी चीज होती है। आपने देखा होगा, कभी-कभी मोटरों में प्रतियोगिता हो जाती है। इसमें यात्रियों को तो लाभ होता है, पर मोटर चलानेवालों का क्या हाल होता है, यह खास देखने की बात है। एक आदमी कहेगा कि वह यहां से वहां तक का पांच आने किराया लेगा। दूसरा उसे चार आने में ही ले जाने को तैयार हो जाएगा। यह बदहालत यहां तक पहुंच जाती है कि कभी-कभी तो बिना किराए ही सवारी को बैठा लिया जाता है। यह अक्ल का दैन्य नहीं तो और क्या है!

अतः चर्चा का लक्ष्य प्रतियोगिता नहीं होना चाहिए। हर मनुष्य को जिज्ञासु होना चाहिए, जिगीषु नहीं। जिज्ञासा तो एक भूख है। मैं नहीं समझता कि इसके बिना मनुष्य को चैन कैसे पड़ता है। यदि किसी व्यक्ति को भूख नहीं लगती हो तो उसे जगाने के लिए दवा लेनी पड़ती है। तब यह ज्ञान की भूख जगाने के लिए दवा क्यों नहीं लेनी चाहिए? अवश्य लेनी चाहिए। इसकी औषध है सत्संगति। इससे यह भूख जागेगी। जिगीषा का मतलब है जीतने की इच्छा। यह अच्छी नहीं होती। इसे मिटाने के लिए भी सत्संगति अनुपम औषधि है।

४५ : जैन-धर्म जन-धर्म कैसे बने

साधु हाट हैं

साधु लोग एक चलती फिरती हाट हैं। जैसे, हाट लगती है, तब अनेक लोग वहां सामान खरीदने व बेचने के लिए आ जाते हैं और जब वह उठ जाती है तो पीछे से कहीं पत्थर, कहीं ईंटें और कहीं कुछ अवशेष रह जाते हैं। इसी प्रकार जहां साधु जाते हैं, वहीं लोग इकट्ठे हो जाते हैं। वे अप्रतिबद्धबिहारी हैं। अतः आज यहां हैं तो कल किसी दूसरे स्थान पर जाकर ठहरेंगे। उनका काम है स्वयं की साधना करना और दूसरों को भी उस ओर आकृष्ट करना। अतः जगह-जगह उपदेश करना भी उनका कर्तव्य है। युग जिसे चाहे और हमारी साधना में उससे कोई बाधा न हो तो वैसा करने में हमारा क्या नुकसान है? उससे अगर एक व्यक्ति भी सन्मार्ग पर आता है तो यह कितना बड़ा उपकार है! केशी मुनि और प्रदेशी राजा का वृत्तांत आप लोगों ने सुना होगा। एक व्यक्ति का उपकार होता जानकर केशी मुनि ने कितना लंबा विहार किया था! एक क्षण के लिए हम ऐसा भी मान लें कि किसी समय कोई लाभ नहीं होता है, एक भी व्यक्ति नहीं समझता है, पर नुकसान भी क्या हुआ? हमारी अपनी प्रवृत्ति का लाभ तो हमें हो ही चुका। अतः केवल पुरानी बू में बहते रहना कोई तत्त्व की बात नहीं है। जिस काम के करने में फायदा हो, उसे करने में कोई संदेह नहीं करना चाहिए।

जैन-धर्म और व्यापकता

जैन-साधुओं की तो यह विशेषता रही है कि वे घर-घर जाकर प्रचार करते रहे हैं। बीच के कुछ काल में इस बात की कमी भी आई और इसी कमी के कारण मध्यकाल में जैन-तत्त्व जनता तक नहीं पहुंच पाया। जो जैन-धर्म इतना व्यापक था, वह आज इतना संकुचित क्यों हुआ? यह इसी कारण कि उसमें संकीर्णता आ गई। भगवान महावीर के

श्रावक सभी जातियों और सभी वर्गों के थे। पर मध्यकाल में यह बात भुला दी गई। यह मान लिया गया कि जैन-धर्म तो ओसवालों का ही है, महाजनों का ही है। इसी दायरे ने जैन-धर्म को संकुचित बना दिया और दूसरे लोग भी यह मानने लग कि जैन-धर्म उनका नहीं है। यह ठीक है कि ओसवालों ने उस समय बुराइयों, दुर्व्यसनों, गलत खान-पान का त्याग किया था। पर इसके बाद क्या कुछ हुआ, यह भी ध्यान देने की बात है। मैं मानता हूँ, जब तक धर्म जाति-पांति के बंधन से मुक्त नहीं होगा, तब तक उसका फैलाव असंभव है। यदि दूसरे लोगों का उसका परिचय ही नहीं होगा तो वे उसे स्वीकार भी कैसे करेंगे? आप एक छोटी-सी बात वोट को ही लें। उसके लिए भी जानकारी की कितनी आवश्यकता रहती है। उम्मीदवार को अपना परिचय जनता तक पहुंचाना पड़ता है। अपना संपर्क बढ़ाना पड़ता है। बिना जाने-बूझे आखिर वोट दिया भी किसे जाए? इसी प्रकार धर्म-प्रचारकों का संपर्क भी जब तक जनता से नहीं होगा, तब तक वह धर्म की बात कैसे स्वीकार कर सकेगी?

अभी दिल्ली से वापस आते वक्त मैं एक गांव में ठहरा। वहां के लोगों ने समझा कि महाराज आ रहे हैं, न जाने कितने साधु उनके साथ आएंगे; कितने सेवक उनके साथ आएंगे; कितना आटा वे ले लेंगे; कितना घी ले लेंगे; और कम-से-कम सोने के लिए भी न जाने कितने बिस्तरों की आवश्यकता होगी। यह सोचकर वे बेचारे घबड़ा गए और हमसे दूर-दूर रहे। आहार-पानी कर लेने के बाद जब हम प्रतिक्रमण करने लगे तो उन लोगों ने देखा कि इन संतों ने रोटी तो हमसे नहीं मांगी, तब वे हमारे पास आए। हमने उन्हें उपदेश सुनाया। सुनकर उनकी आंखें खुल गईं और उनकी यह शंका भी दूर हो गई कि न जाने कितने बिस्तरों की जरूरत होगी क्योंकि हम लोग अपने ही कपड़ों पर सोते हैं। फिर प्रातः जब हम अगले गांव के लिए प्रस्थान करने लगे तो वे इकट्ठे होकर हमारे पास आए और बोलेह 'महाराज! हमें तो आपका पता ही नहीं था कि आप इतनी उच्च कोटि के साधु हैं! हमने तो सोचा था कि न जाने ये लोग क्या-क्या करेंगे। पर आपका तो किसी पर एक पाई का भी बोझ नहीं, यह देखकर हमें आपके प्रति बड़ी श्रद्धा हुई है। अब आप पधारें और हमारे घरों से भिक्षा लें।' मैंने कहाह 'भाई! हमें अभी आगे जाना है। हम अभी रुक नहीं सकते। भिक्षा लेने में देर हो

जाएगी। अतः अभी जाएंगे ही।' उन्होंने बड़ी भक्तिपूर्वक कहाह 'अच्छा महाराज! आज तो आप जाएंगे, पर फिर कभी इधर से आना हो तो हमारा गांव भूलना मत।'

इस घटना से आप समझ सकते हैं कि बिना परिचय के लोगों में भ्रांतियां रहनी स्वाभाविक हैं।

वास्तव में हमारा धर्म कितना सस्ता है! इसमें एक पाई का भी खर्च नहीं है। अगर कोई हमारा धर्म स्वीकार भी करता है तो हम उसे यही त्याग दिलाएंगे कि हमारे लिए रोटी भी मत बनाना। फिर खर्च की तो बात ही कहां रही?

प्रसंग औरंगाबाद छावनी का

लगभग ऐसी ही घटना औरंगाबाद छावनी की भी है। वहां हम एक बड़े पुलिस अफसर के घर ठहरे थे। लोगों ने जगह मांग ली। जान-पहचान का आदमी था। बेचारा इनकार कैसे करता? पर मन-ही-मन सोचने लगाहबड़े हाथी को मैंने अपने घर पर बुला लिया है। न जाने महाराज कैसे आएंगे, कैसे ठहरेंगे। खैर, हम लोग वहां चले आए। आहार-पानी से हम निवृत्त होकर गए थे। आकार बैठ गए। हमने प्रतिक्रमण किया। पहले वह हमें दूर-दूर से देख रहा था कि जाने ये लोग कैसे हैं। पर प्रतिक्रमण संपन्न हो जाने के पश्चात वह हमारे पास आया। शिष्टाचार निभाते हुए उसने पूछाह 'महाराज! आपके भोजन की व्यवस्था?' मैंने कहाह 'भाई! हम तो भोजन करके आए हैं।' तब उसने पूछाह 'दूध तो पिएंगे?' मैंने कहाह 'नहीं, हम रात को कुछ खाते-पीते नहीं।' उसने सोचा होगाहचलो, इतनी बला तो टली। थोड़ी देर बाद फिर पूछाह 'अच्छा! आपको सोने के लिए कितने बिस्तर चाहिए?' मैंने कहाह 'नहीं, हम अपने बिस्तर अपने पास ही रखते हैं। दूसरों के बिछौने काम में नहीं लेते।'

उसने दो कमरे हमें दिए थे। उनमें बिजली जल रही थी। हमने उसे समझाया कि भाई रात को बिजली जलती रहने पर ये कमरे हमारे काम नहीं आएंगे। मेरी बात सुनकर उसने कहाह 'क्या बिजली बुझा दूं? पर गरमी बहुत है। आप बाहर सोते नहीं। अच्छा, पंखा तो खोल दूं?' मैंने समझायाह 'हमें बिजली, पंखा किसी चीज की जरूरत नहीं है।' सुनकर उसे बड़ा आश्चर्य हुआ। खैर, रात को तो वह चला गया। दूसरे दिन

प्रातः वह वापस हमारे पास आया और बोलाह 'अच्छा महाराज! आप शौच तो लैट्रिन में जाएंगे न?' मैंने कहाह 'नहीं, हम बाहर जंगल में जाएंगे।' अब उसके अंतर के द्वार खुल गए। बोलाह 'आचार्य जी! आप तो गजब के हैं! मैंने तो आपके बारे में न जाने क्या-क्या सोचा था। पर आप तो और ही निकले। अब मैं आपसे छिपाता नहीं, सारी बात कहना चाहूंगा। मैंने तो यही समझा था कि और-और संत-महंतों की तरह आप भी बहुत टाट-बाट से आएंगे। पर आप की सादगी और आचार देखकर मेरे मन में आपके प्रति श्रद्धा उमड़ पड़ी है। मैं सोचता हूँ कि अगर सारे ही साधु इसी प्रकार के हों, तो क्या हमारा देश सुधर नहीं जाए!' रात में हमने उसे और उसकी पत्नी व बच्चों को कुछ उपदेश दिया था। अणुव्रत-आंदोलन के बारे में भी बताया था। अब वे लोग बड़े भक्त बन गए और बोलेह 'प्रातःकाल का नाश्ता तो आपको हमारे यहां करना हो होगा।' हमने उन्हें अपनी विधि बताई और आखिर उनकी भक्ति देखकर थोड़ा दूध तथा एक-दो चपातियां (रोटियां) उनके घर से लीं।

कहने का मतलब है कि जब तक लोग परिचय में नहीं आते, तब तक भ्रांतियां रहती ही हैं। अतः अगर हम जनता के परिचय में आए तो इसमें हमारे लिए कोई बाधा नहीं और उनकी भ्रांतियां मिटती हैं। उन्हें यदि एक स्वाभाविक तत्त्व मिलता है तो इसमें भी आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

आप पूछेंगे कि आप इतने लोगों के परिचय में आए, उनमें से कितने लोग जैनी बने। मैं कहूंगा, यह बात आप एक बार रहने दें। आप तो यह देखें कि कितने लोग हमारे निकट आए और कितने लोगों ने संपर्क से अपना जीवन संवारा। क्या यह कम बात है? इस सैकड़ों मीलों की यात्रा में इस संबंध में मेरे न जाने कितने अनुभव हैं। लोगों ने संपर्क में आकर बहुत-कुछ पाया है मैं और सोचता हूँ कि अगर हमारा थोड़ा प्रयास रहे तो हजारों नहीं, लाखों आदमी भगवान महावीर के संदेश से परिचित हो सकते हैं। पर थोड़ा प्रयास अवश्य अपेक्षित है।

श्रावक-समाज सहयोगी बने

मेरी तरह आप लोगों के संपर्क में भी अनेक लोग आते होंगे। बहनों के संपर्क में भी न जाने कितनी दूसरी-दूसरी बहनें आती होंगी; और वे लोग आप लोगों का आदर भी करते होंगे। पर क्या आपने कभी

यह कष्ट किया है कि अपने संपर्क में आनेवाले लोगों को जैन-तत्त्व की जानकारी दी जाए? आपने तो शायद समझ लिया होगा कि धर्म करने का अधिकार तो हमारा ही है; ये दूसरी-दूसरी जाति के लोग क्या धर्म कर सकेंगे! उन्हें समझाना तो दूर रहा, आपने कहीं यह तो नहीं मान लिया है कि उनसे बात करने से हम नीचे हो जाएंगे! तब तो सबसे नीचे हम साधु ही होंगे, क्योंकि हम प्रत्येक व्यक्ति के संपर्क में आते हैं। उनसे बोलते हैं, उन्हें उपदेश देते हैं। अतः आप यह भ्रान्ति अपने दिमाग से निकाल दें कि ये दूसरी-दूसरी कौमों के लोग क्या धर्म कर सकेंगे। आवश्यकता इस बात की है कि उन्हें साधुओं का संपर्क कराया जाए और जैन-तत्त्व की जानकारी कराई जाए। आप उन लोगों को छोड़ दें, जो सुनना नहीं चाहते। पर इसके बाद भी बड़ी संख्या में ऐसे लोग शेष रह जाते हैं, जो सुनना चाहते हैं। आप उनको मौका क्यों नहीं देते? माना, उनको काम रहता है। पर यह कोई जरूरी नहीं है कि वे रोज ही यहां आए। जब-कभी दो-चार-पांच दिनों में उन्हें समय मिले, वे संपर्क कर सकते हैं। इसमें उन्हें नुकसान भी क्या है? आप लोग हमें बहुत ऊंचे मानते हैं। पर संपर्क में नहीं आने के कारण दूसरे लोग हमारे बारे में विभिन्न प्रकार की गलत अवधारणाएं पालते हैं। हम यह चाहते हैं कि उनसे संपर्क करें और करते भी हैं। पर इस कार्य में हमें समाज का अपेक्षित सहयोग नहीं मिलता। लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि आप हमें आर्थिक सहयोग दें। हम आप का निरवघ्न सहयोग चाहते हैं और अगर आप देंगे तो सहर्ष स्वीकार करने में हम कोई संकोच नहीं करेंगे।

कुछ लोग आचार्य भद्रबाहु का अग्रोक्त उद्धरण देते हैं **हवेस्स इत्थो धम्मो भवइ**। पर आप इस संदर्भ में गहराई से सोचें। धर्म किसी जाति-विशेष के हाथ में नहीं रहता। वह तो उसी के हाथ में रहता है, जो इसे अपनाता है और आज तो जातिवाद की शृंखला भी टूटती जा रही है।

प्रसंग दिल्ली का

दिल्ली में कुछ हरिजन मेरे पास आए और बोले **ह'आचार्य जी!** कुछ लोग हमें बौद्ध बनाना चाहते हैं, पर हम चाहते हैं कि हम जैन बनें। क्या आप हमें जैन बना सकते हैं?' मैंने कहा **ह'भाइयो!** मैं यह नहीं चाहता कि आप जैन बनने का प्रदर्शन करके कोई हुड़दंग पैदा कर दें।

आप लोगों में से जो समझदार हों, वे लोग पहले जैन-धर्म का अध्ययन करें। अगर आपको इस धर्म के विचार अच्छे लगें तो उन्हें स्वीकार करने में आपको मनाही करनेवाला कौन है?’ उन्होंने कहाह ‘आप कहते हैं, यह बात ठीक है। हम भी ऐसा प्रदर्शन नहीं चाहते। पर हम चाहते हैं कि जैन-समाज का सहयोग हमें मिलता रहे।’

मैंने अपने जैन-समाज की ओर देखा। पर वहां इतनी तैयारी कहां है! हम काम करते हैं और काम करके जब समाज की ओर देखते हैं तो बड़ी निराशा होती है। मोर नाचता है। अपना रूप, रंग और लावण्य देखकर हर्ष-विभोर हो उठता है। पर नाच लेने के बाद जब वह अपने पैरों की ओर देखता है, तब उसकी आंखों से आंसू निकल आते हैं। इतने सुंदर शरीर के साथ इन कुरूप पैरों का क्या संयोग! पर क्या किया जाए, प्रकृति की विचित्रता है! इस प्रकार समस्याएं एक नहीं, अनेक हैं। जैन-समाज के लोग इन तथ्यों के बारे में ध्यानपूर्वक सोचें और अपना दायरा विशाल बनाएं। जैन-तत्त्व किसी जाति-विशेष का नहीं है। यह जन-तत्त्व है। अतः इसे जनता में प्रसारित होने दें। भगवान महावीर ने अपने उपदेश की भाषा संस्कृत नहीं रखकर प्राकृत रखी। क्यों? यह इसलिए कि संस्कृत बहुत थोड़े लोग जानते थे और प्राकृत जन-भाषा थी। चूंकि उन्हें जनता में उपदेश करना था, इसलिए जन-भाषा का चुनाव उन्होंने किया। यह एक अनुभूत सचाई है कि जन-भाषा में किया गया उपदेश ही जन-जन के लिए विशेष उपयोगी होता है। इससे आप अनुमान लगा सकते हैं कि जन-साधारण तक पहुंचने की उनकी कितनी गहरी दृष्टि थी। मैं आज ही पढ़ रहा था कि बुद्ध के एक शिष्य ने उनसे कहाह ‘भंते! संस्कृत-भाषा देवभाषा है। अतः आप भी पाली भाषा छोड़कर संस्कृत भाषा में ही अपना उपदेश करें।’ बुद्ध ने कहाह ‘नहीं आयुष्मन! मैं यह नहीं चाहता कि मेरी भाषा कुछ-एक पंडितों की भाषा रहे, जो मठों में ही पढ़ी जाए। मैं चाहता हूं कि मेरी भाषा जनसाधारण भी समझे। अतः संस्कृत भाषा मैं नहीं अपना सकता।’

हम साधु-संत भी जन-साधारण की उपयोगिता का दृष्टिकोण सामने रखकर कार्य करते हैं। जन-जन तक पहुंचने का प्रयत्न करते हैं। आप श्रावकों को भी इस कार्य में सहयोगी बनना चाहिए। जन-साधारण तक धर्म का तत्त्व पहुंचाना चाहिए। पर यह प्रयत्न कहां है? साधु भी

कहीं जाते हैं तो आप उनकी आलोचना करने को तैयार हो जाते हैं। हालांकि वे आपकी आलोचना से घबरानेवाले नहीं हैं, आपका विरोध देखकर वे सही रास्ता छोड़ देनेवाले नहीं हैं, तथापि इस भाषा में तो वे भी सोचने लगते हैं, चलो इस कार्य से व्यर्थ ही कोई असंतुष्ट हो जाता है तो अपने और बहुत-से कार्य हैं, हम उन्हें ही करें। बावजूद इसके, यह तथ्य मैं आपके सामने बिना रखे नहीं रहूंगा कि जैन-धर्म व्यक्ति और जातिविशेष का धर्म नहीं है, वह जन-धर्म है और उसे जन-धर्म होने दिया जाए, यही मेरी तड़प है। मैं तो इस दिशा में प्रयत्न करने की बात सोच ही रहा हूँ, आप लोगों से भी मेरा यही कहना है कि आप हमें निरवद्य सहयोग दें। अगर आपने थोड़ा-सा प्रयास किया तो मैं समझता हूँ कि आप कुछ ही वर्षों में इसका फल देख सकेंगे। इसके साथ ही सबसे बड़ी आवश्यकता यह है कि आप स्वयं अपने जीवन का निर्माण करें। यह तो मूल कार्य है ही। अगर आपका जीवन ज्वलित होगा, तो दूसरे लोग स्वयं उससे प्रेरणा पाएंगे और स्वयं ही जैन-धर्म की ओर आकृष्ट होंगे।

४६ : प्रतिष्ठा और दुर्बलताएं

पोजीशन की बीमारी!

समाज का बढ़ा हुआ आर्थिक बोझ देखकर मन में आता है कि आखिर लोग आंखें मूंद क्यों सो रहे हैं। पर किया क्या जाए? घर में चाहे कुछ भी हो या न हो, पर शादी के अवसर पर तो वैसे ही पैसे उड़ाए जाएंगे। सब सोचते हैं, पर देखते हैं कि घर की 'पोजीशन' नहीं रहेगी; हमारे पिताजी ने हमारी शादी में इतना खर्च किया था तो हम अगर उससे कम खर्च करेंगे तो लोग हमें क्या कहेंगे। एक नहीं, बल्कि लगभग सारे मन-ही-मन अपने घाव सहलाते हैं, पर आगे कोई नहीं आना चाहता। कोई देखता है कि मैंने तो अपनी सारी लड़कियों की शादी कर दी है, एक लड़की की ही शादी शेष रही है, क्यों अपने किए-किए पर पानी फेरूं। कोई देखता है कि पांच लड़कियों की शादी करनी है, पहली ही शादी में हाथ कड़ा रखूंगा तो फिर बाकी के इन गद्दरों को कौन ले जाएगा। कोई देखता है कि मेरे तो एक ही लड़की है। इसकी शादी में भी यदि मैं जी खोलकर खर्च नहीं करूंगा तो करूंगा ही कब। अतः यही अवसर है, जिसमें मुझे खुलकर खर्च करना चाहिए।इसका असर दूसरे लोगों पर पड़ता है। वे सोचते हैं कि उन्होंने इतना किया है तो हमें भी इतना तो करना ही चाहिए। कोई जान-बूझकर खर्च करता है तो कोई विवश हो खर्च करता है। पूरी आमदनी नहीं है तो कोई गहने बेचकर खर्च करता है, कोई कर्ज लेकर खर्च करता है; और फिर जीवन-भर उसके नीचे पिसता है। उसे पूरा करने के लिए तरह-तरह के अनैतिक कार्य करता है और आर्त-रौद्र ध्यान की चक्की में पिसता है।

सारे गांव में उसकी प्रतिष्ठा है

एक भाई ने सुनाया थाह 'मेरा छोटा भाई एक गांव में छोटी-सी दुकान करता है। बिलकुल सच्चाई से काम करता है। बड़ा सुखी जीवन

है उसका। न तो बिक्रीकर की चोरी करता है, न आयकर की और न गलत खाते ही रखता है। उसे न तो किसी ऑफिसर का डर है और न किसी नौकर का। ऑफिसर लोग आते हैं तो उसके खाते देखते ही नहीं। कहते हैं कि यह ईमानदार है, इसके खाते क्या देखें। ग्राहक भी दूसरों की अपेक्षा ज्यादा आते हैं। देखते हैं कि वहां माल अच्छा मिलेगा। पूरे गांव में उसकी प्रतिष्ठा है। वह अपने-आपमें संतुष्ट है।' मैंने उससे पूछ लिया 'भाई! तुम भी वैसा करते हो या नहीं?' उसने उत्तर दिया 'नहीं महाराज! मैं तो वैसा नहीं कर सकता।' मैंने पूछा 'क्यों?' उसका उत्तर था 'मेरी कमजोरी।'

वह स्थिति अच्छी नहीं है

मैं समझ नहीं पाता कि आखिर आप जानते हुए भी मेरी बात क्यों नहीं मानते। या तो यह बात है कि मैं अपनी बात आप लोगों के गले नहीं उतार पाता या फिर आप लोग ही ऐसे हैं कि मेरी बात अपने गले नहीं उतरने देते। कुछ भी हो, यह स्थिति अच्छी नहीं है। क्या आप यह सोचते हैं कि ज्यादा कमाकर आप उसे अपने रख सकेंगे? मुझे तो कठिन लगता है। यदि रख लिया तो क्या सरकार नहीं निकलवा लेगी? आप आयकर की चोरी करके जैसे-तैसे रुपए यहां ले भी आए तो पहली बात यह है कि अब वे पचनेवाला नहीं हैं। अगर आप खर्च करते हैं तो सरकार आपसे पूछेगी कि ये रुपए आप कहां से लाए। दूसरी बात है कि अब आपके खर्च पर भी टैक्स लगेगा। पहले जमाने में लोग रुपए खर्च कर यह तो मानते थे कि उन्होंने उसका सार खींचा है। पर अब तो वह मुश्किल हो गया है। अतः सभी दृष्टियों से मुझे तो यही लगता है कि आप अपना जीवन हलका बनाएं।

देखा-देखी क्यों

दूसरे चाहे जितना भी खर्च क्यों न करते हों, पर आपको तो अपनी स्थिति का ध्यान रखना चाहिए। पर क्या किया जाए, आज तो सारे अपने को इसी बात से तौलते हैं कि उन्होंने क्या किया। उसने यदि बारात में इतने आदमी बुलाए तो मेरे तो इतने से ज्यादा आने चाहिए। उसने यदि बारातियों की इतनी खातिरदारी की तो मुझे भी इतनी करनी चाहिए। उसने यदि बारातियों को तेल, साबुन, फूल आदि दिलाए तो मुझे तो उससे कुछ नया कार्य करना ही चाहिए। और कुछ नहीं तो

उनकी बूट पॉलीश ही करानी चाहिए। क्या बताया जाए, लोग एक पुरानी रूढ़ि छोड़ना चाहते हैं, पर पांच नई रूढ़ियां पकड़ लेते हैं! लगता है **भूत मरकर पलीत हो गया** वाली कहावत चरितार्थ हो रही है। एक खर्च घटता है तो दूसरे पांच बढ़ जाते हैं। कैसे पार पाया जा सकता है इनसे?

यह विपर्यास क्यों

युवक लोग यह कहते हैं कि नवयुग का भार हमारे कंधों पर है, वृद्धों पर नहीं है। जहां भी रूढ़ियां मिटाने का प्रश्न आएगा, वे बड़ी आतुरता के साथ उन्हें मिटाने की छटपटाहट दिखाएंगे। पर वे स्वयं कितनी रूढ़ियों को जन्म देते हैं, यह भी उन्होंने कभी देखा या नहीं? मैं समझ नहीं पाया, उनका यौवन कहां चला गया है, तेज आज कहां चला गया है। क्रांति की बातें बनाने में कुछ लोग आगे भी रहते हैं, पर उनके अपने घर में काम पड़े तो वे भी सफलतापूर्वक पीछे खिसक जाएंगे! मैं समझता हूं, उनमें वह ओज भी आज नहीं रहा है जो नौजवानों में होना चाहिए। नहीं तो भला वे क्या नहीं कर सकते?

जीवन हलका बने

मुझे बड़ा दुःख होता है, जब मैं आप लोगों के चेहरों पर विषाद की रेखाएं देखता हूं। मैं जानता हूं, आप यहां सामायिक करने आते हैं। पर सामायिक में न जाने आपके मन में क्या-क्या कल्पनाएं आती होंगी। आपको हजार तरह की चिंताएं रहती हैं, यहां आने पर भी। कभी आप सोचते होंगे कि हमारी दुकान में पीछे क्या हो गया होगा; हमारे घर में पीछे से क्या हो गया होगा; हमारे समाज में पीछे क्या हया होगा..... अतः जब तक आपका जीवन हलका नहीं हो जाता, तब तक ये चिंताएं आपका पीछा छोड़नेवाली नहीं हैं।

स्वयं की सोचें

कुछ लोग यह कहते हैं कि महाराज को इन बातों से क्या मतलब; वे अपनी धर्म-ध्यान की बातें करें; समाज के बारे में उन्हें बोलने की क्या जरूरत है। पर आप एक बार मेरी बात छोड़ें, अपनी सोचें। मेरी बात मैं स्वयं सोचूंगा। जो दूसरों का भूत निकालने जाता है और स्वयं पहले मंत्रित नहीं हो जाता, वह उलटा भूत की पकड़ में आ जाता है। अतः मेरी बात आप मेरे लिए छोड़ें। स्वयं के करणीय पर ध्यान दें।

आपसे मैं इतना कहना चाहता हूँ कि आप पहले अणुव्रती बनें। फिर हम यह विचार भी करेंगे कि यह सामाजिक काम है या धार्मिक; समाज और धर्म का आपस में क्या संबंध है।

स्वयं ही उठना होगा

आखिर हमारा काम लोगों को प्रेरणा देना है। अपना काम तो आप लोगों को स्वयं ही करना पड़ेगा। हम लोग कोई आप लोगों को उठानेवाले नहीं हैं। उठना तो आपको स्वयं पड़ेगा। हम तो मात्र सहारा दे सकते हैं। हनुमानजी ने रामचंद्रजी से लंका-दहन के बारे में कितना सुंदर कहा है

प्रतापेन तु रामस्य, सीता निःश्वसितेन च।

पूर्वदग्धा तु सा लंका, पश्चाद् वह्निवशंगता॥

हम आपके प्रताप की और सीताजी के निःश्वासों की अग्नि से लंका जल तो पहले से ही रही थी, मैंने तो केवल उस जलती हुई आग में कुछ ईंधन डाला था।

इसी प्रकार अपनी कमजोरियां तो आपको स्वयं ही मिटानी पड़ेंगी। हम तो आपका थोड़ा-बहुत सहयोग कर सकते हैं। वह सहयोग अगर आप लेना चाहें तो हम सहर्ष देने के लिए तैयार हैं। इसमें कोई अहसान की बात नहीं है। हमारा स्वयं का यह काम है। अपना कर्तव्य निभाने में हमें अत्यंत प्रसन्नता ही होती है।

४७ : धर्म और सम्यक्त्व

अणुव्रत क्यों

अणुव्रत-आंदोलन पिछले कई वर्षों से देश में चल रहा है। इसका अभिप्रेत हैल्लोगों में नीति के प्रति निष्ठा पैदा हो। कोई अणुव्रती बने या नहीं, यह दूसरी बात है, पर कम-से-कम लोगों को इसकी जानकारी मिल जाए, यह तो आवश्यक ही है। कुछ लोग कहते हैं कि अणुव्रत क्या है जी! यह तो नेतागिरी करने का साधन है। किसी प्रकार देश में प्रसिद्ध हो जाएं, यही इसका उद्देश्य है। पर यह निरा भ्रम है। धर्म का नाम आज कितना बदनाम हो गया है, यह किसी से छिपा नहीं है। आज ही मैं अखबार पढ़ रहा था। एक जगह मैंने पढ़ा कि धर्म-परिवर्तन के नाम पर हिंदुओं और बौद्धों में आपस में लड़ाई हो गई। यह पढ़कर मुझे बड़ा खेद हुआ। क्या धर्म वास्तव में दंगा-फसाद पैदा करने के लिए ही है? यदि है तो फिर संसार में शांति और कर ही कौन सकता है? कोई बौद्ध हो जाए, इतने मात्र से दूसरे उन्हें कोसें; कोई मंदिर को न माने, इतने मात्र से दूसरे उसे गाली दें, क्या धर्म का स्वरूप यही है? पर आए दिन इस प्रकार की स्थितियां बनती रहती हैं। इसी से आज धर्म बदनाम हो गया है। अतः धर्म के नाम पर आज लोगों को आकृष्ट करना जरा मुश्किल है। इधर अनीति भी कोई कम जोर पर नहीं है। उसे मिटाना भी आवश्यक है। धर्म का नाम लोगों को सुहाता नहीं। अतः हमने चिंतन किया, कोई ऐसी बात सोची जाए, जिसके माध्यम से लोग साधुओं के संपर्क में तो आ सकें। इस चिंतन ने ही अणुव्रत को जन्म दिया। इसके माध्यम से हम अनेक लोगों के संपर्क में आए और उन्हें नैतिकता के प्रति आकृष्ट करने में सफल भी हुए।

वह कैसा सम्यक्त्व!

कुछ लोग कहते हैं कि इससे तो आप सम्यक्त्वियों और

मिथ्यात्वियों को एक कर देते हैं। पर सोचने की बात यह है कि क्या पास बैठने मात्र से सम्यक्त्वी और मिथ्यात्वी एक हो जाते हैं। अगर सम्यक्त्वी के पास बैठने मात्र से मिथ्यात्वी में सम्यक्त्व चला आता है, तब तो बहुत अच्छी बात है। इससे तो उसका भी कल्याण हो जाएगा। और मिथ्यात्वी के पास बैठने से ही उसका मिथ्यात्व आपमें आ जाता है, तब तो वह बड़ी चिंता की बात है। मैं ऐसे कच्चे सम्यक्त्व को सम्यक्त्व ही नहीं मानता, जो पास बैठने मात्र से चला जाता हो। वास्तव में पास बैठने मात्र से सम्यक्त्व या मिथ्यात्व न तो आता है और न जाता है। यह तो अपनी वृत्तियों पर निर्भर है।

एक भाई ने पूछाह 'यह सम्यक्त्व क्या है और यह कैसे आता है तथा कैसे जाता है?' मैंने कहाह 'सम्यकहठीक देखने को ही सम्यक्त्व कहते हैं। सम्यक से मतलब है यथावस्थित। जो वस्तु जैसी है, उसे वैसी ही समझना। जैसे धर्म, अधर्म आदि तत्त्व जिस रूप में वे हैं, उन्हें उसी रूप में समझना। जो जड़ है, उसे जड़ मानना, जो चेतन है, उसे चेतन मानना, यही सम्यक्त्व का स्वरूप है। दर्शनमोहनीय कर्म का उदय होने से मनुष्य को सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं हो सकती। यद्यपि है तो वह आत्मा का स्वभाव ही और इसी लिए वह आत्मा में ही रहता है, पर कर्मोदय के कारण वह आवृत रहता है। जिस प्रकार मिट्टी में ही घड़े का आकार छिपा रहता है, काष्ठ में ही कपाट का अस्तित्व रहता है, उसी प्रकार सम्यक्त्व प्रत्येक आत्मा में रहता ही है। पर जब तक उसके आवारक कर्मों का नाश नहीं हो जाता, तब तक वह प्राणी को प्राप्त नहीं हो सकता।'

सम्यक्त्व के दो प्रकार

अब प्रश्न है कि सम्यक्त्व आता कैसे है। शास्त्र में उसके दो कारण बताए गए हैंह **निसर्गादधिगमाद्वा**। निसर्गहस्वभाव से और अभिगमहप्रयत्न से। जिस प्रकार कुएं पर प्रतिदिन घड़ा रखने से अपने-आप वहां एक गड़ड़ा बन जाता है या काठ पर दीमक इस प्रकार से लगी कि वहां अपने आप 'क' आदि अक्षरों के आकार बन जाते हैं, इसे निसर्ग कहते हैं। इसी प्रकार बिना किसी प्रयत्न के स्वयं ही घिसते-घिसते मोह-कर्म जब क्षीण पड़ जाता है तो सम्यक्त्व की प्राप्ति हो जाती है। उसे निसर्ग सम्यक्त्व कहते हैं। अधिगम सम्यक्त्व का मतलब हैह

प्रयत्न करने से मोहकर्म के उपशम/क्षयोपशम/क्षय होने पर प्राप्त होनेवाला सम्यक्त्व। जिस प्रकार सम्यक्त्व आने के दो प्रकार हैं, उसी प्रकार आए हुए सम्यक्त्व के जाने के भी दो कारण हैं। या तो वह स्वभावतः ही कर्मोदय से चला जाता है या फिर किसी दुर्जन की संगति से चला जा सकता है।

सम्यक्त्व का पहचान

कौन सम्यक्त्वी है और कौन नहीं, यह मैं नहीं जानता। यह तो निर्णायक रूप में केवलज्ञानी ही कह सकते हैं। पर व्यवहार में ऐसा लगता है कि जिसकी सद्गुरु, सद्धर्म और सदागम में रुचि हो, वह सम्यग्दृष्टि समझा जा सकता है। वैसे जैनी व तेरापंथी बनने मात्र से कोई सम्यक्त्वी नहीं हो जाता और न मेरे पास आने से कोई सम्यक्त्वी बन जाता है। यदि मेरे पास आने से ही कोई सम्यक्त्वी बने, तब तो जिस पट्ट पर मैं बैठा हूँ, उसमें सबसे पहले सम्यक्त्व आना चाहिए। पर सम्यक्त्व का संबंध कर्मों के क्षय, क्षयोपशम और उपशम से है, अपने पुरुषार्थ से है। हम किसी को सम्यक्त्वी या मिथ्यात्वी नहीं बना सकते। मात्र उसे प्रेरणा दे सकते हैं।

यदि कोई कहे कि अणुव्रतियों में सम्यक्त्वी कितने हैं तो मेरे पास इसका कोई लेखा-जोखा नहीं है। अणुव्रती क्या, जैनी और तेरापंथी लोगों में कितने सम्यक्त्वी हैं, यह बताया जाना भी असंभव है। व्यवहार में बाहरी लक्षणों के आधार पर हम उसके सम्यक्त्वी होने या न होने का अनुमान करते हैं।

बीदासर

१३ जून १९५७

४८ : भगवान महावीर

जैन-धर्म एक सार्वजनिक धर्म है। इसके सिद्धांतहअहिंसा और सत्य जन-जन के अपनाने के लिए हैं। यह (जैन-धर्म) किसी की व्यक्तिगत संपत्ति नहीं है। लोग कह देते हैं कि अमुक धर्म अमुक जाति का है, परंतु वास्तव में धर्म किसी जाति-विशेष का नहीं होता। भला आत्मोत्थान का पथ किसी पथिक-विशेष के लिए कैसे हो सकता है! जैन जाति नहीं, धर्म है। जैन शब्द की व्युत्पत्ति 'जिन' शब्द से हुई है। 'जिन' का अर्थ हैहराग-द्वेष जीतनेवाला। जहां अन्य धर्मावलंबी ईश्वर का अवतार रूप में जन्म लेना मानते हैं, वहां जैन-दर्शन इसका खंडन करता है। यह ईश्वर का नहीं, महान आत्मा का अवतरित होना ही मानता है। महान आत्मा के रूप में अवतरित वह व्यक्ति ही धर्म-प्रचार और अधर्म-विनाश करता है। यदि ईश्वर ही ऐसा करे तो फिर धर्म-विनाश हो ही क्यों? जैन-धर्म के चौबीसवें तीर्थंकर भगवान महावीर देवायुष्य पूर्ण कर इस भूमि पर अवतरित हुए, जिसका वर्णन *आचारांग* के चौबीसवें अध्ययन में हमें उपलब्ध है।

भगवान महावीर के पांच कार्यहस्वर्ग से च्युत होकर गर्भागमन, गर्भ-संक्रमण, जन्म, दीक्षा और केवल-ज्ञान की प्राप्तिहएक ही नक्षत्रह उत्तरा-फाल्गुनी में हुए। सिर्फ निर्वाण स्वाति नक्षत्र में हुआ।

भगवान महावीर अवसर्पिणी के चौथे आरे (विभाग) के पचहत्तर वर्ष और साढ़े नौ महीने बाकी रहे, तब आषाढ़ शुक्ला षष्ठी को उत्तरा-फाल्गुनी नक्षत्र में दक्षिणब्रह्मणकुंडपुर ग्राम में ऋषभदत्त ब्राह्मण की पत्नी देवानंदा के गर्भ में आए। उस समय उनमें तीन ज्ञानहमति, श्रुत और अवधिहविद्यमान थे। आश्विन कृष्णा त्रयोदशी को बयासी रात्रियां पूरी हो जाने पर उत्तरा-फाल्गुनी नक्षत्र में तिरासीवीं रात्रि को देवता द्वारा गर्भ-संक्रमण किया गया। अर्थात् देवानंदा के गर्भ से बालक को उठाकर उत्तरक्षत्रियकुंडपुर ग्राम में नरेश सिद्धार्थ की महारानी त्रिशला की कुक्षि में

रखा। रखने से पूर्व त्रिशला की कुक्षि से अशुभ पुद्गल निकालकर शुभ पुद्गलों का संक्रमण किया। लोगों के मन में यह प्रश्न उठेगा कि यह क्यों किया गया; क्या ब्राह्मण एक नीची जाति है। नहीं, यह कोई नीची जाति की बात नहीं है, बल्कि पारंपरिक स्थिति की बात है। जितने भी तीर्थंकर हुए, वे सब क्षत्रिय हुए। हो सकता है, इस परंपरा के निर्वाह के लिए देवताओं ने ऐसा किया हो या फिर भवितव्यता अर्थात् ऐसा ही होना था, यह मानना पड़ेगा। प्रकारांतर से इसे ब्राह्मणी देवानंदा का दुर्भाग्य और त्रिशला का सौभाग्य ही माना जा सकता है।

जब वे त्रिशला के गर्भ में आए, माता को सिंह, हाथी, वृषभ, अग्नि, समुद्र, सूर्य, चंद्र, कुंभकलश, रत्नों की राशि, महेंद्रध्वज आदि चौदह तरह के शुभ स्वप्न आए। जब कोई महान आत्मा किसी महिला के गर्भ में आती है, तभी ये स्वप्न या इनमें से कुछ स्वप्न उसे आते हैं। देवानंदा ब्राह्मणी माता ने भी ये स्वप्न देखे, पर उसे ऐसा मालूम हो रहा था कि वे स्वप्न जा रहे हैं।

त्रिशला की कुक्षि से नौ माह साढ़े सात दिन बाद चैत्र शुक्ला त्रयोदशी को उत्तरा-फाल्गुनी नक्षत्र में भगवान का जन्म हुआ। उस समय भवनपति, व्यंतर, ज्योतिष्क, वैमानिक आदि सभी देवों ने उद्योत किया, जो तीनों लोकों में फैला। इससे नरकवासियों (नैरियों) को भी कुछ देर के लिए शांति मिली। अमृत, सुगंध, सोना, चांदी, फल आदि सात प्रकार की वर्षा हुई। देवियों ने प्रसूति-कार्य किया। उनके जन्म के बाद परिवार में धन, धान्य आदि की अभिवृद्धि हुई, अतः बालक का नाम वर्द्धमान रखा गया। फिर स्नानादि शुद्धि के बाद रिश्तेदारों को भोजन कराया गया और याचकों को भिक्षा दी गई। भगवान महावीर रत्न-जटित आंगन में पांच धाय माताओं द्वारा पाले गए। फिर वे बड़े हुए, ज्ञानी हुए और उनका विवाह भी हुआ।

उनके तीन नाम थेहवर्द्धमान, सन्मति और महावीर। उनके पिता के भी तीन नाम थेहसिद्धार्थ, श्रेयांस और यशस्वी। माता के भी त्रिशला, विदेहदिन्ना और प्रियकारिणीहये तीन नाम थे। काका का नाम सुपार्श्व, बड़े भाई का नाम नंदिवर्द्धन और बड़ी बहन का नाम सुदर्शना था। भगवान की पत्नी का नाम यशोदा था, जो कौंडिन्य गोत्र की थी। उनकी पुत्री के दो नाम अनवद्या और प्रियदर्शना थे। दौहित्री के भी दो नाम

थेहशेषवती और यशोमती।

भगवान के माता-पिता पार्श्वनाथ भगवान की परंपरा के श्रावक थे। उन्होंने श्रावकाचार का काफी वर्ष तक पालन किया, साधना की। अंत में अनशनपूर्वक शरीर का त्याग करके वे बारहवें देवलोक में गए। वहां से वे महाविदेह-क्षेत्र में अवतरित होकर निर्वाण प्राप्त करेंगे।

भगवान महावीर की प्रतिज्ञा थी कि माता-पिता के जीवन-काल में दीक्षा नहीं लूंगा। प्रतिज्ञा पूरी होने पर अर्थात् माता-पिता के स्वर्गस्थ हो जाने के बाद वे संयम लेने के लिए तैयार हुए। यहां लोग कहेंगे कि माता-पिता की मृत्यु होने पर संयम लेंगे, यह कैसी प्रतिज्ञा! इसके पीछे एक रहस्य है। जब भगवान गर्भ में थे, तब एक बार उनके मन विचार आया कि मैं यह जो हलन-चलन किया करता हूं, इससे माता को कष्ट होता होगा। और इस विचार के साथ ही उन्होंने हलन-चलन की क्रिया बंद कर दी। इससे माता के मन में संदेह हुआ कि संभवतः गर्भ गल गया है या और कुछ हो गया है। यह सुनते ही चारों ओर उदासी फैल गई। रंगरलियां भंग हो गईं। भगवान ने अपने ज्ञानबल से यह सब जान लिया। हलन-चलन बंद तो किया था कुछ और ही विचार कर, पर हुआ कुछ और ही। अतः हलन-चलन फिर शुरू कर दिया। फिर क्या था, चारों ओर पहले की तरह ही पुनः खुशी का वातावरण हो गया। लेकिन भगवान ने विचाराह्वजब इतने से ही माता-पिता बेचैन हो गए, तब संयम लेने से तो और ज्यादा दुःख होगा। अतः उन्होंने प्रतिज्ञा कर ली कि जब तक वे जीवित रहेंगे, मैं संयम नहीं लूंगा। उनकी मृत्यु के बाद जब अट्टाईस वर्ष की अवस्था में उन्होंने दीक्षा लेने का विचार किया, तब बड़े भाई नंदिवर्द्धन ने कहाह्वमेरा क्या हाल होगा! एक साथ माता-पिता का वियोग, फिर तुम भी अलग हो रहे हो! ज्येष्ठ भाई का अनुरोध स्वीकार करने के कारण उन्हें दो वर्ष फिर रुकना पड़ा। इस तरह वे तीस वर्ष तक गृहवास में रहे, फिर उन्होंने संयम लिया। संयम से एक वर्ष पूर्व उन्होंने दान दिया। वे दिन के पहले प्रहर तक एक करोड़ आठ लाख सौनैया (सोने के सिक्के) का दान देते थे। यह धन (गड़ा निधान, जिसका कोई मालिक नहीं।) देवता ला-लाकर देते थे। देवता यह भी कहतेह्वभंते! जागें, दुनिया दुखी है, उसे ज्ञान दें, उसका मार्ग-दर्शन करें। सारा संसार संतप्त है, उसे आपके सिवा शांति देनेवाला और है ही कौन?’

भगवान ने मार्गशीर्ष कृष्ण दशमी के दिन विजय मुहूर्त और उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र में दीक्षा ली। उन्होंने नाना प्रकार के अभिग्रह किए, नाना प्रकार की तपस्या की। उन्होंने देवों, दानवों और मानवों द्वारा दिए गए कष्ट समभावपूर्वक सहन किए। दीक्षा लेते ही भगवान को मनःपर्यव ज्ञान उत्पन्न हो गया था, जिसके द्वारा वे ढाई द्वीप तथा दो समुद्र में रहे हुए संजी पंचेंद्रिय जीवों के मनोगत भाव जानने लगे। इस प्रकार भगवान के पास चार ज्ञान हो गए।

भगवान ने एक शिष्य भी बनाया। उसका नाम गोशालक था। वह बड़ा अविनीत निकला। आगे चलकर वह महावीर से अलग हो गया और स्वयं को तीर्थंकर बताने लगा। इतना ही नहीं, उसने तेजोलब्धि से भगवान महावीर के दो साधुओं को भस्म कर डाला। भगवान का शरीर भी ऊपर से जला दिया, जिसका वर्णन भगवती सूत्र के पंद्रहवें शतक में आया है।

भगवान की कष्ट-सहिष्णुता देखकर इंद्र ने सभा में उनकी प्रशंसा की। इस पर संगम नामक एक देव उनकी परीक्षा करने आया। उसने छह माह में भगवान को बीस मारणांतिक कष्ट दिए। पर भगवान महावीर ने समभावपूर्वक उन्हें सहन किया। अंततः वह देव हारकर चला गया।

इस प्रकार साढ़े बारह वर्ष करीब कष्ट सहन करते-करते और तपस्या करते-करते उन्होंने मोहनीय आदि चार घाती कर्मों का वैशाख शुक्ला दशमी को उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र में क्षय कर डाला और वे केवलज्ञानी बन गए। देवता महोत्सव करने आए। भगवान ने प्रवचन किया। पर परिषद रूप में केवल देवी-देवता ही उपस्थित थे, अतः कोई भी साधु या श्रावक नहीं बना। दूसरे शब्दों में प्रथम देशना खाली गई। दूसरी देशना में हजारों मनुष्य और तिर्यंच भी उपस्थित हुए। इंद्रभूति आदि पंडितों ने इसे इंद्रजाल समझा और वे भगवान को जीतने के लिए आए। परंतु भगवान ने बिना पूछे ही उनकी नास्तिकता प्रकट कर ही और आस्तिक विचार उनके दिमाग में बिटाए। इस पर वे भगवान के शिष्य बन गए।

केवलज्ञान उपलब्ध हो जाने के पश्चात तीस वर्षों तक भगवान जैन-धर्म का प्रचार करते रहे। अंत में स्वाति नक्षत्र में भगवान का निर्वाण हुआ। आपके दो पट्टधरों (सुधर्मा स्वामी, जंबू स्वामी) तक

केवलज्ञान रहा। भगवान का निर्वाण होने के बीस वर्ष बाद जंबू स्वामी ने निर्वाणपद प्राप्त किया। इसके बाद छह पाट तक श्रुतकेवली रहे, जिनमें अंतिम श्रुतकेवली भद्रबाहु स्वामी थे। स्थूलिभद्र स्वामी, कालिकाचार्य (दसपूर्वधर) आगमों को लिपिबद्ध करनेवाले थे। बाद में क्रमशः देवर्धिगणी क्षमाश्रमण तक एक पूर्व का ज्ञान रहा।

महावीर ने जो सबसे महत्त्वपूर्ण बात कही, वह है समत्व की साधना की। यानी राग-द्वेष की भावना से ऊपर उठना। अहिंसा और अपरिग्रह का उपदेश भी महावीर ने बहुत प्रखरता से दिया। आज जैन-धर्म अहिंसा का पर्याय-सा बन गया है। अनेकांतवाद महावीर की बहुत महत्त्वपूर्ण देन है। यह सिद्धांत व्यवहारगत बनाकर हम विरोधी-से-विरोधी बातों में भी समन्वय और सामंजस्य खोज सकते हैं। एक अपेक्षा से यह वैचारिक अहिंसा का व्यावहारिक स्वरूप है। हम महावीर के अनुयायी हैं। हमारा कर्तव्य है कि हम उनके बताए गए मार्ग पर चलें। तभी हम उनके सच्चे अनुयायी कहलाने के अधिकारी हो सकेंगे।

बीदासर

२८ जून १९५७

४९ : साधु की श्रेष्ठता

कविवर गिरिधर ने कहा है

**बहता पानी निर्मला, पड़ा गंध-सा होय।
साधु तो रमता भला, रंज न लागे कोय॥**

बहुत गहरी बात है। पानी की निर्मलताह्रस्वच्छता और साधु की श्रेष्ठता दोनों तभी सुस्थिर रह सकती हैं, जब ये दोनों अबाध-गति से एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुंचते रहें। साधु-संतों के इस प्रकार के विहरण में स्वयं की साधना और श्रेष्ठता को सुरक्षित रखने का अभिप्रेत है ही, साथ-ही-साथ परोपकार की भावना भी अंतर्निहित है। इसी क्रम में साधु-संत आपके गांव में आए हैं।

यह बहुत स्वाभाविक बात है कि संतों का आगमन लोगों के लिए अत्यंत हितकर एवं अनिवर्चनीय आनंद की अनुभूति का हेतु होता है, परंतु उनके लिए किसी प्रकार की तैयारी अनपेक्षित है। साफ-साफ शब्दों में कहूं तो अहितकर है, आत्म-प्रवचना है। आप यह समझें कि साधु-संत सामान्य मेहमानों की तरह मेहमान नहीं होते। वे तो निराले ही मेहमान होते हैं, जिनका एकमात्र ध्येय जन-जन का सन्मार्ग-दर्शन है।

पर जो स्वयं ही भटका हुआ हो, उत्पथ में पड़ा हुआ हो, वह दूसरों का सही मार्ग-दर्शन कैसे करेगा; उन्हें सत्पथ पर कैसे लाएगा? जो स्वयं सत्पथ पर होता है, वही दूसरों को सत्पथ पर ला सकता है, उनका सही रूप में मार्ग-दर्शन कर सकता है। संतजन स्वयं सत्पथ के राही होते हैं, इसलिए वे दूसरों को मार्ग-दर्शन देने के सच्चे अधिकारी हैं।

प्रसंग तुकाराम का

संतों के जीवन की सबसे बड़ी विशेषता होती है ह्रस्वदृष्टि। प्रतिकूल-से-प्रतिकूल परिस्थिति भी वे अत्यंत शांतचित्त एवं समभाव से सहन करते हैं। संत तुकाराम का नाम आपने सुना होगा। महाराष्ट्र के वे

प्रसिद्ध गृहस्थसंत थे। बहुत ही शांत और सहिष्णुवृत्तिवाले पुरुष थे। पर कैसी बात कि जितने वे शांत और सहिष्णु स्वभाववाले थे, उनकी पत्नी उतनी ही उग्र स्वभाव की थी! वह तुकाराम को भी नहीं बर्ख्शती थी। एक दिन तुकाराम खेत से गांव लौट रहे थे। सिर पर ईख की भारी थी। बच्चों ने देखा और वे उनसे ईख मांगने लगे। तुकाराम ने मनाही करना तो मानो सीखा ही नहीं था। बच्चों को ईख देते रहे। घर पहुंचे तो मात्र एक ईख शेष बचा। उसे पत्नी को संभालाया। पत्नी ने मात्र एक ईख देखा तो पूछाह‘क्या खेत से एक ही ईख लाए हैं?’ तुकाराम ने कहाह‘नहीं, लाया तो बहुत-से था, पर मार्ग में बच्चे मांगने लगे, इसलिए उन्हें दे दिया।’ पति की यह बात सुनकर पत्नी को इतना गुस्सा आया कि उसने वह ईख तुकाराम के सिर पर दे मारा। प्रहार तेज था। ईख के दो टुकड़े हो गए। पर इस स्थिति में भी तुकाराम क्षुब्ध नहीं हुए, उत्तेजित नहीं हुए, बल्कि जहर को भी अमृत बनाते हुए बोलेह‘तुम कितनी अच्छी हो! ईख एक और हम खानेवाले दो। तुमने बिना तोड़े ही दो टुकड़े कर डाले। मुझे अब टुकड़े नहीं करने पड़ेंगे!’

बंधुओ! ऐसी सहिष्णुवृत्ति सचमुच उल्लेखनीय है, अनुमोदनीय है। संतजन यह साधना करते हैं। आप लोगों को उनके जीवन से प्रेरणा लेनी है। इसके लिए आप अपने मानस की पृष्ठभूमि निर्मित करें। जमीन तैयार हो जाने के पश्चात डाले गए ही बीज अंकुरित होते हैं। आप भी अपनी मानसिक पृष्ठभूमि तैयार करने के पश्चात ही संतों के मार्ग-दर्शन और प्रेरणा का पूरा लाभ उठा पाएंगे। यह एक ऐसी तैयारी है, जो संतों के लिए की जा सकती है और करनी भी चाहिए।

बीदासर

५० : सुरक्षा और निर्भयता का स्थान

एक वह समय था, जमाना था, जब बाजार को व्यक्ति की सुरक्षा एवं अभय का स्थान समझा जाता था। गली-कूचों में जब-कभी अरक्षा की स्थिति बन जाती थी, भय का वातावरण बन जाता था, तब व्यक्ति बाजार में पहुंचकर अपने-आपको सुरक्षित महसूस करता था, निर्भय बन जाता था, सुख की सांस लेता था। पर समय बदला, परिस्थितियां बदलीं और आज बाजार अरक्षा का स्थान बन गया है, भय का अड्डा बन गया है। व्यक्ति बाजार में जाते समय आशंकित होता है कि कहीं दुकानदार कान न कतर लें। यह स्थिति व्यापारियों के लिए गरिमामय नहीं है, बल्कि दुर्भाग्य की बात है, गंभीर चिंतनीय बात है। व्यापारियों को आत्म-निरीक्षण करना चाहिए, अपने आचरण और व्यवहार की तटस्थ समीक्षा करनी चाहिए। यदि ईमानदारीपूर्वक वे ऐसा करेंगे तो मेरा विश्वास है कि उन्हें यथार्थ का बोध होगा, अपनी दुष्प्रवृत्तियों का ख्याल आएगा और वे अपने-आपमें परिवर्तन की अपेक्षा महसूस करेंगे। मैं व्यापारियों से कहना चाहता हूँ कि वे अपनी प्राचीन प्रतिष्ठा और गौरव को पुनः प्राप्त करें, बाजार को पुनः सुरक्षा और अभय का स्थान बनाने का प्रयत्न करें। इसके लिए उन्हें नैतिकता और प्रामाणिकता स्वीकार करनी होंगी, सत्यनिष्ठ बनना होगा। भले प्रारंभ में उन्हें यह अटपटा-सा लगे, पर इसका बहुत सुखद परिणाम आएगा। अणुव्रत इस दिशा में आपका कुशल मार्ग-दर्शक है। आप अणुव्रत-पथ अपनाएं और अपनी जीवनधारा बदलें। निश्चित रूप में बाजार पुनः सुरक्षा और अभय का स्थान बन सकेगा।

सुजानगढ़

६ जुलाई १९५७

५१ : अणुव्रत

व्रत के दो विभाग

व्रत अपने-आपमें एक दृष्टि से अखंड होता है। पर आधार-भेद से वह भी अणुव्रत और महाव्रतहइन दो भागों में विभक्त हो जाता है। महाव्रत यानी पूर्ण व्रत, अणुव्रत यानी छोटे-छोटे व्रत, आंशिक व्रत। ये व्रत के विभाग नहीं हैं, अपितु ग्रहण करनेवालों की क्षमता के आधार पर वह महा और अणु इन रूपों में आ जाता है। जो महाव्रत का पालन नहीं कर सकता, वह अणुव्रतों को ग्रहण करता है। जैसे, कोई एक व्यक्ति पूरी रोटी खा लेता है, दूसरा एक साथ पूरी रोटी नहीं खा सकता तो वह टुकड़े-टुकड़े करके कई बार में खाता है। ठीक इसी प्रकार जो महाव्रत का पालन नहीं कर सकता, वह अणुव्रतों का पालन करता है। इसी लिए अणुव्रतों को कोई भी ग्रहण कर सकता है। एक किसान, स्वर्णकार, नेता, वैद्य, वकील, कार्यकर्ता, भाई, बहन सब अपना-अपना धंधा करते हुए भी अणुव्रती बन सकते हैं। अणुव्रत का लक्ष्य हैहव्यक्ति भले किसी स्थिति में क्यों न हो, उसमें विकृति नहीं आनी चाहिए। इस प्रकार अणुव्रत हर-एक को अपने क्षेत्र में रहकर जीवन के परिष्कार की बात बताता है।

अणुव्रत-आंदोलन का आधार-तत्त्व

अणुव्रत की आधारशिला हैहसंयम। इसलिए हम संयम के आधार पर ही जन-जीवन का परिवर्तन करना चाहते हैं। कई लोग परिस्थिति बदलकर जीवन बदलने में विश्वास करते हैं। प्रथम दृष्टि से यह कुछ सही लगते हुए भी अंततः पूर्ण सही नहीं है, क्योंकि परिस्थिति के परिवर्तित हो जाने पर जीवन का परिवर्तन हो ही जाए, यह एकांततः संभव नहीं है। यद्यपि अत्यंत विपन्न अवस्था में परिस्थितियां मनुष्य को अपने कर्तव्य-पथ से विचलित कर सकती हैं। इसी लिए कहा गया हैह**बुभुक्षितः किं न करोति पापम्।** पर कुछ ऐसे उदाहरण भी सामने

आते हैं, जहां अति संकट और अभाव में रहकर भी व्यक्ति अपनी मानवता की रक्षा करता है, और शायद आज तो नैतिक लोगों में उनकी संख्या ज्यादा होगी, जो अभाव में पलते हैं। जो देश साधनसंपन्न हैं और जहां अभाव शायद बहुत कम है, वहां भी अनैतिकता न हो, ऐसी बात तो नहीं है। इसलिए अनीति को केवल अभावोत्पन्न मान लेना उचित नहीं लगता। इसके बावजूद अभाव मिटाने के लिए कुछ लोग प्रयत्न करते ही हैं। हमारा काम हैहपरिस्थिति के रहते हुए भी मनुष्य को संयम की ओर प्रेरित करना। साधना का पहला सूत्र ही यह है कि व्यक्ति अनुकूल-प्रतिकूल जिस-किसी परिस्थिति में रहता हुआ भी अपनी मानवता की रक्षा करे। यद्यपि यह साधना कठिन है, पर है उत्कृष्ट कोटि की। यह कोई बड़ी बात नहीं है कि धन प्राप्त हो जाने पर मनुष्य अनीति न करे। पर बड़ी बात तो यह हैहत्तच्चित्रं यदि निर्धनोपि मनुजः पापं न कुर्यात् क्वचित्। यानी निर्धन होकर भी मनुष्य पाप कर्म न करे। विकार हेतौ सति विक्रियन्ते, येषां न चेतांसि त एव धीराः। यानी विकार के साधन रहने पर भी जो मनुष्य विकारग्रस्त नहीं होता, वह महान है। दशवैकालिक सूत्र में कहा हैह

- वत्थगन्धमलंकारं, इत्थीओ सयणाणि य।
अच्छंदा जे न भुंजन्ति, न से चाइ ति वुच्चइ॥
- जे य कन्ते पिए भोए, लद्धे विपिट्टिकुव्वई।
साहीणे चयइ भोए, से हु चाइ ति वुच्चई॥

ह भोग-सामग्री के प्राप्त नहीं होने पर जो उसका उपभोग नहीं करता है, वह त्यागी नहीं है। त्यागी तो वह है, जो उसकी प्राप्ति होने पर भी स्ववशता उसे टुकरा देता है।

इस दृष्टि से अणुव्रत का लक्ष्य हैहपरिस्थिति के रहते हुए भी उसका सामना किया जाए।

अणुव्रत : असांप्रदायिक और नैतिक आंदोलन

एक और बात मैं स्पष्ट कर देना चाहता हूँ। अब तक भी कुछ लोग अणुव्रत को सांप्रदायिक मानते हैं। पर अब जबकि सारे राष्ट्र में इसे मान्यता मिल चुकी है, इसे तेरापंथ का नवीनीकरण मानना बिलकुल गलत है। अणुव्रत किसी धर्म-विशेष का आंदोलन नहीं है, बल्कि सब धर्मों का समन्वित रूप है। दूसरी दृष्टि से नैतिक पक्ष पर विशेष बल

देने से अणुव्रत-आंदोलन का स्वरूप धार्मिक की अपेक्षा नैतिक अधिक है। इसी लिए अपना जीवन नैतिक बनाकार एक मनुष्य किसी धर्म-विशेष को मानता है तो अणुव्रत उसका हाथ नहीं पकड़ता। अपना जीवन उन्नत बना लेने के बाद भले एक अणुव्रती मूर्ति-पूजा करता है, भले वह मस्जिद में जाता है या और किसी धर्म-विशेष से संबद्ध रहता है तो इससे उसके अणुव्रत-पालन में बाधा नहीं आती। यद्यपि अणुव्रत को अपनाकर व्यक्ति धार्मिक बनता है, तथापि वह किसी धर्म-विशेष की मान्यता को प्रधानता देता है या नहीं, यह प्रश्न कोई विशेष महत्त्व नहीं रखता। एक अणुव्रती तेरापंथी हो, यह आवश्यक नहीं है। इस दृष्टि से अणुव्रत धार्मिक की अपेक्षा नैतिक ज्यादा है।

भावनामूलक आंदोलन

अणुव्रत-आंदोलन व्रत का आंदोलन है। जो अणुव्रती बनता है, उसे कुछ व्रत ग्रहण करने पड़ते हैं। पर यह ध्यान रखने की बात है कि व्रत ही सब-कुछ नहीं है। व्रत तो जीवन की एक दिशा मात्र है। इससे व्यक्ति को आगे बढ़ने का रास्ता मिल जाता है, पर वास्तव में तो यह भावनामूलक है। व्रत का भंग नहीं हो, यह ध्यान रखना आवश्यक है। पर इसके साथ-साथ व्यवहार देखना भी अति आवश्यक है। एक काम करने में व्रत का भंग तो नहीं होता, पर व्यवहार अच्छा नहीं लगता तो अणुव्रती को उससे बचना चाहिए। इस दृष्टि से अणुव्रत नियम से आगे भी बहुत-कुछ है और वह है जीवन को सरल बनाने की प्रक्रिया।

अणुव्रती कौन-सा व्यापार करे

एक प्रश्न है कि अणुव्रती को कौन-सा व्यापार करना चाहिए। इस संबंध में मैं क्या कहूँ? जब मैं स्वयं व्यापार नहीं करता, तब इसके बारे में बताऊँ भी क्या? व्यक्ति जो काम करता है, उसे उस काम के बारे में बताने का अधिकार हो सकता है। किंतु जो व्यक्ति स्वयं कुआं न बनाए और दूसरों को कुआं बनाने का निदेशन करे, यह कैसा न्याय! अतः जो व्यापार नहीं करता तो उसे व्यापार का निदेश देने का क्या अधिकार? और वास्तव में अणुव्रत की तो यही दृष्टि है कि कोई व्यक्ति चाहे जिस-किसी धंधे में हो, वह उसमें अनैतिकता नहीं बरते। यह आवश्यक नहीं कि अणुव्रती अपने-अपने क्षेत्र से उखड़कर एक ही व्यापार के पीछे लग जाएं। इससे क्या अणुव्रत एक क्षेत्र-विशेष में नहीं बंध जाएगा?

अणुव्रत तो एक खुली चीज है। अणुव्रत व्यक्ति-व्यक्ति से कहता है कि चाहे वह किसी क्षेत्र में हो, अनैतिकता न करे, यह आवश्यक है। जो अनैतिक व्यापार हैं, वे तो स्वयं पहले ही छूट जाते हैं। अतः उनमें नैतिकता-अनैतिकता का प्रश्न ही क्या? पर इसके बाद जो व्यापार शेष रह जाते हैं, उनमें अनैतिकता नहीं हो, यह अणुव्रत का लक्ष्य है। इस दृष्टि से अणुव्रत का क्षेत्र बहुत विस्तृत हो जाता है।

क्या अणुव्रत निवृत्त व्यक्तियों के लिए है

कई लोगों का ख्याल है कि अणुव्रती तो वे ही बन सकते हैं, जो व्यापार से निवृत्त हों। जो व्यापार करते हैं, उन्हें चूंकि अनेक प्रकार के अनैतिक काम करने पड़ते हैं, इसलिए वे अणुव्रती नहीं बन सकते। पर यह विचार सही नहीं है। कल ही एक भाई सुना रहा थाह 'मैंने व्यापार में एक बात अपनाई कि किसी चीज के दो मूल्य नहीं बताना। बच्चा, बूढ़ा, युवक, महिला, ग्रामीण कोई भी खरीदनेवाला क्यों न आए, उसे एक ही मूल्य बताना, सचाई और ईमानदारीपूर्वक उसे माल देना। इसका असर इतना हुआ कि मेरी दुकान सारे गांव में अच्छी चलने लगी। दूसरे दुकानदार भी इस अनुभव से प्रभावित हुए और उन्होंने भी अपनी-अपनी दुकान पर यही क्रम अपना लिया।' इस प्रकार नैतिक व्यापार के द्वारा उसकी अपनी ही दुकान अच्छी नहीं चलने लगी, बल्कि सारे गांव में एक प्रकार का नैतिक वायुमंडल बन गया। वह भाई कोई रिटायर्ड नहीं है। अच्छी तरह से उसका व्यापार भी चलता है। ऐसी स्थिति में यह कैसे कहा जा सकता है कि अणुव्रत तो निवृत्त आदमियों के लिए ही हो सकता है? लोग केवल डरते हैं कि अणुव्रत का वे कैसे पालन कर सकेंगे। पर आप मेरा कहना मानें, अणुव्रत डरनेवाली चीज नहीं है। आप उसका अनुभव करके देखें। इससे आपको एक प्रकार की अनुपम शांति मिलेगी।

सुजानगढ़

७ जुलाई १९५७

५२ : जीवन की सही रेखा

इस कीमती मानव-जीवन में परिवर्तन की बड़ी आवश्यकता है। विचारशक्ति की दुर्बलता के कारण मनुष्य अपने-आपको बदल नहीं पा रहा है। अतः सर्व प्रथम विचारों की सुदृढ़ता वांछनीय है। जब एक छोटी-सी घटना भी जीवन में आमूलचूल परिवर्तन ला देती है, तब इस परिवर्तनशील युग में आप क्यों पिछड़ रहे हैं? अच्छा होगा, संसार बदलने से पहले ही आप संभल जाएं, अन्यथा युग के थपेड़े खाकर तो आपको बदलना ही पड़ेगा।

मैं जानता हूँ कि सब लोग अकिंचन नहीं बन सकते। पर कम-से-कम अपने जीवन में अनैतिकता व भ्रष्टाचार को तो न पनपने दें। आप केवल एक मंत्र अपना लेंहबेईमानदारी से 'बे' को दूर कर दें। फिर देखें, आप का जीवन कैसा सर्वांगमय सुंदर हो जाता है! व्यापारियों द्वारा किया जानेवाला शोषण व लूट की प्रवृत्तियां अमानवीय हैं। आप अपने भाई को ही ठगना चाहते हैं तो मैं कहूँगा कि साथ-ही-साथ आप अपनी आत्मा एवं ईश्वर को भी ठगने से वंचित नहीं रखते।

सही जीवन-निर्माण के लिए आप अपने-आपको अणुव्रत के ढांचे में ढालें। व्यक्ति-व्यक्ति का जीवन किस प्रकार ऊंचा उठे, इस दृष्टि से हमें प्रयत्न करना है और हमारे आगमन का यह एकमात्र उद्देश्य है। मैं आपको केवल मानव बनाना चाहता हूँ, देवता नहीं। आज जब मानवता ही नहीं, तब देवता बनने की बात ही क्या?

जीवन की परिभाषा

एक प्रश्न किया जाता है कि जीवन की परिभाषा क्या है। मैं नहीं समझता, जब जीवन सामने है तो उसका प्रश्न कैसा। बावजूद इसके, प्रश्न होता है। और इसका कारण भी है। कारण यह है कि भिन्न-भिन्न लोग उसकी भिन्न-भिन्न परिभाषाएं करते हैं। हमारी और आपकी

परिभाषाओं में भी अंतर होगा, क्योंकि संतों की दृष्टि और साधारण जनों की दृष्टि में कुछ अंतर होगा ही। इसी गीता में कहा गया है

या निशा सर्वभूतानां, तस्यां जागर्ति संयमीः।

यस्या जागर्ति भूतानि, सा निशा पश्यतो मुनेः॥

हम साधारण लोगों के लिए जो रात है, उस समय संतपुरुष जागते हैं, धर्म-चिंतन करते हैं। जब दूसरे मनुष्य जागते हैं, उस समय संत लोग नींद लेते हैं।

यह एक रूपक है, जिसका व्याप्ति-क्षेत्र सारा लोक है। इसके अनुसार संतों की प्रवृत्ति और साधारण लोगों की प्रवृत्ति में बड़ा अंतर होता है। साधारण मनुष्य जहां भोजन में आनंद मानता है, वहां संत लोग उपवास में आनंद मानते हैं। साधारण मनुष्य बगीचे में जाकर फूलों की भीनी-भीनी सुगंध प्राप्त करके सुख का अनुभव करते हैं, वहीं संत लोग एकांत में सुख का अनुभव करते हैं। कितना अंतर है। यह यद्यपि संत लोग भी सुख का अनुभव करते हैं, पर उनके सुख के कारण भिन्न हैं। राजर्षि भर्तृहरि ने कहा है

मही रम्या शय्या विपुलमुपधानं भुजलता,

वितानं चाकाशं व्यजनमनुकूलोयमनिलः।

स्फुरद्दीपश्चंद्रो विरति-वनिता संगमुदितः,

सुखं शान्तः शैते मुनिरतनुभूतिर्नृप इव॥

हम राजा यदि सोता है तो उसके लिए शय्या की आवश्यकता होती है। मुनि भी शय्या पर सोता है। किंतु उसकी शय्या स्वच्छ भूमितल ही है। राजा अपने सिरहाने तकिया रखता है तो मुनि का अपना हाथ ही तकिया है। उसे वह अपने सिर के नीचे ले लेता है। राजा की शय्या के ऊपर वितान होता है तो मुनि के लिए सारा आकाश ही वितान है। राजा को दीपक की आवश्यकता होती है तो मुनि के लिए सुधाश्रावी चंद्रमा ही दीपक है। राजा को गरमी में पंखे की आवश्यकता होती है, मुनि के लिए अनुकूल पवन ही पंखा है। राजा अपनी रानी के साथ सोता है तो मुनि भी अपनी विरक्ति रूपी जीवनसंगिनी को कहीं और जगह छोड़कर नहीं सोता। अर्थात् सोते समय भी उसमें विरक्ति रहती है।

राजा के सुख और मुनि के सुख की इस तुलना से स्पष्ट है कि मुनि राजा से किंचित भी कम सुखी नहीं है। तब फिर राजा और मुनि के सुख में अंतर क्या रहा? अंतर केवल इतना-सा है कि राजा जिन साधनों में सुख मानता है, मुनि उनसे भिन्न साधनों में सुख मानता है। इसी प्रकार साधारण लोग जहां भोग में सुख मानते हैं, वहां मुनि त्याग में सुख-शांति का अनुभव करता है। यह हैहजन-साधारण और मुनि के दृष्टिकोण में अंतर। अतएव हमारी और दूसरे लोगों के जीवन की परिभाषाओं में भी फर्क पड़ जाता है। दूसरे लोग खाने-पीने और ऐश-आराम में ही जीवन की सार्थकता मान लेते हैं, वहां हम कहते हैं कि संयम ही जीवन है।

संयम सबके लिए सुखकर है

कोई कह सकता है कि यदि जीवन की उपर्युक्त परिभाषा सही है तो यह केवल आपके लिए ही क्यों; दूसरों को भी उसमें सुख की अनुभूति होनी चाहिए, अन्यथा यह सही परिभाषा नहीं है। इसका समाधान यही है कि मिश्री मीठी होती है और सबके लिए मीठी होती है, पर जिस मनुष्य को सांप काट खाता है, उसे मिश्री भी खारी लगेगी। इसी प्रकार जब तक मनुष्य में वासना का जहर रहेगा, तब तक उसे संयम का सुख अनुभव नहीं होगा। जब वह जहर बाहर निकल जाएगा, तब उसे भी संयम में सुख का अनुभव हुए बिना नहीं रहेगा। संयम का मतलब केवल संन्यास नहीं है। मैं जानता हूँ कि यहां अगर मैं संन्यास की चर्चा करूंगा तो वह बहुत कम लोगों के काम की बात होगी। बिना मूल्य के एक शब्द कहना भी गलत है। एक कवि ने कितना सुंदर कहा हैह

वचन रतन मुख कोट है, होंठ कपाट बनाय।

समझ-समझ हरफ काढ़िए, मत परवश पड़ जाय।

अतः मुझे आपसे से वहीं बात कहनी है, जो आपके लिए उपयोगी बन सके। सबसे पहली बात हैहआप खाने में संयम रखें। वास्तव में संयम ही जीवन की सही रेखा बन सकती है। यदि कोई मनुष्य खाने में संयम न रखे और खाता-ही-खाता चला जाए तो उसकी क्या दशा होगी? स्पष्ट है, उसका जीवन खतरे में पड़ जाएगा। अतः यह समझना नितांत आवश्यक है कि संयम के बिना जीवन भी नहीं चल सकता। तब फिर मनुष्य उसकी ओर ध्यान क्यों नहीं देता? भोजन करने बैठे, तब

उसे यह ध्यान रहना चाहिए कि चार ग्रास कम लिए जाएं। यद्यपि यह कठिन है। उपवास हो सकता है पर अनुकूल वस्तु सामने आ जाने पर चार ग्रास कम लिए जाएं, यह बड़ी मुश्किल बात है। इसी लिए शास्त्रों में इसे एक प्रकार की तपस्या कहा गया है। फिर यह तो नगद धर्म है। जो कोई इसका आचरण करेगा, तत्काल उसे सहज ही एक अनिर्वचनीय आनंद का अनुभव होगा। थोड़े-से खाने के असंयम के कारण कई बार दिन-भर आलस्य आता रहता है। अतः इस ओर ध्यान रखा जाए तो इससे सहजतया बचा जा सकता है। वाणी का संयम भी आवश्यक है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि वाणी के थोड़े-से अविवेक के कारण भयंकर लड़ाई हो जाती है। अतः एक-एक शब्द तौलकर बोलना चाहिए। इसी प्रकार चलने में भी संयम रखना आवश्यक है। बिना देखे चलने से दूसरे जीव तो मरते ही हैं, साथ ही कभी-कभी व्यक्ति स्वयं भी ऐसी ठोकर खाता है कि जिसे जीवन-भर भूलना मुश्किल हो जाता है। इसी लिए कहा गया है **दृष्टिपूतं न्यसेत् पादम्**। सुनने में भी संयम की मात्रा रहनी चाहिए। यद्यपि **शब्दगुणमाकाशम्** के अनुसार आकाश में शब्द तो व्याप्त रहते ही हैं और वे कानों में भी पड़ते हैं। पर सुना गया हर शब्द याद रखने का नहीं होता। जो भूलने का होता है, उसे तो भुला ही देना चाहिए।

संयम का विकास : सुख का विकास

अब प्रश्न है कि संयम को स्वीकार कौन कर सकता है। वही, जो उसे स्वीकार करना चाहता है। यह अवश्य है कि संयम उसी मनुष्य में ठहर सकता है, जिसका जीवन पवित्र हो। **धम्मो सुद्धस्स चिट्ठइ** यह वाक्य इसी ओर संकेत करता है। जिसका जीवन जितना पवित्र और उंचा होगा, उसके जीवन में संयम की मात्रा भी उतनी ही अधिक होगी। और जितनी अधिक संयम की मात्रा जीवन में होगी, सुख की मात्रा भी उतनी ही अधिक होगी। निष्कर्ष की भाषा में संयम का विकास ही सुख का विकास है। मैं आपको यह कैसे समझाऊं कि विलास में सुख नहीं है? यह कोई पदार्थ होता तो उसे मैं आपके सामने रख देता। पर यह अनुभव है और अनुभव के बिना आचरण की प्राप्ति नहीं हो सकती। अगर आप वास्तव में ही सुख चाहते हैं तो मेरी बात मानें और संयम का रास्ता अंगीकार करें। फिर आप निःसंदेह यह बात भूल जाएंगे कि

विलास में भी कोई सुख होता है।

संयम शब्द का अर्थ तो मैं क्या करूं! यदि किसी को सूर्य को बताने की आवश्यकता होती है तो संयम का बताने की आवश्यकता होगी। वह तो स्वयं इतना प्रकट है कि उसे बताने की कोई आवश्यकता नहीं। बावजूद इसके, शब्दों में उसे आप जानना चाहें तो नियम, प्रतिज्ञा, नियंत्रण, आत्मानुशासन, निग्रह अथवा अपने पर काबू रखना यही इसका मतलब है। इसे आप जिएं। आपके जीवन में सुख की धारा बह चलेगी।

५३ : धर्म आचरण का विषय है

अहिंसा का नाम आते ही भगवान महावीर और जैन-धर्म के नाम भी सहसा याद आ जाते हैं, क्योंकि उन्होंने अहिंसा को जितनी गति से प्रस्तुत किया, उतनी गति से शायद औरों ने नहीं किया। पर आज तो ऐसा लगता है, जैसे जैनों ने इसे भुला ही दिया हो। अतः आज यह अपेक्षित है कि वे लोग अहिंसा को पुनः जाग्रत करने में अपना सहयोग दें। जिस जैन-धर्म ने सारे संसार को शांति का उपदेश दिया, उसके ही अनुयायी आज आपस में लड़ें, यह उन्हें शोभा नहीं देता। स्वयं जैनों ने आज जैन-धर्म को अत्यंत संकुचित बना दिया है, यह देखकर बड़ा आश्चर्य होता है। जैन-धर्म का आज अर्थ लिया जाता है हबनियों का धर्म। इसी लिए हम जहां भी जाते हैं, पहले हमें यह स्पष्ट करना पड़ता है कि जैन-धर्म मात्र बनियों का धर्म नहीं है। वह तो सभी का है और उसी का है, जो उसका पालन करता है या करना चाहता है। अन्य लोगों की यह भ्रांति उसके अनुयायियों की इस बड़ी भारी भूल का परिणाम है। जैन-धर्म तब तक जन-धर्म नहीं बन सकता, जब तक आप उसे अपना मानकर, अपने-आपसे ही चिपकाए रहेंगे। हो सकता है, इस प्रकार वह आपका व्यक्तिगत कल्याण करे, पर वह समूची मानवता का कल्याण नहीं कर सकता। जैन-धर्म में वस्तुतः ही मानवता के कल्याण की क्षमता है। अतः उसके दरवाजे हमें सभी के लिए खोल देने चाहिए।

अणुव्रत-आंदोलन के माध्यम से हमने यही काम शुरू किया है। इससे जैनों की स्वयं की शुद्धि तो होगी ही, पर दूसरे लोग भी जैन-तत्त्व से बहुत बड़ा कल्याण कर सकेंगे। कुछ लोगों ने मुझसे कहा है 'महाराज! आपने तो जैन-धर्म का वह घेरा तोड़कर बहुत बड़ा काम किया है।' पर मैं नहीं समझता, मैंने इसमें कौन-सा बड़ा काम किया है। अभी तक तो

हमने अपनी भूल सुधारी है। क्या धर्म में भी कभी संप्रदाय के भेद होते हैं? वह तो पतित-पावन है। जो भी कोई उसमें अवगाहन करना चाहे, करे, पर उस पर अपना अधिकार कैसा!

साधु-समाज की सार्थकता

आज तो साधुओं का भी एक समाज बना है। और वास्तव में ही आज उनके लिए एक स्वर्णिम अवसर है कि वे गृहस्थ-समाज को एक नई प्रेरणा दें। अगर आज उन्होंने इस दिशा में काम किया तो गृहस्थ-समाज उनका युग-युग तक ऋणी रहेगा। साधु केवल अपने घमंड में बैठे रहें, यह आज चलनेवाला नहीं है। उन्हें अपनी अकर्मण्यता छोड़कर कुछ सक्रियता अपनानी पड़ेगी। साधुओं की यही बड़ी साधना है कि वे अपने कल्याण के साथ-साथ दूसरों के जीवन को ऊंचा उठाने की भी कोशिश करें। वह साधु कोई ऊंचा साधु नहीं है, जो केवल लाखों का नेतृत्व करे और मठों में बैठा रहे। सच्चा नेतृत्व तो वह है, जो अपने अनुयायियों को सुधारने के लिए कुछ प्रयत्न करे। केवल समाज बनाने से कुछ हो जानेवाला नहीं है, जब तक कि साधु-संतों ने अपने-अपने मठ का मोह नहीं छोड़ा।

आज एक विपर्यय भी हो रहा है। लोग समझने लगे हैं कि जैन लोग सारे ही लखपति हैं, धनकुबेर हैं। पर वास्तविकता ऐसी नहीं है। उनमें ज्यादा लोग मध्यम वर्ग के हैं। धनकुबेर की गिनती में आनेवाले तो बहुत थोड़े हैं। वैसे धनिक भी सारे गलत ही हैं, ऐसी बात, भी नहीं है। पर जो लोग अनैतिक तरीकों से अर्थार्जन करके केवल संग्रह करना चाहते हैं, उन्होंने जैन-तत्त्व समझा है या नहीं, यह सोचने की बात है। केवल नाम से तो कोई जैन नहीं हो जाता। मुझे बड़ा दुःख होता है, जब कुछ स्वार्थी लोग इस पवित्र नाम का भी दुरुपयोग करते नहीं सकुचाते। कई जगह दुकानों पर लिखा होता है 'जैन स्टोर'। यह देखकर मेरे मन में प्रश्न उठता है कि क्या यहां पर प्रामाणिकता बरती जाती है; क्या यहां पर अनैतिक तरीके नहीं अपनाए जाते; यदि यहां भी अप्रामाणिकता और अनैतिकता चलती हैं तो क्या सचमुच ही यह 'जैन' शब्द का गलत उपयोग नहीं है। कई महाशय अपने नाम के पीछे 'जैन' लिखते हैं। पर जब उनके आचरण देखे जाते हैं तो संकोच महसूस होता है। इसी प्रकार जूतों और बीड़ियों पर भी 'जैन' की छाप लगी देखकर मन में आता है

कि क्या यह इस नाम का दुरुपयोग नहीं है।

भगवान महावीर ने कहा

सोही उज्जुयभूयस्स, धम्मो सुद्धस्स चिद्धइ।

ह जो ऋजु है, जिसकी आत्मा शुद्ध है, वही धर्म कर सकता है।

अब प्रश्न है कि शुद्ध आत्मा धर्म कर सकती है या धर्म करने पर ही आत्मा शुद्ध हो सकती है। यह तो ठीक वैसा ही विवाद का विषय है, जैसा भाग्य और पुरुषार्थ का। भाग्य होने से ही पुरुषार्थ हो सकता है या पुरुषार्थ से भाग्य का निर्माण होता है? हम इस विवाद में अभी न जाएं, तथापि इतना तो तय है कि जैसा हम करेंगे, वैसा हमें भोगना पड़ेगा और अवश्य भोगना पड़ेगा। इसी लिए कहा गया है **ह्यत्कृतं तदवश्यं भोक्तव्यम्।** यही बात धर्म के संदर्भ में जाननी चाहिए। वह भी शुद्ध आत्मा में ही टिक सकता है। जिस प्रकार फूटे घड़े में पानी कभी नहीं टिक सकता, उसी प्रकार धर्म के लिए भी पात्रता की आवश्यकता है। यह ठीक है कि धर्म आत्मा की विशुद्धि का एकमात्र साधन है, पर उसको टिकने के लिए एक सीमा तक प्राथमिक विशुद्धि तो चाहिए ही। पात्रता के बिना वह कहीं कैसे टिक सकता है? विद्या के लिए *उपनिषद* में कहा गया है

विद्याह वै ब्राह्मणमा जगाम गोपाय मा शेषधिष्टेऽहमस्मि असूयकाय!

अनृजवेऽयताय न मा दोहि वीर्यवती तथा स्याम्॥

ह विद्या ब्राह्मण से कहती है कि मैं तुम्हारी निधि हूँ। तुम मुझे तीन प्रकार के व्यक्तियों से बचाओ, ताकि मैं वीर्यवती बन सकूँ। प्रथम तुम मुझे किसी ईर्ष्यालु व्यक्ति को मत देना। दूसरे में किसी कुटिल को मत देना। तीसरे में आलसी मनुष्य को मत देना।

जब विद्या भी ऋजुहनिष्कपटहृदय बने बिना नहीं ठहर सकती, तब धर्म भी बिना सरल बने आत्म-प्रतिष्ठित कैसे होगा? बचपन में मनुष्य को विद्या ज्यादा आती है, बड़े होने के बाद नहीं आती। इसका क्या कारण है? कारण यही कि बचपन बड़ा निष्कपट होता है। बड़ा होने पर वैसी निष्कपटता प्रायः नहीं रहती। अतः आपको अगर धर्म-तत्त्व की प्राप्ति करनी है तो पहले अपने-आपको निष्कपट तथा सरल बनाना होगा। ठीक उसी प्रकार, जिस प्रकार बच्चा होता है। जिस प्रकार उसमें

छिपाने की प्रवृत्ति नहीं होती, उसी प्रकार धार्मिक को भी अपने-आपको छिपाने की आवश्यकता नहीं है।

धर्म क्या है

प्रश्न है कि वह धर्म क्या है; क्या वही धर्म, जिसने इतिहास के पृष्ठ खून से रंगे; क्या वही धर्म, जिसने भाई-भाई के बीच दरारें बनाईं। आज भी बहुत-से लोग इस आशय की बात कह देते हैं कि मेरे धर्म को बुरा कह दे तो बदमाश की आंख निकाल लूं। पर भाई! यह कहकर क्या तुमने स्वयं अपने धर्म को बुरा नहीं बता दिया है? सामान्यतः संसार में लड़ाई के तीन कारण माने गए हैं। कवि सरूपदास के शब्दों में

तीन बात है वैर की, जर, जोरू, जमीन।

‘सरूपदास’ तिहुंपे अधिक, मत की बात महीन॥

ह संसार में धन, स्त्री और जमीन के कारण लड़ाइयां होती हैं। पर इन तीनों के अतिरिक्त भी लड़ाई होने का एक बहुत बड़ा कारण है और वह है धर्म। इसकी बात बड़ी सूक्ष्म है।

पर यह सही धर्म का स्वरूप नहीं है। धर्म तो मनुष्य को मिलना सिखाता है। जो धर्म मनुष्य-मनुष्य को आपस में लड़ाए, वह वास्तव में धर्म है ही नहीं।

धर्म आचरण का विषय है

आज धर्म के आधार पर अनेक अखाड़े बन गए हैं। उन्होंने धर्म को चर्चा का विषय बना लिया है। इससे धर्म का बहुत नुकसान हुआ है। धर्म तो वास्तव में आचरण का विषय है। चर्चा धर्म का स्वरूप नहीं है। एक बार सर्वाजित नाम के एक व्यक्ति के सिर पर सबको पराजित करने की धुन सवार हुई। वह जिस-किसी के पास जाता और चर्चा करके उसे हरा देता। इस प्रकार हराते-हराते उसने अपनी दृष्टि से किसी को बाकी नहीं छोड़ा। अब वह अपनी मां के पास आया और बोलाह ‘मां! मैंने सबको चर्चा में हरा दिया है, अतः तुम मुझे अब सर्वाजित कहो।’ मां ने कहाह ‘नहीं, तुमने सबको नहीं हराया है। कबीर अभी तक बाकी है। जब तक तुम कबीर को नहीं हरा देते, मैं तुम्हें सर्वाजित नहीं कहूंगी।’ बस, वह कबीर का पता पूछकर उनके पास गया और बोलाह ‘मैं तुमसे चर्चा करना चाहता हूं।’ कबीर ने कहाह ‘मुझसे चर्चा क्यों करना चाहते हो भाई?’ उसने कहाह ‘जब तक मैं तुमको हरा नहीं देता, तब तक मेरी मां

मुझे सर्वाजित नहीं कहती।' कबीर ने कहाह 'इसके लिए चर्चा की क्या अपेक्षा है भाई? लो, मैं तुमसे बिना चर्चा किए ही हार जाता हूं।' उसने कहाह 'नहीं, ऐसा नहीं होगा।' तब कबीर ने कहाह 'अच्छा, तुम ऐसा करो कि एक पत्र में यह लिख लो कि कबीर हारा, सर्वाजित जीता।' उसने कहाह 'यह ठीक है।' और अपने हाथ से उसने एक पत्र में लिख लियाह 'कबीर हारा, सर्वाजित जीता।' पत्र लेकर वह उछलता-कूदता माता के पास आया और उसने वह पत्र उसे दिखाया। माता ने पत्र पढ़ते ही कहाह 'यह क्या क्या! इसमें तो यह लिखा है कि 'कबीर जीता, सर्वाजित हारा।' वह चौंका। उसने भी गौर से पत्र पढ़ा। दूसरी बार और पढ़ा, पर उसमें तो वही लिखा हुआ था। वह बड़ा हैरान हुआ और वापस कबीर के पास आया। बोलाह 'तुमने मुझे यह क्या लिखाया?' कबीर ने कहाह 'भाई! मैं क्या करूं? तुमने स्वयं अपने हाथ से ही तो लिखा था। इसमें मेरा क्या दोष? अच्छा, यह गलत है तो ऐसा करो, दूसरी बार लिख लो कि कबीर हारा और सर्वाजित जीता।' उसने वैसा ही किया और फिर उछलता-कूदता हुआ माता के पास आया। माता ने फिर पत्र पढ़ा। पर उसमें भी तो वही लिखा थाह 'कबीर जीता, सर्वाजित हारा।' वह फिर कबीर के पास आया। कबीर ने तीसरी बार भी वही लिखाया। वह पत्र लेकर पुनः माता के पास आया। पर उसमें भी लिखा हुआ तो वही मिला। अब तो उसके आश्चर्य का पार ही नहीं रहा। माता ने अवसर देखकर कहाह 'पुत्र! तुम भी कितने मूर्ख हो! क्या ज्ञान और चर्चा से कभी किसी को हराया जा सकता है? सोचो और अब तो आंखें खोलो। मनुष्य किसी को हराना चाहे, यह तो पाप का मूल है। जाओ और कबीर के चरणों पर पड़ जाओ।' अब उसकी आंखें खुलीं और वह जाकर कबीर के चरणों पर गिर पड़ा। बंधुओ! इस उदाहरण से मैं आपको यह बताना चाहता हूं कि धर्म चर्चा का विषय नहीं, बल्कि आचरण का विषय है; और उसका आचरण वही व्यक्ति कर सकता है, जिसका हृदय सरल हो, निष्कपट हो।

५४ : क्रांति के स्वर

आज का सारा संसार भयाक्रांत है। इसी भय के कारण भीषण शस्त्रास्त्रों का निर्माण हो रहा है। शस्त्र-निर्माता राष्ट्रों द्वारा कहा तो यह जाता है कि हम तो अपने बचाव के लिए ही इनका निर्माण करते हैं, पर वास्तविकता इससे सर्वथा भिन्न है। शस्त्र-निर्माण के पीछे मूलभूत कारण होता है अपना भय। आज आप देखें, अमरीका रूस से डरता है और रूस अमरीका से। दोनों एक-दूसरे से डर रहे हैं। सचमुच आज की स्थिति देखकर वह कहानी याद आ जाती है, जिसे मैं बहुधा कहा करता हूँ एक शेरनी ने अपने नवजात शावक से कहा 'बेटा! तू वीर्यवान है, इसी लिए जंगल का राजा है। तुझमें असीम पौरुष है। अतः तू कहीं भी निर्भय विहार कर सकता है। मुझे तेरी ओर से जरा भी चिंता नहीं है। पर पुत्र! एक बात का ध्यान रखना कि काले सिरवाले मनुष्य से हमेशा डरते रहना। वह बड़ा चालाक होता है, खतरनाक होता है।' माता के ये शिक्षा-वाक्य शावक ने बड़ी गंभीरता से ग्रहण किए। दिन-पर-दिन बीतते गए। अब वह काफी बड़ा हो चला था। माता के सहवास की उसे आवश्यकता नहीं रही। अतः जहां चाहता स्वतंत्रतापूर्वक विहार करता।

एक दिन घूमते-घूमते सहसा उसकी नजर एक काले सिरवाले प्राणी पर पड़ी। उसे समझते देर न लगी कि यह वही प्राणी है, जिसे 'मनुष्य' कहकर माता ने मुझे उससे हमेशा बचते रहने के लिए कहा था। वह कुछ भयभीत हुआ। थोड़ा-थोड़ा पीछे खिसकने लगा। इधर वह मनुष्य लकड़ी काटने के लिए जंगल में गया था। शेर को देखते ही वह सहम गया। सोचने लगा कि दौड़कर तो कहां जाऊंगा, शेर छोड़नेवाला तो है नहीं। अतः भयभीत-सा वहीं खड़ी रहा। पर जब उसने देखा कि शेर पीछे की ओर खिसक रहा है तो उसे बड़ा आश्चर्य हुआ। वह सोचने लगा वह बड़ी विचित्र बात है, असीम शौर्यशाली शेर पीछे की ओर खिसक

रहा है! जरूर इसमें कोई रहस्य है। बस, उसमें कुछ साहस आ गया और उसने भागते हुए शेर को पुकारा। शेर उसकी आवाज सुनकर और भी आतंकित हुआ और तेज गति से दौड़ने लगा। मनुष्य को और आश्चर्य हुआ। उसने यह रहस्य जानना चाहा। पर मन-ही-मन वह उससे डरता भी था। बावजूद इसके, उसने साहस कर शेर को एक बार फिर पुकारा। शेर ने पीछे मुड़कर देखाहमेरी तरह मनुष्य भी भयभीत है। इस कारण वह अपने में सिमट-सा रहा है। उसने खड़े होकर सोचा कि आखिर ऐसी क्या बात है; वह इतना क्या बलशाली है। वह स्वयं भी तो डर रहा है और वह मुझे पुकार भी तो रहा है। आखिर माता के शिक्षा-वाक्यों की परीक्षा भी तो करनी चाहिए। ऐसा सोचकर वह मनुष्य की ओर आने लगा। मनुष्य ने देखाहसचमुच शेर तो आ रहा है। वह डरा और उसने सोचा कि मुझे अपना बंदोबस्त कर लेना चाहिए। अतः वह पास के एक पेड़ पर चढ़ गया। शेर नीचे आकर खड़ा रह गया। दोनों आपस में बातें करने लगे। मनुष्य ने पूछाह'भाई! तुम इतने बलवान हो, फिर भी डरते क्यों हो?' शेर ने उत्तर दियाह'मेरी माता ने मुझसे एक बार कहा था कि काले सिरवाले मनुष्य से हमेशा डरते रहना। वह बड़ा चालाक और खतरनाक होता है। अतः तुम्हारे डर से ही मैं भाग रहा था। खैर, जब तुम मिल ही गए तो मेरा तुमसे प्रश्न है कि तुममें ऐसी क्या ताकत है, जो मेरी मां ने मुझे तुमसे डरने के लिए कहा था।' मनुष्य ने कहाह'हां, भाई! मुझमें ताकत तो बहुत है, पर वह यों दिखाई नहीं जा सकती।' शेर ने पूछाह'फिर वह कैसे दिखाई जा सकती है? मैं उसे देखना चाहता हूं। क्या तुम मुझे अपनी ताकत दिखाओगे?' मनुष्य ने कहाह'इसके लिए मुझे थोड़े अवकाश की आवश्यकता है। क्या तुम मुझे इसके लिए कुछ समय देने के लिए तैयार हो?' शेर ने कहाह'कुछ समय की क्या बात है? समय तो बहुत है। तुम निश्चिंतता से अपनी ताकत दिखाओ, मैं तुम्हारी ताकत देखना चाहता हूं।' अब मनुष्य नीचे उतरा और उसने वह वृक्ष बीचोबीच से चीर डाला। फिर उसने एक लकड़ी का एक छोटा टुकड़ा तीक्ष्ण किया और शेर से बोलाह'तुम अपना सिर इस चीरी हुई लकड़ी के बीच में डाल दो।' शेर ने वैसा ही किया। मनुष्य ने तत्क्षण उस लकड़ी के तीक्ष्ण टुकड़े से सिंह के सिर सहित वृक्ष को इस क्षोर से उस क्षोर तक बींध डाला। बस, अब क्या था! मनुष्य ने कहाह'बस यही है मेरी ताकत। अब तुम चाहे जितना जोर लगाओ,

मुक्त नहीं हो सकोगे।' शेर को अब भान हुआ। उसके सिर में भयंकर वेदना होने लगी। वह बड़ी करुण चीत्कार करने लगा। पर अब उसकी कौन सुननेवाला था? मनुष्य तो बस, उसे उसी स्थिति में ही छोड़कर भाग चला। उसने सोचाहअगर मैं इसे बंधन-मुक्त कर दूंगा तो यह मुझे खाए बिना नहीं रहेगा।

बंधुओ! यही स्थिति आज रूस और अमेरिका की हो रही है। दोनों करता है और दोनों एक-दूसरे से डरकर दूर भाग रहे हैं। कभी-कभार दोनों में से कोई एक दूसरे को आह्वान करके एक जगह इकट्ठे भी होते हैं तो भी आशंकित रहते हैं। कभी कोई फंस जाता है तो वह शोरगुल भी मचाता है और उसका असर पूरी विश्व की राजनीति पर पड़ता है। अपेक्षा है, विश्व की ये दोनों महाशक्तियां शास्त्रास्त्रों की होड़ छोड़कर निःशस्त्रीकरण की दिशा में प्रयोग करें। तभी भय कम होगा और विश्व में शांति का वातावरण निर्मित हो सकेगा।

५५ : धर्म का क्षेत्र

दो वाद : दो दृष्टिकोण

अध्यात्मवाद और भूतवादद्वये दो मान्यताएं हैं। अध्यात्मवादी की प्रत्येक प्रवृत्ति के मूल में अध्यात्म-भावना रहेगी। भूतवादी प्रत्येक बात को भौतिक दृष्टिकोण से देखेगा। यद्यपि प्रवृत्ति दोनों एक ही करते हैं, तथापि लक्ष्य में बहुत बड़ा अंतर आ जाता है। चंद्रमा दोनों पक्षों में बराबर प्रकाश देता है, पर लोग एक पक्ष को कृष्ण कहते हैं और दूसरे को शुक्ल। लोग जिस पक्ष में उसका प्रकाश देख पाते हैं, वह उनके लिए शुक्ल पखवारा है। इसी प्रकार प्रवृत्तियां दोनों की बराबर हैं, पर उनके देखने के दृष्टिकोण भिन्न-भिन्न हैं। यद्यपि कोई नास्तिक यह नहीं कहेगा कि झूठ बोलना चाहिए। बंधुता को कोई गलत नहीं बताएगा। पर उसकी साधना, उसका दृष्टिकोण यह रहेगा कि यह जीवन सुखी कैसे रहे। अध्यात्मवादी सत्य और बंधुता का आचरण केवल इस जन्म के लिए नहीं करता। वह उसे अपनी साधना मानकर जीवन-शुद्धि के लिए करेगा। उपवास दोनों के लिए लाभप्रद है। पर उसमें अध्यात्मवादी का दृष्टिकोण रहेगा साधना का और भूतवादी का दृष्टिकोण रहेगा स्वास्थ्य-लाभ का। लक्ष्य में अंतर आने से क्रियाफल में भी अंतर आ जाता है।

धर्म की कसौटी

बहुत-से लोगों का स्वर है कि धर्म केवल परलोक के लिए है। क्या इसका मतलब यह है कि वह इस जीवन को बिगाड़नेवाला है? मेरी दृष्टि में वह धर्म ही नहीं है, जो अगला जन्म सुधारने के लिए इस जीवन को संक्लिष्ट बनाएहबिगाड़े। वस्तुतः धर्म की कसौटी अगला जीवन नहीं, अपितु वर्तमान जीवन है। व्यक्ति जिस क्षण धर्म का आचरण करेगा, उसी क्षण उसे नवजागरण का अनुभव होगा, शांति की अनुभूति होगी। उसके मन में एक अभिनव पुलक अबाध गति से बहने

लगेगी। धार्मिक व्यक्ति का रहन-सहन और उसका चेहरा स्वयं उसकी साधना की हामी भरेगा। अतः यह आवश्यक है कि धर्म पहले वर्तमान जीवन का सुधार करे।

धर्म का कार्यक्षेत्र

धर्म का क्षेत्र व्यक्ति-सुधार का क्षेत्र है। व्यक्तियों का समूह समाज और समाज की एकता राष्ट्र है। अतः इस दृष्टि से वह समाज-सुधार और राष्ट्र-सुधार का भी साधन बन सकता है। धर्म का काम सफाई का है। जिस-किसी क्षेत्र में बुराई हो, उसकी सफाई करना धर्म का काम है। जो धर्म ऐसा नहीं नहीं करता, वह तो मात्र कहने का धर्म है। जिस प्रकार चित्र का मनुष्य जरा भी हलचल नहीं कर सकता, उसी प्रकार वह धर्म भी पंगु है, जो बुराइयों का प्रतिकार नहीं कर सकता। धर्म मंदिरों और पुस्तकों में नहीं रहता। वह तो आचरण की वस्तु है। जीवन-शुद्धि का साधन है। जब वह व्यक्ति-व्यक्ति से संबद्ध है, तब समाज से भी अलग कैसे रह सकेगा? उससे विमुख होकर भले कोई व्यक्ति हो, भले कोई समाज हो, वह सुधर नहीं सकता।

परलोक की बात आप एक दफा छोड़ दें। आपको यह जीवन भी सुखी बनाना है या नहीं? यदि जीवन में सच्चाई नहीं तो उसमें कोई सुख भी नहीं हो सकता। जो ईमानदार नहीं होगा, उसके मन में हमेशा डर रहेगा कि कोई मुझे देख न ले। जो व्यापारी ब्लैकमार्केटिंग करता है, उसके मन में हमेशा धड़का रहेगा कि उसकी दुकान में इन्क्वायरी न आ जाए। दूसरों की दुकानों में तलाशी होती देखकर उसके दिल की धड़कन बढ़ जाएगी। वह आशंकित हो जाएगा कि कहीं मेरी दुकान में भी तलाशी नहीं आ जाए। इस प्रकार वह मन-ही-मन एक अव्यक्त वेदना का अनुभव करता रहेगा।

सचाई और व्यापार

पर जाने क्यों, लोगों को इस बात पर विश्वास नहीं होता। जब उन्हें यह कहा जाता है कि व्यापार में अप्रामाणिकता मत बरतो तो वे कहेंगे कि आजकल सचाई से व्यापार चलता कहां है। पग-पग पर झूठ बोलना पड़ता है, चोरी करनी पड़ती है। पर यह गलत धारणा है। अनेक लोगों से बातें करके मैं इस निष्कर्ष पर पहुंचा हूँ कि गलत तरीकों से व्यापार करना अनैतिक ही नहीं, व्यक्ति के स्वयं के लिए भी घातक है।

बहुत-से लोग कहते हैं कि सच्चाई से काम नहीं चलता। पर इतने दिनों तक उन्होंने झूठ से व्यापार करके भी देख लिया। अब मैं उनसे पूछना चाहूंगा कि क्या इतना करने पर भी उन्होंने कोई बहुत बड़ा सुख पाया। यदि 'नहीं' तो एक बार मेरा कहना भी मानें। प्रयोग के रूप में भी कुछ दिन अप्रामाणिकता न बरतें। संभव है, पहले-पहल उन्हें कुछ दिक्कतें भी सहनी पड़ें, पर इसका अंतिम फल सदा मधुर रहेगा, ऐसा मेरा विश्वास है। छोटे-छोटे व्रत व्यक्ति की नैतिक चेतना को इंकृत करते हैं, उसके प्रामाणिक जीवन जीने का मार्ग प्रशस्त करते हैं। आप लोग इस आंदोलन की आचार-संहिता देखें और उसे हृदयंगम कर स्वीकार करें। आपके जीवन में एक अभिनव क्रांति घटित होगी।

५६ : भोजन और स्वादवृत्ति

मनुष्य को भूख इतनी नहीं सताती, जितनी लोलुपताह असंयम सताता है। शरीर की भूख मिटानी तो बड़ी सरल बात है। थोड़ा खाया कि मिट गई। पर यह अतृप्तिह आकांक्षा कैसे मिटाई जाए? एक कवि ने कहा हैह

तन की तृष्णा तनिक है, तीन पाव के सेर।

मन की तृष्णा अमिट है, गिले मेर का मेर॥

ह शरीर के लिए ज्यादा-से-ज्यादा आवश्यक है तो तीन पाव या सेर होगा। पर यह मन की तृष्णा इतनी ज्यादा होती है कि मनुष्य इससे कभी तृप्त होता ही नहीं।

ज्यादा खाने से मनुष्य को मृत्यु का डर रहता है। मनुष्य को अगर मरने का डर नहीं होता तो शायद वह भोजन पर से उठता ही नहीं, दिन भर खाता ही रहता! पर यह तो प्रकृति ने स्वयं ही मनुष्य पर अंकुश लगा दिया है। उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया हैह**इच्छाहु आगास समा अणंतिया।** यानी मनुष्य की इच्छाएं आकाश के समान अनंत हैं। पूरी होने के साथ ही उनकी उद्दीप्तता बढ़ती जाती है। अग्नि में ईंधन डालने से वह क्या कभी शांत हुई है? इसी प्रकार एक आकांक्षा की पूर्ति होते ही दूसरी और शुरू हो जाती है। और जिसको ज्यादा तृप्ति होने लगती है, उसकी अतृप्ति भी उसी वेग से बढ़ने लगती है। मारवाड़ की एक कहावत हैह**बड़ी रातां रा तड़का ही बड़ा।** तात्पर्य यह कि रात जितनी बड़ी होती है, उसका उषाकाल भी उतना ही बड़ा हो जाएगा। बड़ी रातों में प्रकाश हो जाने के कितनी देर बाद सूर्य निकलता है। पर छोटी रातों में पौ फटने के थोड़ी देर में सूर्य निकल आता है। इसी प्रकार जिनकी आकांक्षाएं सीमित हैं, वे जल्दी पूरी हो जाती हैं और उससे कुछ संतोष भी मिल जाता है। पर जिनकी आकांक्षाएं बढ़ जाती हैं, वे बढ़ती ही जाती हैं और यहां तक कि वे पूरी होनी भी बड़ी मुश्किल हैं। यद्यपि

अप्राप्ति पर आकांक्षाएं न बढ़ें, यह कोई एकांततः जरूरी नहीं है, पर प्रायः बढ़ी हुई आकांक्षाएं ही उन्हें और बढ़ाती हैं। इसी लिए शास्त्रों में कहा है **हैहजहा लाहो तहा लोहो, लाहा लोहो पवइइ।**

हां, तो शरीर की आवश्यकता तो बहुत थोड़ी होती है। पर स्वाद-वृत्ति बड़ी बुरी चीज होती है। मनुष्य अपनी वृत्ति जैसी बना लेता है, वह वैसी ही बन जाती है। नमक को प्रायः लोग भोजन में आवश्यक मानते हैं। पर मैं नहीं कह सकता, स्वास्थ्य के लिए वह कितना आवश्यक है और कितना नहीं। अलबत्ता जीभ को जरूर इसका स्वाद आता है। कई लोग तो ऐसे होते हैं कि कभी भूल से भी सब्जी में नमक कम या ज्यादा पड़ जाता है तो वे एकदम उत्तेजित हो उठते हैं। मान लिया जाए, कभी नमक कम या अधिक पड़ गया तो भोजन पकानेवाले को शांतिपूर्वक समझाया भी जा सकता है। थोड़ी-सी बात के लिए आपे से बाहर हो जाना, अपनी ही असहिष्णुवृत्ति का प्रदर्शन है।

लोग स्वाद के लिए शाक में मिर्च-मसाले डालते हैं। पर मैं समझ नहीं पाता कि इस स्वाद से वे क्या पाते हैं; जब सात्त्विक आहार से भी काम चल सकता है, तब इतने तले, भुंजे और मिर्च-मसालेदार आहार की क्या आवश्यकता है। इससे तो उलटा स्वास्थ्य भी ठीक नहीं रहता। हम तो साधु ठहरे। भिन्न-भिन्न प्रदेशों में जाते हैं। वहां जैसा भोजन मिलता है, उसी से अपना गुजारा करना पड़ता है, क्योंकि हमारे लिए कोई अलग से भोजन बनता नहीं। जैसा लोग खाते हैं, वैसा हमें मिलता है। अतः कभी-कभी हमको बड़ी दिक्कत हो जाती है। उधर गुजरात में हम गए। वहां शाक बड़े सात्त्विक बनते हैं। अतः हमें भी वहां काफी अनुकूलता रहती और हमारे कई साधु तो इससे बड़ा सुख मानने लगे। पर हमें एक जगह तो रहना नहीं है। इधर महाराष्ट्र, मध्यप्रदेश और राजस्थान में आए तो फिर मिर्च-मसालेदार शाक शुरू हो गए। इससे कई साधुओं के तो मुंह में छाले हो गए। तब मन में चिंतन आया कि लोग क्यों व्यर्थ ही स्वाद के वश होकर तामसिक वृत्तियों को बढ़ानेवाला भोजन करते हैं।

इस स्वादवृत्तिहअप्राप्ति पर नियंत्रण रखने के लिए जैन-परंपरा में श्रावक के सातवें व्रतहउपभोग-परिभोगव्रत का बड़ा महत्त्व है। उपभोग यानी एक दफा काम आनेवाली चीजें। जैसेहभोजन, पानी आदि। परिभोग

यानी बार-बार काम आनेवाली चीजें। जैसेहवस्त्र, आभूषण आदि। श्रावक उपभोग-परिभोग की सीमा करे, यही उसका उद्देश्य है। वैसे संसार में अनेक द्रव्य हैं, पर उन्हें संक्षेप की दृष्टि से छब्बीस में बांध दिया गया है। बहुत-से जैन लोग तो अपने खाने-पीने, पहनने-ओढ़ने तथा काम आनेवाली चीजों की दैनिक मर्यादा भी करते हैं। यह अच्छा है और इसका अभ्यास प्रत्येक व्यक्ति को होना ही चाहिए। अणुव्रतों में शील और चर्या के प्रकरण में एक नियम हैहप्रतिदिन एक दिन में इकतीस द्रव्यों से अधिक द्रव्य नहीं खाऊंगा। इसका भी यही दृष्टिकोण है कि इससे व्यक्ति की वृत्तियों पर अंकुश रहता रहे। इकतीस द्रव्यों की सीमा तो सर्वाधिक दृष्टिकोण से रखी गई है। पर इसमें भी जितनी कमी रखी जाए, उतना अच्छा ही है। खाद्य संयम आध्यात्मिक स्वास्थ्य की दृष्टि से भी लाभप्रद और आवश्यक है ही, शारीरिक स्वास्थ्य की दृष्टि से भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति को इस दिशा में प्रयाण करना चाहिए। एक बार इसके सुखद फल प्राप्त करके व्यक्ति भविष्य में सदा के लिए आस्थाशील हो सकेगा।

सुजानगढ़

५७ : जैन-धर्म और तत्त्ववाद

जैन-धर्म का स्वरूप

किसी धर्म की मूल भित्ति उसका तत्त्ववाद होता है। उसके बिना कोई भी दर्शन स्थिर नहीं हो पाता। जो दर्शन तत्त्वों पर टिका हुआ होता है, उसके अनुयायी चाहे कम हों, पर मूल्य की दृष्टि से वह अधिक वजनदार और संगत होता है। इस दृष्टि से जैन-धर्म के तत्त्ववाद की हमें मीमांसा करनी है।

जैन-धर्म गुण और क्रियापरक है। यह बात इसके नाम से सहज ही प्रतिध्वनित होती है। अन्य धर्म, जैसे बौद्ध धर्म और वैदिक धर्म दोनों ही ज्ञानपरक धर्म हैं। **बुध्यते अनेन इति बुद्धः।** बुद्ध यानी ज्ञानी। उसका धर्म बौद्ध धर्म। इसी प्रकार **वैद्यते अनेन इति वेदः।** वेद यानी ज्ञान। वेदों को मान्य करनेवाला वैदिक धर्म। पर जैन-धर्म आचार-अनुशीलनप्रधान धर्म है। 'जैन' शब्द की व्युत्पत्ति है **हैहजयतीति जिनः।** यानी जो जीतता है, उसे जिन कहते हैं। जैन-धर्म यानी विजेताओं का धर्म। 'जीतना' यह शब्द युद्धफलित-सा लगता है। जहां विजय होती है, वहां युद्ध होगा ही। उसके बिना विजय हो नहीं सकती; और युद्ध तो एक बहुत बड़ी क्रिया है। उसमें पौरुष अत्यंत अपेक्षित रहता है। अतः जैन-दर्शन केवल ज्ञानपरक नहीं है। वह ज्ञान के साथ क्रियाह्यचारित्र को बराबर का महत्त्व देता है। यानी मुक्ति के लिए ज्ञान और चारित्र दोनों का सम्यक् योग होना आवश्यक है। और विस्तार में जाएं तो इन दोनों तत्त्वों के साथ सम्यग्दृष्टि का होना नितान्त आवश्यक है। जब तक दृष्टि मिथ्या रहती है, तब तक मुक्ति का मार्ग प्रशस्त नहीं हो सकता।

हर कोई जैन बन सकता है

इसी प्रकार जैन-धर्म जातिपरक भी नहीं है। किसी जाति का मनुष्य जैन कहलाने का अधिकारी हो सकता है, बशर्ते कि वह अपनी श्रद्धा

और आचरणों को शुद्ध बनाए। बिना आचरण को शुद्ध बनाए कोई भी जैन कहलाने का अधिकारी नहीं हो सकता। इससे यह और भी स्पष्ट हो गया कि जैन-धर्म वृत्ति-शोधन पर अधिक बल देता है।

पर सभी लोग आत्म-विजेता बन जाएं, यह संभव नहीं है। ऐसी अवस्था में जो पूर्ण विजयी हो चुके हैं, उनके पथ का अनुसरण करनेवाला भी जैन हो सकता है। इससे सब पूर्ण विजेता हों ही, यह आवश्यक नहीं रह जाता। जो लोग पूर्ण विजेताओं के बताए हुए पथ का आंशिक अनुसरण करते हैं, वे भी जैन हो जाते हैं। इससे जैन-धर्म में 'अ' से लेकर 'ह' तक को और 'एक' से लेकर 'सौ' तक को स्थान है। यानी जिस व्यक्ति की जितनी शक्ति है, वह उतना आचरण करे। पर उसकी दृष्टि सम्यक होनी चाहिए। उसके सामने यह लक्ष्य रहना चाहिए कि मुझे पूर्ण विजेता बनना है।

आत्मना युद्धस्व

'जैन' के लिए प्रारंभ में मैंने जिस युद्ध का जिक्र किया, उसका अर्थ यहां कोई घमासान नहीं है। वह तो बाह्य युद्ध का परिणाम है। पर यह तो अंतर का युद्ध है, अपने-आपसे किया जानेवाले युद्ध है। इसी लिए शास्त्रों में कहा है

**अप्पाणमेव जुज्झाहि, किं ते जुज्जेण बज्झओ।
अप्पाणमेव अप्पाणं, जइत्ता सुहमेहए॥**

आत्मना युद्धस्व यदि तुम्हें युद्ध ही करना है तो अपने-आपसे करो। इन बाह्य युद्धों से क्या होनेवाला है! हिरण आदि कमजोर प्राणियों को मारकर क्या अपनी शूर-वीरता दिखाते हो? यदि तुम्हें किसी को मारना ही है तो स्वयं को मारो। सारे संसार को जीत लिया और अपनी आत्मा को नहीं जीता तो यह कमजोरी है, नादानी है। अतः वास्तव में ही विजेता बनना है तो अपनी आत्मा पर नियंत्रण करो।

प्रश्न हो सकता है कि आत्मा से युद्ध करने की बात का क्या यह मतलब है कि आत्मा को खत्म कर डालो। आत्मा के गुण और क्रियाएं आखिर आत्मा ही तो हैं। चेतन के गुण और क्रियाएं चेतन तथा जड़ के गुण और क्रियाएं जड़। इसी प्रकार आत्मा के गुण और क्रियाएं आत्मा ही हैं। अतः अपनी दुष्प्रवृत्तियों के साथ लड़ना अपनी आत्मा के साथ ही लड़ना है। जैसा कि मैंने पूर्व में बताया था **हजयतीति जिनः।** या **जयति**

रागद्वेषं इति जिनः। अर्थात् जो अपनी आत्मा को जीतें या राग-द्वेष को जीतें, वे जिन हैं। जो जिन को आराध्य मानें, उनका अनुसरण करें, वे जैन हैं।

पर उनका अनुसरण करने का मतलब यह नहीं है कि उनकी समाधि पर पुष्प-हार चढ़ा दो; धूप, दीया और आरती कर दो। इतने मात्र से उनका अनुसरण मान लेना गलत है। ये सब बाह्य लोक-पद्धतियां हैं। तत्त्वतः उनके पथ को अपना पथ बनाना ही उनका अनुसरण करना है। जैन-दर्शन बताता है कि कोई मनुष्य यदि जैन बनना चाहता है तो उसके लिए यह आवश्यक है कि वह विजेता के पथ पर अपने कदम बढ़ाए।

जैन सच्चे निर्ग्रथ बनें

जैन का पुराना नाम क्या था, यह कहना कठिन है। बहुत संभव है, पहले उसका नाम *निर्ग्रथ प्रवचन* रहा हो। नाम चाहे कुछ भी हो, बात एक ही है। बौद्ध ग्रंथों में जहां भगवान महावीर का प्रसंग है, वहां उन्हें **निगंठ नायपुत्त** कहा गया है। ज्ञात-पुत्र उनका नाम है, निर्ग्रथ उनके पीछे विशेषण है। इसी प्रकार जैन-साहित्य में भी अनेक स्थानों पर निर्ग्रथ शब्द का प्रयोग हुआ है। आज के जैन लोग यह न भूलें कि उनका मूल नाम 'निर्ग्रथ' शब्द में ही यह तत्त्व भरा है कि वे धन-कुबेर बनने की चाह न रखें। धन-संग्रह करना उनका लक्ष्य नहीं है। उनके अर्जन के पीछे एक ही उद्देश्य रहता है—जीवन-निर्वाह। धन के पीछे पड़ जाना उनका ध्येय नहीं होना चाहिए। आज के जैन यह सोचें कि वे अपना लक्ष्य याद रख रहे हैं या भूल गए। वे यदि अधिक उपार्जन का लोभ रखते हैं तो यह उनके लक्ष्य के अनुरूप नहीं है।

अपेक्षित है रूढ़ि-मुक्ति

आज जैनों को यह भी सोचना चाहिए कि वे ऐसी रूढ़ियां क्यों पकड़े बैठे हैं, जिनमें सार कम है। शास्त्रों में साधुओं के आहार के बारे में एक प्रकरण आता है कि वह आहार साधु को नहीं लेना चाहिए, जिसमें सार तो कम हो और निस्सार अधिक। इसी प्रकार जो रूढ़ियां व्यर्थ ही जीवन को बोझिल बनाती हैं, उन्हें बुद्धिमानीपूर्वक हटा दिया जाना चाहिए।

हिंसा के तीन विकल्प

महारंभ और महापरिग्रह में जीवन खपाएं, यह उनके उसूल के अनुकूल नहीं है। यहां आरंभ का अर्थ शुरुआत नहीं है। यहां आरंभ का अर्थ है हिंसा। हिंसा के बारे में जैन-दर्शन में तीन विकल्प हैं—अनारंभ, अल्पारंभ और महारंभ। हिंसा का सर्वथा त्याग कर देना अनारंभ है। यह विकल्प एक साधु ही स्वीकार कर सकता है, क्योंकि वह न तो हिंसा करता है, न कराता है और न करते हुए को अच्छा समझता है। वह हिंसा के सब कार्यों से निवृत्त रहता है। इसी लिए वह भोजन भी न तो स्वयं पकाता है, न दूसरों से पकवाता है और न पकाते हुए को अच्छा ही समझता है। यानी अपने जीवन को चलाने के लिए भी वह किसी प्रकार का आरंभ नहीं कर सकता। न मन से, न वाणी से और न क्रिया से। जो काम वह स्वयं नहीं करता, उसका दूसरों को उपदेश भी नहीं दे सकता। अपने आचरण के विरुद्ध उपदेश देना **जहा बाई तहा कारी** के सिद्धांत के भी विपरीत है।

दूसरा विकल्प है अल्पारंभ का। इस श्रेणी के अंतर्गत वे व्यक्ति आते हैं, जो सर्वथा त्यागी नहीं हैं। उन्हें अर्थहयानी आवश्यक आरंभ करना पड़ता है। अतः वे अल्पारंभी कहलाते हैं। पर महारंभी तो वे हैं, जिन्हें हिंसा का कोई ज्ञान ही नहीं रहता। उनका कोई लक्ष्य भी नहीं होता। जिस प्रकार तेली के बैल का कोई लक्ष्य नहीं होता, वह घाणी (धुरी) के चारों ओर सिर्फ चक्कर लगाता रहता है, उसी प्रकार वे दिन-रात हिंसा में तल्लीन रहते हैं। मैं पूछना चाहता हूं कि उनमें और **तिल पेल नेल कीगतो** बैल में क्या अंतर है। चक्की भी जिस प्रकार अपनी कीली के चारों ओर चक्कर लगाती रहती है, कभी-रुकती ही नहीं, उसी प्रकार जो लोग दिन-रात आरंभ में पड़े रहते हैं, वे अपने जीवन पर कभी ध्यान नहीं देते। चक्की भी रुकती तो है, पर उस स्थिति में, जब पीसनेवाले थक जाए या अन्न समाप्त हो जाए। वही गति महारंभी लोगों की होती है। महारंभी यानी जिसकी आकांक्षाओं की कोई सीमा नहीं होती तथा जिसका हिंसा-अहिंसा की तरफ कोई चिंतन ही नहीं होता।

हिंसा और धर्म

मोक्ष के पथ में आरंभ अर्गला है, तथापि गृहस्थ सर्वथा हिंसा से बच नहीं सकता। पर इसका मतलब यह नहीं कि हिंसा आदेय है या

हिंसा के बिना धर्म हो नहीं सकता। हिंसा धर्म का अविनाभावी कारण है। हँस मान्यता को जैन-धर्म कभी प्रश्रय नहीं दे सकता। जो हिंसा को धर्म की भूमिका या मोक्ष की सीढ़ी कहते हैं, उन्होंने अभी जैन-दर्शन का अध्ययन ही नहीं किया है। कुछ लोग कहते हैं कि हम साधुओं के दर्शन करने मोटर में बैठकर जाते हैं तो क्या साधु-दर्शन के इस धर्म-कार्य में मोटर को साधन रूप मानने से **हिंसाजनित परिग्रह** भी धर्म नहीं हो जाता। ऐसा भी कहा जाता है कि घर पर साधु भिक्षा लेने के लिए आएँ, तब हम अगर भोजन नहीं पकाते हैं, तो उन्हें क्या देंगे; चूँकि भोजन बिना हिंसा के बनता नहीं, अतः हिंसा के बिना पात्र-दान कैसे हो सकता है। इस क्रम में और भी बहुत-सी बातें बताई जा सकती हैं, जिनमें स्पष्ट रूप से हिंसा होती है और बाद में वे धर्म से भी जुड़ जाती हैं। यहां हमारा दृष्टिकोण यह है कि हिंसा में धर्म मान लेना तो मार्ग से भटकने-जैसी बात है। हां, यह अवश्य है कि गृहस्थ-जीवन में लोग संपूर्ण हिंसा का त्याग नहीं कर सकते। उन्हें कदम-कदम पर हिंसा करनी ही पड़ती है। यही तो कारण है कि उन्हें अनारंभी नहीं कहकर, अल्पारंभी कहा जाता है। पर जितनी हिंसा वे करते हैं, उसको धर्म का यानी मोक्ष का साधन तो नहीं माना जा सकता। हां, वह सुविधा का साधन हो सकता है। इसी प्रकार मोटर में बैठकर दर्शन करने के लिए आना सुविधा का साधन हो सकता है, धर्म का नहीं। बहुत-से लोग मोटरों में बैठकर आए हैं तो बहुत-से लोग पैदल भी आए हैं। यदि मोटरें ही दर्शन करने का साधन होतीं तो दूसरे लोग कैसे आ सकते थे? इससे पता चलता है कि वह दर्शन करने का कारण नहीं है। पर चूँकि मोटर सुविधा का साधन है, अतः उसे धर्म का साधन मान लेना उपयुक्त नहीं होगा। यदि सुविधा और असुविधा का ध्यान न रखा जाए तो बिना हिंसा भी दर्शन हो सकते हैं। अतः मोटरें दर्शन करने का अनंतर (अभिन्न) निमित्त नहीं हैं, हां, परंपर निमित्त हो सकती हैं। परंपर निमित्त तो मोटरें क्या, और भी बहुत-सी बातें हो सकती हैं, पर वे धर्म नहीं मानी जा सकतीं। इसी प्रकार भोजन के संबंध में समझना चाहिए। निष्कर्ष यह कि गृहस्थ के घर में हिंसा तो होती ही है, पर वह धर्म नहीं है। धर्म तो उस हिंसा से जो निष्पन्न हो चुका है, उसके त्याग में है। त्याग-वृत्ति धर्म है, न कि उसे तैयार करना। अतः हिंसा को धर्म मानना नितान्त अनुचित है।

अहिंसा अहिंसाजन्य ही होती है। इसी प्रकार हिंसा भी हिंसाजन्य ही है। अतः उसमें धर्म नहीं हो सकता। तेरापंथ-प्रणेता आचार्य भिक्षु ने इस संबंध में एक महत्त्वपूर्ण पंक्ति कही है—**हिंसा मांही धर्म हुए तो जल मथियां घी आवेह्यदि** हिंसा से धर्म हो सकता है, तो जल मथने से भी घी निकल सकता है।

इसका मतलब यह नहीं कि गृहस्थ हिंसा से सर्वथा मुक्त जीवन जी सकता है। उसके साथ वह तो जुड़ी हुई ही है। इसी लिए उसे धर्माधर्मी या व्रताव्रती कहा गया है। उसमें व्रत और अव्रत का मिश्रण है। गेहूं और कंकड़ दो हैं। दोनों का अपने-अपने स्थान पर उपयोग है। गेहूं खाने के काम में आता है, तो कंकड़ नींव जमाने के काम। पर जो उपयोग गेहूं का है, वह कंकड़ का नहीं हो सकता। इसी प्रकार जो उपयोग कंकड़ का है, वह गेहूं का नहीं हो सकता। इसलिए उन दोनों को मिला देना तो एक बड़ी भारी भूल होगी। हिंसा का भी अपने स्थान पर उपयोग है, पर वह मोक्ष-साधना का मार्ग नहीं है। मोक्ष-साधना का मार्ग अहिंसा ही है। गृहस्थ को कुछ आवश्यक हिंसा करनी पड़ती है और कुछ अनावश्यक हिंसा भी उसके द्वारा होती है। कुछ हिंसा अज्ञानवश हो जाती है तो कुछ हिंसा प्रमादवश भी हो जाती है। उदाहरण के लिए कुछ दातुनों की आवश्यकता हुई तो बहुत-से दातुन लाए। जो काम आए सो काम आए, बाकी को यों ही फेंक दिया। यह अनावश्यक हिंसा है। साग के लिए जो अनावश्यक सब्जी लाई जाती है, वह अनावश्यक हिंसा है। इसी प्रकार पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु की हिंसा भी उसके लिए अनावश्यक हो जाती है। अल्पारंभ गृहस्थ का 'छांदा' है, पर वह धर्म नहीं; और महारंभ तो निश्चित रूप में नरक का हेतु है। अनारंभ, अनुपद्रव, अनभिद्रोह, अनाक्रमण और अहिंसाह्ये सब धर्म के मौलिक रूप हैं।

सेवा : असेवा

किसी को बलात धर्म का अनुशीलन कराना भी धर्म नहीं है। किसी को गुलाम या दास बनाना बहुत बड़ी हिंसा है। मनुष्य को क्या, किसी पशु-पक्षी को भी बंदी बनाना अधर्म है, हिंसा है। करने को बहुत-से लोग पशु-पक्षियों की हिंसाजत करते हैं, उन्हें अच्छा खाना देते हैं और कहते हैं कि हम उनकी सेवा करते हैं। पर सत्य यह है कि उनकी सेवा

नहीं, असेवा ही है। यदि आप किसी की सेवा करना चाहते हैं तो किसी को बंदी न बनाएं, किसी को मारें-पीटें नहीं। यही सबसे बड़ी सेवा है।

धर्म और पुण्य

किसी खेत में ऐसा नहीं होता कि गेहूं अलग पैदा होता है और भूसा अलग पैदा होता है। बिना भूसे के कभी अनाज पैदा होता नहीं देखा गया और न दोनों को एक भाव बिकते देखा गया। इसी प्रकार धर्म के साथ पुण्य होता है, पर धर्म और पुण्य एक नहीं हो सकते। जो जैसा है, उसे वैसा ही समझना चाहिए। यही तो सम्यक्त्व है, जो कि जैन-धर्म का मूल है। सब अहिंसक नहीं बन सकते, यह ठीक है। पर हिंसा को अहिंसा तो नहीं मान लेना चाहिए। उससे उलटा मिथ्यात्व आता है। यह बिना मतलब की गलती तो नहीं करनी चाहिए।

परिग्रह के तीन रूप

इसी प्रकार अपरिग्रह, अल्प-परिग्रह और महापरिग्रह का हिसाब है। सर्वथा अपरिग्रही तो अकिंचन संन्यासी ही हो सकते हैं, जो अपने पास एक कौड़ी भी नहीं रखते। प्रश्न है कि यदि काम पड़ जाए तो। पर उनके क्या काम पड़े? उन्हें कोई विवाह-शादी तो करनी नहीं है। रोटी, कपड़ा, मकान आदि वे मांग कर ले लेते हैं। रोटी भी अगर मिल जाती है तो खा लेते हैं, नहीं मिलती है तो उसमें भी आनंद मनाते हैं। ये सब बातें जानते-समझते हुए ही वे यह मार्ग स्वीकार करते हैं।

जब मैंने दीक्षा ली थी, तब मेरे बड़े भाई साहब मोहनलालजी खटेड़ ने मेरी परीक्षा की थी। दीक्षा के दिन की पूर्व रात्रि में सौ रुपए का एक नोट लेकर वे मेरे पास आए और बोलेह 'देखो, साधु-जीवन में बहुत कठिनाइयां आती हैं। कहीं आहार मिलता है, कहीं नहीं मिलता। अतः तुम पास में यह एक सौ रुपए का नोट रखो और जब कभी आवश्यकता पड़े तो इसका उपयोग करना।' मुझे उस समय इतनी हंसी आई कि वह रोके न रुकी। बाद में मैंने उनसे कहाह 'यह तो परिग्रह है। साधुओं को परिग्रह से क्या मतलब?' वे बोलेह 'इसमें परिग्रह क्या है? यह तो कागज का टुकड़ा है।' पर जब मैंने उसे लेने से बिलकुल इनकार कर दिया तो उन्हें इस अंतिम परीक्षा से और अधिक विश्वास हो गया।

हां, तो मैं यह रहा था कि साधुओं को पैसे की आवश्यकता ही क्या रह जाती है। यदि किसी साधु को धन की जरूरत हो गई तो

समझना चाहिए कि उसकी साधना समाप्त हो गई है। जैन-धर्म की मौलिक मान्यताओं का थोड़ा-सा विवेचन मैंने किया। अपेक्षा है, उनके बारे में विस्तृत जानकारी प्राप्त की जाए। इससे उन्हें हृदयंगम करने में बहुत सुविधा होगी। ध्यान रहे, किसी सिद्धांत के हृदयंगम होने के पश्चात ही वह सम्यक रूप में आचरण और व्यवहार में उतर सकता है।

सुजानगढ़

२२ अगस्त १९५७

५८ : योग्य दीक्षा

दीक्षा एक धार्मिक संस्कार है। उस पर सरकार की ओर से प्रतिबंध लगाने का अर्थ है धार्मिक स्वतंत्रता में हस्तक्षेप। आज तो कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि बालदीक्षा नहीं होनी चाहिए। पर कल शायद यह भी कहा जा सकता है कि अणुव्रती नहीं बनना चाहिए। मेरी दृष्टि में यह जनता की धार्मिक स्वतंत्रता पर आघात है। हो सकता है, प्रस्ताव बुराइयों को मिटाने के लिए किए जाते हैं, पर उसके साथ-साथ अच्छाइयां विकसित नहीं हो सकें, यह उचित नहीं लगता।

कुछ लोग कानून से बुराइयां मिटाने की बात सोचते हैं। पर उन्हें ठंडे दिमाग से सोचना चाहिए कि क्या कानून से सब बुराइयां मिट ही जाती हैं। मेरा ख्याल है कानून से कहीं-कहीं तो बुराइयां अधिक पनपती हैं, क्योंकि जो लोग अच्छे नहीं हैं, वे तो कानून की परवाह करनेवाले हैं नहीं और जो अच्छे हैं, उनके लिए कानून अवरोधक बन जाएगा। अतः दोनों ही तरफ से ऐसा लगता है कि इससे समस्या सुलझनेवाली नहीं है।

जयपुर में बाल-दीक्षा के विरोध के अवसर पर जयप्रकाशनारायण वहां आए थे। मेरे साथ उनका लंबा वार्तालाप हुआ। वार्तालाप के दौरान उन्होंने भी यही कहा था कि 'मैं यह नहीं चाहता कि कानून के द्वारा बाल-दीक्षा रोकी जाए। वह तो स्वयं धर्माचार्यों के सोचने का विषय है कि वे अपनी व्यवस्था इस प्रकार बना लें कि किसी को विरोध करने का अवसर ही न मिले।' आज भी देश के ऊंचे विचारक यही सोचते हैं। भारतवर्ष का संविधान बनाते समय जब बाल-दीक्षा के प्रतिरोध का प्रश्न आया तो सरदार पणिकर ने कहा था कि 'कानून के द्वारा इसका प्रतिरोध करने का मतलब है जनता के मौलिक अधिकार पर प्रहार। अतः कानून के द्वारा बाल-दीक्षा रोकना किसी दृष्टि से उचित नहीं लगता।'

मैं इस बात का कभी समर्थक नहीं हूँ कि बाल-दीक्षा के नाम पर

अयोग्य दीक्षा दी जाए। यदि कहीं पर भी बहकाकर, धमकाकर या फुसलाकर दीक्षा दी जाती है तो मैं उसका पहला विरोधी हूँ। यह भी सत्य है कि अनेक जगह अयोग्य दीक्षाएं भी होती हैं, पर उन्हें रोकने के लिए यह तरीका उचित नहीं लगता। उचित तो यह हो कि स्वयं साधु-समाज का वातावरण ऐसा स्वस्थ बनाया जाए कि अनुचित दीक्षा देने का कोई अवसर ही न आए।

अपनी बात मैं कह सकता हूँ। हमारे तेरापंथ संघ में दीक्षा पूरी जांच के बाद ही होती है। मुझे इस संबंध में रंचमात्र रडकन भी पसंद नहीं। यहां अनेक नाबालिग तो दीक्षा की प्रार्थना करते-करते ही साबालिग हो जाते हैं। उनके माता-पिता भी पूर्णतया सहमत हों, तभी मैं दीक्षा के संबंध में विचार करता हूँ। हमारा आज तक का इतिहास भी इस बात का साक्षी है कि हमारे यहां दीक्षा पूरी परीक्षा के बाद ही होती है।

मैं योग्य दीक्षा का समर्थक हूँ

इस अवसर पर मैं सभी धर्माचार्यों से भी यह कहना चाहूंगा कि वे इस बात पर गहराई से सोचें। उनकी जरा-सी भी असावधानी का असर जनता पर बहुत बुरा असर होता है। बाल-दीक्षा के संबंध में भी अगर पूर्ण सतर्कता नहीं बरती जाती तो वह जनता में आलोचना का विषय बन जाती है। आज जो नाबालिग दीक्षा-प्रतिबंधक बिल लोग लाने की सोचते हैं, इसमें उनकी असावधानी एक प्रमुख कारण है। अब भी अगर वे इस ओर ध्यान नहीं देंगे तो समस्या और भी जटिल हो सकती है। अतः आज धर्माचार्यों को अपने-अपने संप्रदाय को टटोलने की आवश्यकता है कि उनके यहां कोई अयोग्य दीक्षा तो नहीं होती है। मेरा यह कोई आग्रह नहीं है कि बाल-दीक्षा ही होनी चाहिए। मैं योग्य दीक्षा का समर्थक हूँ। परंतु कोई बालक योग्य हो ही नहीं सकता, यह मैं नहीं मानता। अतः बाल-दीक्षा पर प्रतिबंध लगाने का अर्थ हैहसारे संसार के बालकों को अयोग्य करार देना। मेरा आग्रह है कि योग्य दीक्षा हो। फिर दीक्षित होनेवाला भले बालक हो, भले युवक हो और भले वृद्ध हो।

५९ : श्रद्धा : उर्वरा भूमि*

व्रत की उर्वरा

बीज विकास पाता है, किंतु उर्वरा भूमि मिले तब। कुछ भूमि सहज उर्वरा होती है, कुछ प्रयत्नपूर्वक बनाई जाती है। व्रत के लिए भी यही बात है। व्रत के लिए उर्वरा भूमि है श्रद्धा। श्रद्धा की उर्वरा में व्रत शतशाखी बन जाते हैं। सहज श्रद्धा के लिए आंदोलन जरूरी नहीं होता, किंतु श्रद्धा जगाने के लिए आंदोलन अवश्य चाहिए। शब्द की दृष्टि से यह अणुव्रतों का आंदोलन है। भावना की दृष्टि से यह श्रद्धा-जागरण का आंदोलन है। व्रत का स्थान दूसरा है, पहला स्थान श्रद्धा का है। हृदय श्रद्धा से बदलता है, व्रत से नहीं।

अहिंसा कब निखरती है

मैं बहुधा कहा करता हूं कि अहिंसा और सत्य की कमी है, यह उतना चिंतानजनक विषय नहीं, जितना कि उनके प्रति श्रद्धा टूटती जा रही है, यह चिंतनीय है। भौतिक वातावरण में पलनेवाली बुद्धि का विश्वास हिंसा, कूटनीति और शस्त्रों में ही जमता है। इसी लिए सत्यदर्शी मनीषियों ने कहा है—‘आत्मा को देखो, उसे समझो, उससे प्रेम करो, उसमें से समता का स्रोत बहाकर अभय बनो।’ अभय स्वतंत्र व्रत नहीं है, किंतु यह व्रत-निर्माता है। भय वहां होता है, जहां श्रद्धा का उत्कर्ष नहीं होता। श्रद्धा का उत्कर्ष ही अभय है। अभय आता है तो साधना निर्बाध हो जाती है, कष्ट और मौत का डर मिटता है और अहिंसा निखर उठती है। निष्कर्ष की भाषा में अहिंसा ही व्रत है और सारे व्रत इसी के पहलू हैं।

श्रद्धा सम्यक बने

व्यवहार की दुनिया में एक मित्र भी शांति और आनंद का हेतु

*अहिंसा-दिवस पर प्रदत्त प्रवचन।

बनता है। वह दिन कितनी शांति और आनंद का होगा, जिस दिन सारे जीव हमारे सच्चे मित्र बन जाएंगे! वैर-विरोध की आशंका से करोड़ों अस्त्र-शस्त्रों का निर्माण करना पड़ रहा है। वह दिन कितना शुभ होगा, जब सारे वैर-विरोधों की आशंका धुल जाएगी! शत्रु-भाव से मैत्री नहीं होती; घृणा से प्रेम, शस्त्रीकरण से अभय और अशांति के साधनों से शांति नहीं लाई जा सकती। हमारी श्रद्धा अहिंसा में है, अभय और मैत्री में है। श्रद्धा सबमें है। उसके बिना कोई जी नहीं सकता। किंतु जिनकी श्रद्धा हिंसा, भय, घृणा और शत्रुता में है, उनकी श्रद्धा बदलेहइसी लक्ष्य के साथ हम कार्य करते चलें और चलते चलें। सही लक्ष्य की दिशा में बढ़ते चरणों के लिए कोई भी मंजिल दूर नहीं होती।

सुजानगढ़

६० : समस्याओं का समाधान

अनाचार ही दरिद्र है

आज देश में आचार की बड़ी भारी आवश्यकता है। इसके बिना देश दरिद्र है। पैसा नहीं होने से कोई दरिद्र नहीं हो जाता। वास्तव में तो दरिद्र अनाचार ही है। यदि पैसा नहीं होने से ही कोई दरिद्र हो जाता तो सबसे बड़े दरिद्र तो साधु होते। पर उनके सामने तो सम्राटों के सिर झुक जाते हैं। अतः वे दरिद्र कैसे? आज मनुष्य का मूल्यांकन पैसे से हो रहा है, यह उचित नहीं है। मनुष्य सही स्थिति में सोचेगा तो उसे यह समझ में आ जाएगा कि यह उसने बड़ी भारी भूल की है। पर आज कहा किसे जाए! आज तो सभी यही सोचते हैं कि पैसा बड़ा है। एक राज-सभा की बात है एक बार उसके सार सदस्यों ने शराब पी ली। इससे सारे सदस्य नशे में झूमने लगे। केवल मंत्री और राजा दो ही ऐसे थे, जो उस समय नशे में नहीं थे। दोनों ने ही सदस्यों को बहुत समझाया, पर नशे की हालत में उन पर कोई अनुकूल असर नहीं पड़ा। उलटे वे लोग ज्यादा नशे में पागल हो गए और जोर-जोर से नाचने-गाने लगे। नशे का वेग यहां तक बढ़ गया कि उन्होंने अपने सारे कपड़े भी उतार दिए और नाचते-कूदते राजा तथा मंत्री की ओर दौड़े। दोनों ने उन्हें फिर समझाया, पर सब व्यर्थ। उन्होंने सोचा अब खैर नहीं। आखिर बहुमत का ही जमाना है। यदि और समझाने की कोशिश करेंगे तो जान पर जोखिम है। अतः उन्होंने भी कपड़े उतार दिए और उनके साथ ही नाचने-गाने लगे।

बंधओ! आज भी ऐसी ही स्थिति है। सारे लोग पैसे के पीछे पागल-से दौड़ रहे हैं। कुछ लोग उन्हें समझाते भी हैं, पर कोई उनकी सुनता नहीं। उलटे कई लोग तो उन्हें प्रतिकूलगामी तक कह देते हैं। पर समझदार लोग राजा और मंत्री की तरह बहुमत के चक्कर में पड़नेवाले

नहीं हैं। उन्हें सत्य पर विश्वास है। आखिर नशा उतरने पर संसार को भी यहां आना पड़ेगा, इसमें कोई संदेह नहीं है।

अर्थ से अनेक समस्याएं पनपती हैं। यह प्रत्यक्ष है। जिसकी जड़ ही समस्या है, उसमें से समाधान आएगा ही कहां से? किसी समय दक्षिण भारत के एक बाबा घूमते-फिरते राजस्थान के जंगल में पड़ गए। उन्हें बड़े जोरों की भूख लगी। पर वहां खाने को क्या मिलता! आखिर ढूंढते-ढूंढते उन्हें एक तुंबे की बेल नजर आई। उस पर तुंबे के फल देखकर उन्होंने सोचा, यह शायद खाने का ही फल है। भूखे तो थे ही। उन्होंने झट फल तोड़ लिया और वे उसे खाने लगे। पर उसका एक टुकड़ा मुंह में रखते ही सारा मुंह कड़वा हो गया। उन्होंने सोचा, फल कड़वा है, शायद पत्ते मीठे होंगे। अतः उन्होंने एक पत्ता तोड़कर चखा। वह भी कड़वा जहर था। 'थू-थू' करते हुए उन्होंने लता का टुकड़ा तोड़कर मुंह में डाला, पर वह तो उनसे भी अधिक खारी थी। आखिर उन्होंने वह बेल उखाड़कर उसकी जड़ का थोड़ा-सा भाग चखा। पर उसने तो सबको मात कर दिया। वह तो हलाहल ही थी। अब उनकी समझ में आया कि जिसकी जड़ ही खारी है, उसकी लता, पत्ते और फल मीठे कहां से होंगे। इसी प्रकार अर्थ यदि समस्या है तो उससे समाधान कहां से आएगा? अतः आज नहीं तो कल, अंत में संसार को अपना दृष्टिकोण बदलना पड़ेगा कि अर्थ समस्याओं का हल नहीं है। समस्याओं का हल संयम है, आचार है। अणुव्रत-आंदोलन जन-जन की संयम-चेतना जगाना चाहता है, आचार की प्रतिष्ठा करना चाहता है। आप इसके सांचे में स्वयं को ढालें। आपका जीवन समस्या-मुक्त बन सकेगा।

६१ : शांति का मार्ग

भोग को बढ़ावा देना नास्तिकता है

एक सदगृहस्थ का जीवन अल्पपरिग्रही होता है। उसके लिए पैसे की बस उतनी ही आवश्यकता है, जितनी कि एक रोगी को दवा की और एक भूखे को भोजन की। गृहस्थ भीख मांगे, यह उसके लिए शर्म की बात है। उसे अपने लिए, अपने परिवार और समाज के लिए श्रम करके कमाना पड़ता है, इसलिए वह अल्पपरिग्रही कहलाता है। पर महापरिग्रही को सीमा की कोई चिंता नहीं होती। आज अधिकतर लोगों का यह दृष्टिकोण बन गया है कि जिस व्यक्ति के पास जितना अधिक धन होगा, वह उतना ही बड़ा होगा। पर आध्यात्मिक दृष्टि से देखा जाए तो व्यक्ति की आवश्यकताएं जितनी कम होंगी, उसे उतना ही अधिक आनंद मिलेगा। जिसकी जितनी अधिक आवश्यकताएं होंगी, उसकी शांति भी उतनी ही ज्यादा खतरे में रहेगी। यह हमारा भारतीय दृष्टिकोण है। पश्चिम के लोग इससे बिलकुल उलटे चलते हैं। वे लोग कहते हैं 'आवश्यकताएं बढ़ाओ, उससे उत्पादन बढ़ेगा और उससे शांति बढ़ेगी।' मैं इस सिद्धांत को नास्तिकवाद कहता हूँ। इस सिद्धांत के माध्यम से वे लोग भोग को बढ़ावा देते हैं। भोग को बढ़ावा देना नास्तिकता नहीं तो और क्या है? यह दूसरी बात है कि मनुष्य को अपने जीवन-निर्वाह के लिए कुछ आवश्यक साधन जुटाने पड़ते हैं। खाज आती है तो खुजलाना पड़ता ही है, पर ऐसा खुजलाना क्या, जिससे घाव ही पड़ जाए। यह तो अक्ल का दिवाला ही है!

परिग्रह-मात्र पाप है

जैन-दृष्टि के अनुसार जिस प्रकार परिग्रह का संग्रह पाप है, उसी प्रकार उसका व्ययदान या विनिमय भी धर्म नहीं है। कुछ लोग इस तथ्य का दुरुपयोग भी करते हैं। यदि कोई व्यक्ति उनके पास चंदा मांगने के

लिए आ जाए तो वे झट कह देते हैं 'भाई! हमारे धर्म में तो चंदा देने को पाप कहा है।' मैं उन लोगों से पूछना चाहता हूँ कि आपके धर्म में संग्रह करने को क्या धर्म कहा है; यदि पाप का इतना डर है तो आप इतना धन-संग्रह क्यों करते हैं। संग्रह करते समय तो उन्हें पाप का डर नहीं लगता और एक सामाजिक काम में चंदा देते समय उन्हें पाप का ध्यान आ जाता है। यह पाप का डर नहीं है, अपितु धन के प्रति आसक्ति है, मूर्च्छा है और धर्म के साथ खिलवाड़ है। अपने हाथ से पैसा देना नहीं है, अतः कोई-न-कोई बहाना तो निकालना ही पड़ता है।

हमारी दृष्टि में तो परिग्रह-मात्र पाप है। हालांकि प्राणी को सामाजिक कर्तव्य के नाते उसे अर्थ के रूप में सहयोग भी करना आवश्यक होता है, इसलिए हम उसका निषेध नहीं कर सकते, तथापि आवश्यक होने के बहाने उसे धर्म भी नहीं कह सकते। परिग्रह है तो पाप ही। वह चाहे आपके पास रहे या कहीं अन्यत्र रहे। उसके स्थानांतर होने से पाप धर्म नहीं हो सकता। इस संदर्भ में आचार्य भिक्षु के विचार अत्यंत मननीय हैं 'एक मकान में आग लग गई। मकान-मालिक ने अपना सामान निकाला और दूसरे मकान में डालना शुरू कर दिया, पर उस मकान में भी आग लग गई। अतः वह सामान वहां भी सुरक्षित न रह सका, जलकर भस्म हो गया। यही परिग्रह का हाल है। उसे अपने पास रखना जब पाप है, तब दूसरों को देने में धर्म कैसे हो जाएगा? परिग्रह का शेष तो हुआ नहीं। देने मात्र से कोई त्याग नहीं होता। उसका तो मोह छूटना चाहिए। नहीं तो वह फिर और आकर जमा हो जाएगा। मोह छूटने के बाद उस धन का क्या होता है, वह किस काम में आता है, यह चिंता उसे न हो। यही परिग्रह से मुक्ति का मार्ग है।'

पैसा वास्तव में ही पाप का मूल है। उसके आ जाने से सचमुच मन में शांति नहीं रहती। गरीबी में जितना दूसरों के प्रति प्रेम रहता है, उतना बहुधा पैसा आ जाने के बाद नहीं रहता।

दो भाई थे। दोनों में परस्पर प्रेम बहुत। रोटियां भी एक दांत टूटती थीं। पर थे दोनों बिलकुल निर्धन। दोनों ने मिलकर सोचा कि अब हमें धन-उपार्जन के लिए कौन-सा धंधा करना चाहिए। समाधान रहा हल्यहां देश में काम-धंधा है नहीं, परदेश चलें। वहां जाकर जीविका का कोई साधन करेंगे। ऐसा ही हुआ। परदेश जाकर दोनों ने अच्छा धन कमाया।

जब उन्हें घर की याद आने लगी तो काम-धंधा समेटकर वे घर की ओर चल पड़े। रास्ते में जब वे चल रहे थे, तब बड़े भाई के मन में आया कि घर पहुंचने पर तो धन के दो हिस्से हो जाएंगे। अतः अच्छा हो कि छोटे भाई को ही मार दूं! इधर छोटे भाई के मन में भी यही भाव आया। पर वह जल्दी ही संभाल गया। उसने विचार किया कि जिस धन के कारण मेरे मन में बड़े भाई को मारने का कलुषित विचार आया, वह मेरे लिए शुभ कैसे हो सकता है। यह तो पाप का मूल है। अतः इसे नष्ट कर देना अच्छा है। बस, एक दिन जब बड़ा भाई सो रहा था, तो उसने रुपयों की नोली पानी में बहा दी। उसका शब्द सुनकर बड़ा भाई चौंककर उठा और उसने पूछा 'यह आवाज कैसी हुई?' छोटे भाई ने सारी बात सरलतापूर्वक कह सुनाई। बड़े भाई ने भी अपनी बात बिना किसी लुकाव-छिपाव के बताते हुए कहा 'ठीक ऐसा ही भाव मेरे मन में आया था। अतः अच्छा हुआ, तुमने मेरा रास्ता पहले ही साफ कर दिया। नहीं तो न जाने मैं क्या कर बैठता। इसलिए हमें पुनः धन का संग्रह नहीं करना चाहिए।' अब उनके मन का पाप भी धुल गया और वे प्रेमपूर्वक रहने लगे। यह एक उदाहरण है। पर इसका सत्य भी छिपाने-जैसा नहीं है। प्रायः देखा जाता है कि बड़े-बड़े धनवान भाई भी जब आपस में बंटवारा करते हैं तो एक-एक पैसे के लिए कोर्ट चले जाते हैं। यह पैसे के प्रति ममत्व-भावना है। ममत्व ही महापरिग्रह है। एक गृहस्थ को पैसे के साथ ठीक वैसा ही बर्ताव करना चाहिए जैसा एक धाय अपने मालिक-पुत्र के साथ करती है। उसके प्रति उसके मन में ममत्व का प्रेम नहीं होता। उसी प्रकार श्रावक को भी अपनी आजीविका का साधन चाहिए। उसमें ममत्व स्थापित नहीं करना चाहिए। यह दर्शनहविजयी का दर्शन है, जैन-साधना का दर्शन है।

सारांश के रूप में आप समझेंहपरिग्रह का बाह्य रूप धन-धान्य का संग्रह है। उसका आंतरिक रूप उसके प्रति मूर्च्छा/आसक्ति है। बाह्य परिग्रह से एक सीमा तक जुड़ा रहना गृहस्थ की मजबूरी है, पर वह अनावश्यक संग्रह से तो आसानी से बच ही सकता है; अर्थार्जन के अनुचित साधनों को अपनाने से तो परहेज कर ही सकता है। और आंतरिक परिग्रहहमूर्च्छा का जहां तक प्रश्न है, व्यक्ति चाहे तो उससे काफी हद तक बच सकता है। इस पूरे संदर्भ में मैं तो यहां तक कहता

हूं कि परिग्रह-मुक्ति ही शांति का साधन है। व्यक्ति यदि शांति से जीना चाहता है तो उसे अपरिग्रह का मार्ग स्वीकार करना ही होगा। जिस सीमा तक वह परिग्रह से छूटेगा, उस सीमा तक वह शांति की प्राप्ति कर सकेगा।

६२ : जैन-धर्म और सृष्टिवाद

सब-कुछ ज्ञेय है

एक दृष्टि से सोचें तो सृष्टि क्या है, क्यों है, कब से है आदि प्रश्न हमारे लिए आवश्यक नहीं लगते। जब गौतम बुद्ध से पूछा गया कि आत्मा है या नहीं, सृष्टि आदि है या अनादि, तब उन्होंने इस विषय में कुछ नहीं कहा। वे मौन रहे। उनके इस मौन का कुछ लोगों ने यह अर्थ लगाया कि बुद्ध इस तथ्य के जानकार नहीं थे, अतः उन्होंने कोई उत्तर नहीं दिया। कुछ लोग यह भी मानते हैं कि वे इन प्रश्नों को आवश्यक नहीं मानते थे, अतः उन्होंने इनका कोई उत्तर नहीं दिया। जैसा कि स्वयं बुद्ध ने कहा है—‘ऐसा नहीं कि मैं जानता नहीं हूँ, पर साधक जीवन में ये प्रश्न मुझे आवश्यक नहीं लगते। साधना का मार्ग आष्टांगिक मार्ग है। सम्यक प्रवृत्ति, सम्यक वाणी, सम्यक चिंतन आदि की साधना साधक के लिए आवश्यक है।’ ‘साधक को इन अप्रासंगिक प्रश्नों में नहीं उलझना चाहिए’—अपने इस चिंतन के आधार पर उन्होंने इन प्रश्नों को ‘अव्याकृत’ कहकर टाल दिया, पर भगवान महावीर ने ऐसा नहीं किया। वे किसी विषय में मौन नहीं रहे। उन्होंने कहा—‘कोई भी तत्त्व अज्ञेय नहीं है। सभी तत्त्व ज्ञेय हैं।’ अतः सभी तत्त्वों से विज्ञ होना आवश्यक है। यदि आत्मा, परमात्मा, मोक्ष, सृष्टि आदि विषयों को जानेंगे नहीं तो हमारी साधना ही क्या रह जाएगी? जो हमारा प्राप्तव्य है, उसके ज्ञान के बिना उसकी साधना केवल अंधानुकरण है। हम अंधानुकरण नहीं चाहते। हम परमात्मा बनना चाहते हैं। परमात्म-स्वरूप को समझना भी आवश्यक है। मोक्ष हमारा प्राप्तव्य है, अतः उसका ज्ञान भी अपेक्षित है। साधना का पक्ष स्पष्ट करते हुए एक जगह भगवान महावीर ने कहा है—

जो जीवे वि न याणाइ, अजीवे वि न याणई।

जीवाजीवे अयाणंतो, कहां सो नाहिइ संजमं?

हह जो जीव को भी नहीं जानता, अजीव को भी नहीं जानता, वह संयम को कैसे जानेगा ?

संयम का मतलब यही तो है कि किसी जीव को दुःख नहीं पहुंचाया जाए। पर जिसे जीव और अजीव का ज्ञान ही नहीं है, वह कैसे और किसकी दया करेगा ? इसी लिए भगवान महावीर किसी विषय में मौन नहीं रहे। छोट-छोटे प्रश्नों से लेकर बड़े-बड़े प्रश्नों तक का उन्होंने समाधान किया।

हां, ऐसे स्थान पर, जहां पाप का प्रसंग था, भगवान जरूर मौन रहे हैं। उस समय जब अधुनोत्पन्न सूर्याभ नाम का देवता भगवान के पास आया और बोलाहह 'भंते! आप तो सर्वज्ञ हैं, सब-कुछ जानते हैं। पर गौतम आदि चौदह हजार साधु छद्मस्थ हैं, उन्हें मैं अपनी दिव्य देवत्रुद्धि, द्युति, देवानुभव और नृत्यविधियां दिखाना चाहता हूं, जिन्हें अभी-अभी मैंने देवता होकर प्राप्त की हैं। तब भगवान ने न तो उसकी बात को आदर दिया, न अच्छा समझा। बस, मौनपूर्वक बैठे रहे। शास्त्रों के शब्दों मेंहहणो आढाइ णो परियाणइ तुसिणीए संचिद्धति। इसके साथ ही न उन्होंने इसका निषेध ही किया, क्योंकि उसकी इस बात को आदर देना जहां उनकी साधना के खिलाफ था, वहीं 'हां' कहने का मतलब नाटक का अनुमोदन होता। तब प्रश्न हो सकता है कि भगवान ने उसे 'हां' तो नहीं कहा, पर इस पाप-प्रवृत्ति का निषेध क्यों नहीं किया। इसका समाधान बहुत स्पष्ट हैहहभगवान निरर्थक शब्द तो बोलना नहीं चाहते थे, साथ ही यह भी जानते थे कि मैं यदि निषेध करूंगा तो यह दूसरा बहाना निकालेगा। अतः न तो उन्होंने उस नाटक का समर्थन किया और न निषेध किया। परिस्थिति का अंकन करते हुए मौन बैठे रहे। यह एक घटना-प्रसंग है। भगवान ऐसे प्रसंगों पर मौन रहे हैं। इसके अतिरिक्त जहां-कहीं लड़ाई का प्रसंग था, वहां भी मौन रहे हैं।

आत्मरक्षा के तीन उपाय

लड़ाई के स्थान पर मौन आवश्यक हो ही जाता है, अन्यथा अनेक प्रसंगों में साधु आत्मरक्षा नहीं कर सकता। लड़ाई के समय साधु-साध्वियों के आत्म-रक्षार्थ भगवान ने जो तीन उपाय सुझाए हैं, उनमें मौन भी एक है। वे तीन उपाय हैंहह

१. धम्मियाए पडिचोयणायाए पडिचोएत्ता भवति।

२. तुसिणीए वा सिया।

३. उठित्ता पा आताए एगंतमंतमवक्कमेजा।

यदि साधु के सामने दो-चार-पांच व्यक्तियों में आपस में संघर्ष हो जाए तो साधु को उपदेश के द्वारा उन्हें समझाना चाहिए। यह पहला तरीका है। यदि उपदेश देने पर भी समझें नहीं तो दूसरा उपाय है साधु मौन रहे, क्योंकि संसार-भर का पाप मिटाने की जिम्मेदारी तो उस पर है नहीं। उसके उपदेश से कोई समझता है तो अच्छी बात है, किंतु अगर कोई नहीं समझे तो वह क्या कर सकता है? अतः जहां उपदेश काम नहीं करता है, वहां साधु को मौन रहना चाहिए। इस अवस्था में, जबकि बैठे रहने से ही उसकी आत्मा में उद्वेग पैदा होता है, उसे वहां से उठकर एकांत में चला जाना चाहिए। यह तीसरा उपाय है। कोई कह सकता है कि यह तो कायरता है। पर ऐसी वीरता भी किस काम की, जिससे अपनी आत्मा में विक्षोभ पैदा होता हो? अग्नि में पड़कर मरना ही वीरता नहीं है। हां, तो भगवान महावीर ऐसे स्थान पर जरूर मौन रहे हैं, पर तत्त्वों का विवेचन करने में उनकी वाणी अस्खलित रूप में प्रवाहित हुई है।

लोक का स्वरूप

महावीर के प्रमुख शिष्य गौतम ने पूछा 'भंते! लोक क्या है?' भगवान ने उत्तर दिया 'जीव और अजीव जड़ और चेतन का संगम ही लोक है।' आप बताएं कि संसार इसके अलावा और है ही क्या। संसार में जितनी भी चीजें हैं, वे जड़ और चेतन जड़ दो तत्त्वों में समाविष्ट हो जाती हैं। जीव यानी चेतन द्रव्य, अजीव यानी जड़। यहां जड़ का अर्थ मूर्ख नहीं है। जड़ यानी अचेतन। सर्दी में ठिठुर जाने पर मनुष्य कड़ा हो जाता है, उसे संस्कृत-साहित्य में 'जाड्य' कहा है। उसका मतलब भी यही है कि सर्दी के कारण मनुष्य एक प्रकार से अपनी चेतना खो बैठा। आज तो सचमुच ही मनुष्य जड़ अचेतन पदार्थों के संपर्क से जड़ हो रहा है। यदि मोटर न हो तो उसका एक मील भी जाना दूभर हो जाता है। पंखा न हो तो उसका बैठना मुश्किल हो जाता है। यह चेतन पर जड़ की ही तो विजय है। इतना न भी हो तो भी प्रत्येक व्यक्ति के पास कुछ-न-कुछ कपड़े तो अवश्य होते हैं। वे भी जड़ ही हैं। और भी सूक्ष्म में जाएं तो कर्म तो प्रत्येक मनुष्य के हैं ही। वे भी तो जड़ ही हैं। अतः संसार में रहते हुए प्रत्येक मनुष्य को जड़ के साथ कुछ-न-कुछ तो

लगाव रखना ही पड़ता है।

पांच जड़-तत्त्व

जड़ के पांच भेद हैं१. धर्म २. अधर्म ३. आकाश ४. काल ५. पुद्गल।

लोक का स्वरूप

धर्म और अधर्महूये दोनों गतिसहायक और स्थितिसहायक तत्त्व हैं। इनके बिना जीव और अजीव गति और स्थिति की क्रिया किसी प्रकार की नहीं कर सकते। तत्त्व-निरूपण के क्षेत्र में भगवान ने इन दो विलक्षण तत्त्वों का प्रतिपादन किया है। अन्यान्य दर्शनों में ये अलभ्य हैं। आज तो विज्ञान भी इस बात की पुष्टि करने लगा है कि बिना किसी सहयोगी तत्त्व के गति हो नहीं सकती। जिस प्रकार पानी के बिना मछली चल नहीं सकती, पटरी के बिना गाड़ी चल नहीं सकती, उसी प्रकार कोई भी पदार्थ धर्म के बिना गतिवान नहीं हो सकता। इसी प्रकार स्थिति में भी अधर्म तत्त्व अनिवार्य रूप में सहायक है। यहां 'धर्म' और 'अधर्म' शब्दों का प्रयोग पुण्य और पाप या भले और बुरे के अर्थ में नहीं किया गया है। यहां इनका अर्थ हैगति-सहायक और स्थिति-सहायक तत्त्व। ये दोनों ही तत्त्व लोक-व्यापी हैं। दूसरे शब्दों में हम इन्हें लोक और अलोक के विभाजक भी कह सकते हैं।

तीसरा तत्त्व हैहआकाश। आकाश का लक्षण हैहअवकाशदान। इसलिए वह अभावात्मक नहीं है। यदि वह अभावात्मक होता है तो हमें अवकाश कौन देता? यह लोक और अलोक दोनों ही जगह व्याप्त है। हम यहां बैठे हैंहयह इस मकान का आकाश है। इसी प्रकार जितने आकाश का जो अवगाहन कर लेता है, उसे हम तदाकाश कह देते हैं, पर तत्त्वतः आकाश एक ही है। जितना आकाश जिस समय घड़े में बद्ध रहता है, वह घटाकाश कहलाता है, पर यदि घड़ा फूट जाए तो वह आकाश कहां जाएगा? वह तो यहीं रहेगा, क्योंकि वह व्यापक है। हम उसे घटाकाश की जो संज्ञा देते हैं, वह तो काल्पनिक है।

चौथातत्त्व हैहकाल। यह भी एक जड़ पदार्थ है। समूचे संसार को वृद्ध तो यही करता है। एक कपड़ा बिना काम में आए संदूक में पड़ा-पड़ा ही पुराना हो जाता है। क्यों? यह इसलिए कि काल उस पर से बरत जाता है। उसका लक्षण ही बरतना है, क्योंकि वह इकट्टा होकर तो रहता

नहीं है। काल के सूक्ष्मतम अंश को 'समय' कहते हैं। उसके टुकड़े नहीं होते। हमारे एक चक्षु-स्पंदन में असंख्यात समय बीत जाते हैं, यह इसकी सूक्ष्मता का एक निदर्शन है।

अजीव के पांच भेदों में काल के सिवाय चार अस्तिकाय हैं। अस्तिकाल यानी सावयव द्रव्य। उदाहरण के लिए कपड़े के एक टुकड़े को लें। कपड़ा सूक्ष्म-सूक्ष्म तंतुओं का एक संघात है। एक-एक तंतु भी सावयवी है, क्योंकि वह भी अनेक परमाणुओं से बना है। इसलिए एक छोटे-से-छोटा टुकड़ा भी अस्तिकाय है। कुछ तत्त्वों के टुकड़े काल्पनिक ही हो सकते हैं और कुछ के वास्तविक। 'अस्ति' यानी सद्वस्तु, 'काय' यानी समूह। अस्तिकाय के पीछे धर्म आदि तत्त्व लगाने से उसके धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय और जीवास्तिकाय रूप बन जाते हैं। काल द्रव्य अस्तिकाय नहीं है।

जितने पुद्गल स्कंध हैं, वे अस्तिकाय हैं। परमाणु अस्तिकाय नहीं होता, क्योंकि उसके प्रदेश नहीं होते। जिनके प्रदेश होते हैं, उन्हें ही अस्तिकाय कहा जा सकता है।

काल अस्तिकाय नहीं है, क्योंकि वह संगठित नहीं हो सकता। और सब चीजें संगठित हो सकती हैं, पर काल में यह क्षमता नहीं है।

इस प्रकार जहां जीव और अजीव दोनों हों, उसे लोक कहते हैं। जहां केवल एक अजीव हो, उसे अलोक कहते हैं। लोक का यह स्वरूप बताने के बाद प्रश्न आता है कि वह बना कैसे। इसका उत्तर देते हुए भगवान ने कहा है 'यह लोक शाश्वत है, ध्रुव है, नित्य है।' अर्थात् कभी ऐसा समय नहीं था, जब यह लोक नहीं था। जब छह द्रव्य शाश्वत हैं, तब उनकी आदि कैसे निकाली जा सकती है? कांच की चूड़ी हाथ में देकर कोई कहे कि इसका किनारा निकालो, तो यह कैसे संभव है? जब उसकी कोई आदि है ही नहीं, तब वह निकाली कैसे जाए? इसी प्रकार जब लोक अनादि है तो उसकी आदि कैसे बताई जा सकती है?

कौन है सृष्टि का कर्ता

फिर प्रश्न होता है कि यदि आदि नहीं, तो न सही, पर इसको बनानेवाला तो कोई होगा। जब हम इसे अनादि मान लेते हैं, तब बनाने का प्रश्न ही कहां रह जाता है? यदि कोई बनानेवाला मानें तो अनेक समस्याएं सामने आएंगी। पहली समस्या तो यह आएगी कि यदि सृष्टि

को किसी ने बताया है, तो उसको किसने बनाया? अगर वह अनादि है तो फिर सृष्टि को अनादि मानने में क्या आपत्ति है? अतः जैन-दर्शन किसी को सृष्टि का कर्ता-हर्ता नहीं मानता। वह तो अनादि है। सृष्टि का प्रत्येक पदार्थ परिणमनशील है। उसमें क्षण-क्षण परिवर्तन होता रहता है। पर पदार्थ की दृष्टि से वह शाश्वत है, क्योंकि परिवर्तनशील होने के बावजूद कोई भी पदार्थ कभी समूल नष्ट नहीं होता। पदार्थ का यदि समूल नाश हो जाए तो पदार्थ नाम का कोई तत्त्व ही नहीं रह जाता। पर चूंकि उसके पर्याय ही बदलते हैं, वह स्वयं स्थिर रहता है, अतः उसका अस्तित्व रहता है। सापेक्ष दृष्टि से उसमें परिवर्तन भी होता है और स्थैर्य भी रहता है। उस परिवर्तन को ही उत्पाद और विनाश मान लिया जाता है तो हमें कोई बाधा नहीं।

क्या महाप्रलय होता है

अब प्रश्न है कि यदि सृष्टि अनादि है तो क्या महाप्रलय नहीं होता। इसका समाधान है कि वैसे तो प्रतिक्षण सृष्टि में प्रलय हो ही रहा है। पहले क्षण जो है, वह दूसरे क्षण नहीं रहता। उसके सारे पर्याय बदल जाते हैं। इस दृष्टि से प्रत्येक पदार्थ प्रतिक्षण मरता ही रहता है। और जो मर जाता है, उसके लिए तो संसार में प्रलय हो ही गया। उससे भी बढ़कर एक प्रलय होता हैहबबाढ़, भूकंप आदि से। फिर आज तो बम भी एक प्रलय का रूप ही बन गया है। हिरोशिमा और नागासाकी में जो बम फूटे थे, वे क्या किसी प्रलय से कम थे? इस प्रलय का मनुष्य ने अपने हाथों निर्माण किया। भूकंप भी कभी-कभी इतने प्रलयकर होते हैं कि जल के स्थान पर स्थल हो जाता है और स्थल के स्थान पर जल हो जाता है। ऐसा माना जाता है कि यहां राजस्थान में पहले कभी समुद्र था। पर अब तो बालू के टीले-ही-टीले नजर आते हैं। और सबसे बड़ा प्रलय तो छठे आरे के आदि में होगा। अभी पांचवां आरा चल रहा है। इसका कालमान इक्कीस हजार वर्ष है। इसके बाद एक महाप्रलय होगा। पर वह स्वाभाविक पुद्गलों का परिणमन है। उसको करनेवाला कोई नहीं होता। कई लोग कहते हैं, प्रलय करनेवाला ईश्वर है। पर हम ईश्वर के सिर यह पाप मढ़ना नहीं चाहते। जब एक मनुष्य को मारना ही पाप है तो सारी सृष्टि के प्रलय का पाप तो जाने कितना भारी हो जाता होगा। जैन-दृष्टि से वह प्रलय प्राकृतिक है। एक निश्चित अवधि के उपरांत

पुद्गलों की तदनुरूप परिणति हो जाना असंभव भी नहीं है।

वह प्रलय भी सारी सृष्टि में नहीं होगा। विश्व के एक सीमित क्षेत्र में ही होगा। उसमें भी सारे प्राणियों का नाश नहीं होगा। बीज रूप में वहां भी प्राणी गिरि-कंदराओं में लुक-छिपकर अपने प्राणों की रक्षा करेंगे। एक निश्चित काल के बाद फिर सृष्टि का विकास शुरू होगा। धीरे-धीरे पृथ्वी में उर्वरत्व आने लगेगा। सूर्य और दूसरे प्राकृतिक साधन भी जीवन के अनुकूल स्थिति पैदा करने लगेगे। तदनंतर एक महापुरुष पैदा होगा। प्रकृति से ही अतिक्रूर बने मानव पुनः मानवता का मार्ग अपनाएंगे। सामाजिक और धार्मिक जीवन पुनः प्रतिष्ठित होगा। इस प्रकार प्राकृतिक, धार्मिक और सामाजिक जीवन के पुनरुत्थान से सभ्यता का अरुणोदय होगा और सृष्टि वर्तमान रूप में स्थिर हो जाएगी। जैन-दृष्टि के अनुसार कालक्रम के प्रभाव से विकास और हास का क्रम हमेशा से चलता आया है। अभी चलता है, आगे भी चलता रहेगा और यही सृष्टि का स्वरूप है।

जैन-दृष्टि से सृष्टि के स्वरूप का संक्षिप्त विवेचन मैंने किया। इसका और सूक्ष्म ज्ञान अपेक्षित है। सूक्ष्म ज्ञान हो जाने के पश्चात इस संसार से मुक्त होने का मार्ग प्रशस्त हो जाएगा। आखिर प्रत्येक भव्य प्राणी का लक्ष्य इस संसार से मुक्त होना है। जिस दिन व्यक्ति इस लक्ष्य तक पहुंचने में सफल हो जाता है, वह सब-कुछ प्राप्त कर लेता है। उसके लिए फिर प्राप्त करने के लिए कुछ भी शेष नहीं रहता।

६३ : जैन-धर्म और साधना

साधना और मर्यादा

जीवन-विकास में ज्ञान का स्थान कम नहीं है, पर बिना आचार का ज्ञान बहुत महत्त्व नहीं रखता। साधना कोई नई चीज नहीं है। जितने तीर्थंकर हुए हैं, उन सबने इसका विशद विवेचन किया है। अंतिम तीर्थंकर भगवान महावीर ने भी इस विषय पर बहुत-कुछ कहा है। पर उनका शासन-काल 'वक्र-जड़ता' का काल था। 'वक्र-जड़' यानी तर्कबाजहजिसकी बात में सार कम और निस्सार ज्यादा, तर्क ज्यादा। दुकानदार के पास जाकर कोई भाव-ताव पूछे, यह बुरा नहीं है। पर कोई व्यक्ति बात तो पूछे ज्यादा और खरीदे बिलकुल नहीं, तब दुकानदार को भी झुंझलाहट-सी आ जाती है। इसी प्रकार जो कोई मात्र तर्क के लिए तर्क करे, आचरण कम करे, उसे वक्र-जड़ कहा जाता है। इसी लिए इस जमाने की साधना को कठिन साधना कहा गया है। पहले तो साधना ही कठिन है। दूसरे, कोई साधुत्व ले भी लेता है तो उसका पालन कठिन है। फिर पालन भी करता है तो उसे ठेठ तक पहुंचाना और भी कठिन है।

साधना आखिर साधना ही है। उसके लिए मर्यादा अत्यंत अपेक्षित है। बिना मर्यादा का साधक-जीवन निभना मुश्किल है। जहां मर्यादा होती है, वहां संघ तो स्वयं ही बन जाता है, पर संघ का स्थिरत्व उसी अवस्था में रह सकता है, जब मर्यादाएं सुव्यवस्थित हों। इस दृष्टि से भगवान महावीर ने बहुत बड़ा काम किया है। उनके सम-सामयिक धर्म-संघों में जितना स्थिरत्व भगवान महावीर का रह सका है, उतना अन्य किसी का नहीं रह सका। बौद्ध संघ में तो महात्मा बुद्ध के निर्वाण के साथ ही अव्यवस्था शुरू हो गई थी। इसका कारण भी यही था कि पहले तो उन्होंने इस ओर ध्यान दिया नहीं और पानी आ जाने के बाद पाल कैसे बांधी जा सकती है?

साधना और व्यवहार-पक्ष

साधना के जो मौलिक नियम हैं, वे तो हैं ही, पर भगवान महावीर ने साधना के व्यवहार-पक्ष को भी कम महत्त्व नहीं दिया। इसी लिए उन्होंने यह व्यवस्था दी कि साधुओं और साध्वियों को अलग-अलग स्थान में रहना चाहिए। ब्रह्मचर्य की नवबाड़ का निर्माण भी इसी दृष्टिकोण का फल है। यद्यपि स्त्री का स्पर्श हो जाने मात्र से, अकेली स्त्री से बात करने मात्र से ब्रह्मचर्य खंडित हो जाए, ऐसी बात नहीं है, फिर भी साधना की सुरक्षा और व्यवहार की शुद्धि की दृष्टि से उन्होंने यह विधान कर दिया कि साधु स्त्री का स्पर्श न करे और न अकेली स्त्री से बात ही करे।

यही नहीं, उन्होंने साधु-साध्वियों के लिए यहां तक नियम बना दिया है कि उन्हें ऐसे गांव में नहीं रहना चाहिए जहां साधु-साध्वियों के जंगल जाने का एक मार्ग हो, क्योंकि एक मार्ग होने से शरीर-बाधा से निवृत्त होने के लिए दोनों को एक ही स्थान पर जाना पड़ेगा। अतः ब्रह्मचर्य की साधना के लिए उन्होंने उपर्युक्त नियम बना दिया। साधना को अक्षुण्ण रखने के लिए उन्होंने यह भी कहा कि साधु अकेला विहार न करे। साध्वियों के लिए तीन से कम विहार करना वर्जित किया। शरीर-चिंता के लिए किसी साधु को रात में बाहर जाना पड़े तो अकेला नहीं जा सकता। साध्वियां भी दो से कम नहीं जा सकतीं। सुव्यवस्था ही वह कारण है कि आज ढाई हजार वर्ष हो जाने के बाद भी महावीर के शासन में ये बुराइयां नहीं पनप पाई हैं। गौतम बुद्ध ने पहले तो स्त्रियों को प्रवर्जित नहीं किया और जब बाद में प्रवर्जित किया, तब इतनी सुंदर व्यवस्था नहीं रह पाई। इस कारण उनके संघ में अनेक बुराइयों ने हमला कर दिया। उसका परिणाम यह आया कि भिक्षुओं की साधना सुरक्षित नहीं रह पाई।

भगवान महावीर ने साधुओं और साध्वियों को समान महत्त्व दिया। उनकी दृष्टि में साधुओं की तरह साध्वियों को भी उपदेश देने और आत्म-शुद्धि करने का अधिकार है। पर दोनों के आचार और व्यवहार पर नियंत्रण उन्होंने शुरू से ही रखा। साधुओं और साध्वियों के पारस्परिक उतने ही संपर्क को स्वीकृति दी, जितना उचित और आवश्यक समझा। शेष के लिए निषेध कर दिया।

यद्यपि केवल मर्यादाएं कोई त्राण नहीं हैं। उनके पीछे भावना का रहना भी जरूरी है। इसी प्रकार केवल भावना से भी काम नहीं चलता। केवल भावना से व्यक्ति तो चल सकता है, संघ नहीं चल सकता। मर्यादाएं चाहे कितनी ही क्यों न हों, भावना के अभाव में फिर भी कभी-कभी गलती हो सकती है। अतः भावना तो रहनी ही चाहिए, पर मर्यादाओं से भावना को वेग मिलता है।

संदर्भ तेरापंथ का

इस प्रकार कुछ मर्यादाएं तो मौलिक होती हैं, पर कुछ मर्यादाएं सांप्रदायिक होती हैं। सांप्रदायिक मर्यादा का मतलब हैहसंप्रदायविशेष की मर्यादा। इस दृष्टि से भिक्षु स्वामी ने तेरापंथ में अनेक विशेष मर्यादाएं बांधी हैं। भगवान महावीर के बाद आचार्य भिक्षु के अतिरिक्त शायद ही कोई ऐसा आचार्य हुआ हो, जिसने संघ-संगठन को इतना मजबूत किया हो। पिछले आचार्यों ने मर्यादाओं का संकलन अवश्य किया है, पर उनमें अपनी तरफ से नई मर्यादाएं बनानेवाले बहुत कम आचार्य हुए हैं। इस दृष्टि से स्वामीजी ने निश्चित एक बहुत बड़ा काम किया है। जैसाकि अभी मैंने बताया कि भगवान ने यह मर्यादा की कि साधु-साध्वियों को उस गांव में इकट्ठा नहीं रहना चाहिए, जिस गांव में जंगल जाने का एक ही मार्ग हो। उन्होंने यह नहीं कहा कि जहां अलग-अलग दरवाजे हों, वहां साधु-साध्वियों को इकट्ठा नहीं रहना चाहिए। पर आचार्य भिक्षु इससे भी आगे बढ़े। उन्होंने कहा कि साधुओं को उस गांव में भी नहीं रहना चाहिए, जहां पहले से साध्वियां ठहरी हुई हों। इसी प्रकार साध्वियों को वहां नहीं रहना चाहिए, जहां साधु पहले से ठहरे हुए हों। अगर रास्ते चलते कभी कहीं ठहरने का मौका भी पड़ जाए तो एक रात से अधिक न ठहरें। गुरु तथा बड़ों की आज्ञा से यदि अधिक दिन रहने का मौका पड़ जाए तो भिक्षा के घरों का अलग-अलग बंटवारा कर लेना चाहिए। हां, आनेवालों की पहले से गांव में रहनेवालों को पहले दिन भक्ति करनी चाहिए। उन्हें गोचरी के लिए नहीं जाने देना चाहिए। भिक्षा में जो-कुछ प्राप्त हो, उसमें से अच्छा उन्हें देना चाहिए। पर इसके बाद पाक्षिक खमतखामणा करने जाने के अतिरिक्त साध्वियों को साधुओं के स्थान पर नहीं जाना चाहिए। यदि विशेष कार्यवश साधु-साध्वियों को एक-दूसरे के स्थान पर जाना आवश्यक हो तो उन्हें वहां बैठना नहीं, चर्चा-वार्ता करनी

नहीं। परस्पर किसी चीज का लेन-देन करना नहीं। ये मर्यादाएं संघ के सभी साधु-साध्वियों पर समान रूप से लागू होती हैं। इसमें गुरु-आज्ञा का अपवाद है।

जहां आचार्य रहें, वहां उनसे आज्ञा लेकर साधु केवल अपनी पूर्वसंबंधी साध्वियों को सेवा करा सकते हैं। पर बिना ज्ञातियों के किसी को किसी की सेवा करने और कराने की विधि नहीं है। यदि किसी कारणवश किसी से बात करनी भी पड़े तो दूसरे दिन 'गतदिवस-वार्ता' सुनाने के समय सारी बात आचार्य को निवेदन करनी चाहिए। एक बार जयाचार्य के पास एक साधु ने कहाह 'साध्वियों के साथ जो बात हुई, उसे पूर्णतः याद कैसे रख जा सकता है?' जयाचार्य ने कहाह 'मर्यादा आखिर मर्यादा है। उसका पालन तो करना ही पड़ेगा। यदि किसी को याद नहीं रहता है तो उसे पन्ना और पेंसिल अपने साथ ले जानी चाहिए। जो बातचीत हो, उसी समय उसे लिख ली जाए, ताकि दूसरे दिन वह आचार्य को निवेदन की जा सके।'

इन सब मर्यादाओं के बनाने का आचार्य भिक्षु का एकमात्र उद्देश्य, जैसाकि उन्होंने स्वयं लिखा है, यह थाहचारित्र चोखो पालवानो उपाय कीधो छै। अर्थात् चारित्रहसंयमहसाधुपन किस प्रकार सुखपूर्वक पाला जा सके, इसके उपायहमार्ग बनाया है। यद्यपि अनेक साधु ऐसे भी हो सकते हैं, जिनके सामने देवांगनाएं भी शृंगार करके आ जाएं तो भी वे विचलित नहीं होते, तथापि उनके लिए भी यह विधान है कि उन्हें एकांत में स्त्री के साथ नहीं रहना चाहिए। स्वामीजी ने शील की नवबाड़ में कहा हैह

सझ सिणगार देवांगणा, आई चलावण तास।

तिण आगे तो चलियो नहीं, तो ही रहिणों एकन्तवास॥

ह चलित करने के उद्देश्य से शृंगार सज कर आई देवांगना को देखकर भी जो साधु विचलित नहीं होता, उसे भी स्त्री के साथ एकांत में नहीं रहना चाहिए।

दशवैकालिक सूत्र में कहा गया हैह

हत्थपायपडिच्छिन्नं, कण्णनासविगप्पियं।

अवि वाससइं नारिं, बंभयारी विवज्जए॥

ह नाक, कान, हाथ, पैर कटी हुई सौ वर्ष की बूढ़ी स्त्री के पास

भी ब्रह्मचारी को अकेला नहीं रहना चाहिए।

पूछा जा सकता है कि ऐसे क्यों। यह इसलिए कि **बलवान् इंद्रियग्रामोह** इंद्रिय-समूह बलवान है। अग्नि के पास पड़े मक्खन का पिघलने से बचना कम संभव है। अतः अध्यात्म-अनुभूतिप्राप्त संतों ने ब्रह्मचारी को स्त्री-प्रसंग से बचने की बात पर जोर दिया है।

इसका यह मतलब नहीं कि साधुओं पर अविश्वास है। पर यह एक व्यवस्था है। वह चाहे छोटी भी क्यों न हो, पर उसका पालन होना आवश्यक है। आज कोई छोटी व्यवस्थाहर्मर्यादा की परवाह नहीं करके उसका भंग कर देगा तो कल वह बड़ी मर्यादा की भी क्या परवाह करेगा? अतः मर्यादा के क्षेत्र में छोटी और बड़ी का विभेद नहीं होता। मर्यादा के प्रति लापरवाही का मतलब है, उसके निर्माता पर अविश्वास। यदि उस पर अविश्वास हो गया, तब तो सब-कुछ साफ है। वहां क्या साधना होगी और क्या संयम होगा!

गतदिवस-वार्ता

आचार्य भिक्षु ने कहाह 'जो साधु आचार्य के पास रहें, वे प्रतिदिन *गतदिवस वार्ता* सुनाएं।' *गतदिवस-वार्ता* यानी कल क्या-क्या किया था, उसका आचार्य को निवेदन। प्रमुखतया इसमें ये बातें रहती हैहयथा समय स्वाध्याय की, आवस्सही-निस्सही कहा, चउव्वीसत्थव यथासमय किए, बड़े साधुओं को यथासमय वंदना की आदि-आदि। देखने में तो ये बातें छोटी-छोटी लगती हैं, पर इनका महत्त्व कम नहीं है।

आगमों में कहा गया हैह**अंगाणं किं सारो? आयारो।** अंगों का सार क्या है? अंगों का सार हैहआचार। इसी प्रकार हमारे लिए स्वामीजी की मर्यादाएं सार हैं। इसी लिए प्रत्येक 'हाजरी' में और प्रतिदिन 'लेखपत्र' में हम उनका स्मरण और प्रत्याख्यान करते हैं। यह त्याग केवल प्रथा रूप नहीं होना चाहिए। प्रथा रूप में होनेवाला त्याग केवल प्रदर्शन है। प्रदर्शन में आत्मा नहीं होती। हमें आत्मश्रद्धा से त्याग करना चाहिए।

श्रावकों का भी यह कर्तव्य है कि वे साधुओं की दिनचर्या और आचार-व्यवहार से परिचित रहें। पर इसका मतलब यह नहीं कि वे छिद्रान्वेषी बनें। हां, सहज रूप से आचार-व्यवहार में यदि किसी की कोई गलती ध्यान में आ जाए तो उसे नागवार करना भी उचित नहीं है।

यदि वे साधु-साध्वियों के आचार-व्यवहार की मर्यादाओं से परिचित नहीं होंगे तो अपना यह दायित्व कैसे निभा पाएंगे? अतः उनका साधुओं के आचार-व्यवहार से परिचित रहना भी आवश्यक है। इसी उद्देश्य से प्रकट में श्रावकों को सारी आचार-व्यवहार-विधि बताई जाती है।

६४ : आत्मशुद्धि का साधन*

भाग्य कर निर्माता कौन

यह एक गूढ सचाई है कि कोई मनुष्य किसी को उन्नत नहीं बना सकता। और हमारी तो यह निश्चित मान्यता है कि स्वयं ईश्वर भी किसी को उन्नत नहीं बना सकते। यह कहकर मैं ईश्वर की अवज्ञा नहीं कर रहा हूँ, पर वस्तु-स्थिति ही ऐसी है कि मुझे यह बताना ही पड़ेगा। यदि ईश्वर ही किसी को उन्नत या सुखी बना सकते हैं तो संसार में सुखी और दुखी दोनों क्यों? उन्हें तो सभी को सुखी ही सुखी बनाना चाहिए था। पर संसार में अनेक दुखी भी हैं। फिर ईश्वर तो समदर्शी हैं। वे किसी को सुखी या दुखी बनाएंगे ही क्यों? अतः स्पष्ट है कि अपने भाग्य का निर्माता मनुष्य स्वयं है। हम जो ईश्वर से प्रार्थना करते हैं, उसका उद्देश्य भी यही होना चाहिए कि हम उनसे प्रेरणा पाएं। उनके द्वारा बताए गए मुक्ति-पथ का स्मरण करें, अनुसरण करें। ईश-स्तुति का यदि हमने यह सही अर्थ समझा और आचरण किया तो निश्चित रूप में हम अपना कर्तृत्व दुनिया के समक्ष प्रस्तुत कर सकेंगे। इसी प्रकार प्रवचनकार भी किसी को उन्नत कर सकें, यह संभव नहीं है। वे तो केवल प्रेरणा दे सकते हैं। उन्नत तो व्यक्ति को स्वयं होना होता है। हां, इस संदर्भ में इतनी बात अवश्य है कि प्रेरणा देनेवाला पहले स्वयं सुधरा हुआ हो, अन्यथा उसके उपदेश से प्रेरणा मिले, यह कम संभव है।

उपदेश का अधिकारी कौन

आज बहुत-से लोग कहते हैं कि हम संसार की सेवा करना चाहते हैं। यह सही है या नहीं? यह तो मैं नहीं कह सकता, पर जब तक अपना जीवन उसके योग्य नहीं बनाया जाएगा, तब तक यह कहना भी ढोंग है। सुधारक होना भी कोई छोटी बात नहीं, पर वैसे वास्तव में सुधरा हुआ

*अणुव्रत-प्रेरणा-दिवस प्रदत्त प्रवचन।

होना बहुत बड़ी बात है। इसी लिए भारतवर्ष में यह माना गया है कि उपदेश देने का अधिकार उन्हें ही है, जो पारदर्शीहिसर्वज्ञ (Omniscient) हैं। हम भी जो उपदेश देते हैं, वह पारदर्शियों द्वारा बताए गए तत्त्वों के आधार पर ही देते हैं, अन्यथा हमें भी उपदेश देने का कोई अधिकार नहीं है।

क्या अणुव्रत धर्म का आंदोलन है

अणुव्रत धर्म का आंदोलन है या नहीं, यह प्रश्न अनेक बार आया करता है। मैं इसका उत्तर यह दिया करता हूँ कि यह धर्म का आंदोलन है भी और नहीं भी। एक धर्माचार्य के मुंह से ऐसी बात सुनकर शायद आप चौंकेंगे। पर चौंकने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि मेरा तो सिद्धांत ही स्याद्वाद ठहरा। अतः यह प्रश्न भी मुझे इसी दृष्टिकोण से देखना पड़ेगा। एक अणुव्रती यदि अहिंसक बनता है, झूठ बोलना छोड़ता है, अपरिग्रही बनता है तब यह धर्म नहीं तो और क्या है? दूसरी दृष्टि से वह जैन, बौद्ध, वैदिक और ईसाई आदि में से किसी का आंदोलन नहीं है। अतः यह धर्म का आंदोलन नहीं भी है। इस दृष्टि से यह एक नीति का आंदोलन है, सदाचार का आंदोलन है।

धर्म के प्रति घृणा क्यों

मैं देखता हूँ कि धर्म का नाम आते ही लोग नाक-भौंह सिकोड़ने लग जाते हैं। यह अत्यंत खेद का विषय है। जो धर्म अमृत बनकर आया था, उसे आज लोगों ने विष बना दिया है। जो धर्म मनुष्य की आत्मोन्नति का साधन बन कर आया था, उसे आज आत्म-पतन का रास्ता बना दिया गया है। इसी लिए धर्म का नाम आते ही बुद्धिवादियों के विचार हिल उठते हैं। इतिहास साक्षी है कि धर्म के नाम पर खून की नदियां बहीं, धर्म के नाम पर देश का विभाजन हुआ। सती प्रथा-जैसी कुप्रथाएं भी धर्म के नाम पर प्रचलित की गईं। आज भी धर्म के नाम पर अनेक अनुचित काम कराए जाते हैं। यह धर्म को ठीक प्रकार से नहीं समझने का परिणाम है। बहुत-से लोग आज भी यह समझते हैं कि गुरु का चरणामृत पीने मात्र से उनका कल्याण हो जाएगा। कैसे होगा इससे कल्याण? कल्याण तो तब होनेवाला है, जब धर्मगुरुओं द्वारा बताए गए मार्ग का अनुसरण किया जाएगा; उन्होंने जो पथ अपनाया है, उसे अपना पथ बनाया जाएगा; धर्म को जीवनगत बनाया जाएगा; अपनी हर छोटी-

मोटी प्रवृत्ति के साथ उसे जोड़ा जाएगा।

धर्म के साथ यह बहुत बड़ा अन्याय हुआ है कि उसे सब प्रकार के अनिवार्य कार्यों में घसीट लिया गया। जिस प्रवृत्ति से अपना काम चले, उसे ही धर्म मान लिया गया। किसी को कोई कार्य सामाजिक या राष्ट्रीय दृष्टि से आवश्यक लगा। चूंकि वह सीधा तो कराया जाना संभव नहीं था, अतः उसे धर्म का जामा पहना दिया गया; धर्म के रंग से रंग दिया गया। यह धर्म के साथ अच्छा व्यवहार नहीं हुआ। जो धर्म आत्म-शुद्धि का साधन था, उसे जीवन चलाने का साधन मान लिया गया। व्यापक अर्थ में वह कर्तव्य भी धर्म मान लिया जाता है, जो संसार के लिए आवश्यक है। पर उस दृष्टि से तो हिंसा भी धर्म हो जाएगी। देश पर आक्रमण होने की स्थिति में प्रतिरक्षा के रूप में युद्ध में होनेवाली हिंसा को भी धर्म क्यों नहीं माना जाएगा? कौरवों और पांडवों का युद्ध 'धर्म-युद्ध' कहलाया था, वह इसका ही परिणाम था। व्यापक परिभाषा में यह चलता है, पर वास्तव में तो आत्म-शुद्धि का साधन ही धर्म है। जहां तलवार चले, वहां धर्म मान लेना, धर्म वास्तविक अर्थ का न समझने का सूचक है।

हिंसा धर्म नहीं

इसी प्रकार अनेक की रक्षा में थोड़ों की हिंसा को भी कई लोग क्षम्य मान लेते हैं, धर्म मान लेते हैं। लेकिन तत्त्वतः हिंसा आखिर हिंसा है। थोड़ी भी हिंसा अहिंसा नहीं हो सकती, धर्म नहीं हो सकती। अहिंसा का दृष्टिकोण है कि एक की भी हिंसा न हो। इसी लिए तो साधु थोड़ी-सी भी हिंसा के प्रसंग में अपना आत्मोत्सर्ग कर देते हैं, पर हिंसा नहीं कर सकते। राजनीति में यह चलता है। पर मुश्किल तो यह है कि लोग एक ही लाठी से सबको हांकना शुरू कर देते हैं। यहां तक कि कई जैनाचार्यों ने भी यह कह दिया **चुण्णिज्ज चक्कवट्टीसेणामवि संघ-कज्जम्मि** संघ की रक्षा के लिए भले चक्रवर्ती की सेना को नष्ट कर दो, वह हिंसा नहीं है। यह उस युग की वाणी है, जबकि धर्म-संप्रदायों में आपसी संघर्ष चलते थे। अपने संप्रदाय और जाति की रक्षा के लिए ऐसा कह दिया गया था। पर गहराई से देखा जाए तो यह अहिंसा की वाणी नहीं है। वास्तव में तो वहां संघ और धर्म की रक्षा है ही कहां? हिंसा के द्वारा की जानेवाली रक्षा में अधर्म तो पहले ही हो चुका। अतः

उसे धर्म माना ही कैसे जाए? गांधीजी ने भी यह कहा थाह्व'अहिंसा से भले सौ वर्षों बाद स्वराज्य मिले, वह मंजूर है, पर हिंसा से यदि आज भी स्वराज्य मिलता है तो मुझे वह नहीं चाहिए।' ऐसा क्यों? यह इसलिए कि वे साध्य-शुद्धि के साथ साधन-शुद्धि को भी उतना ही महत्त्व देते थे।

इसी क्रम में कुछ लोग निर्बल की रक्षा के लिए सबल को मार देना भी धर्म मान लेते हैं। पर यह भी धर्म नहीं है। धर्म के क्षेत्र में निर्बल-सबल अमीर-गरीब, स्त्री-पुरुष-जैसा कोई भेद नहीं है। वह तो सब पर समान रूप से लागू होता है। इसलिए किसी को मारना धर्म नहीं हो सकता।

धर्म जाति के बंधन से मुक्त है

अतः आज प्रत्येक बुद्धिवादी को यह सोचना है कि मैं धर्म को बुरा न बताऊं। तथाकथित धर्मात्मा, जिन्होंने अपने स्वार्थ से धर्म को बदनाम किया, इस स्थिति के बनने में कारण बने हैं। यह अपने स्वार्थ का ही परिणाम है कि कुछ लोगों ने धर्म को भी जातिविशेष में बांध दिया। अमुक जाति को ही धर्म करने का अधिकार है, यह कहकर निश्चित रूप में उन्होंने धर्म का गला घोंटा है। धर्म एक जाति-विशेष में क्या, समूची मानव-जाति में भी नहीं बंधता। वह तो प्राणिमात्र के लिए है, क्योंकि धर्म कहीं दूसरी जगह नहीं रहता। अपनी आत्मा में ही रहता है। अतः किसी को उससे वंचित नहीं किया जा सकता। बंधुओ! मैं आपसे क्या कहूं! मुझे तो तभी अत्यधिक प्रसन्नता होगी, जब धर्म में जाति-पांति का भेद-भाव बिलकुल मिटा दिया जाएगा, जब कोई भी मनुष्य प्रत्येक स्थान को अपना घर मानकर धर्म करने में स्वतंत्र होगा। अणुव्रत संसार में यही काम करना चाहता है। उसने कुछ काम किया है, बहुत-कुछ करना बाकी है। अतः आज के दिन आप लोगों से यह कहना चाहूंगा कि आप उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि समझें एवं उसके नियम अपने जीवन में उतारकर उसे उत्तरोत्तर सफल बनाने की कोशिश करें।

सुजानगढ़

६५ : शांति का निर्दिष्ट मार्ग

यह एक निर्विवाद बात है कि संसार का हर प्राणी शांति चाहता है। प्रश्न है कि शांति के माने क्या। शास्त्रों में इस प्रश्न के उत्तर में कहा है **हैहसंति निरोहमाहु** निरोध ही शांति है। जब तक वृत्तियां खुली रहेंगी, तब तक शांति का निर्बाध-पथ पाना भी असंभव है। अतः कोई शांति चाहेगा तो उसे निवृत्ति का पथ अपनाना पड़ेगा। पर अगर कोई पूर्ण निवृत्ति न कर सके तो क्या करना चाहिए? उसके लिए शास्त्रों में कहा गया है **हैहसुद्धेण उवेइ मोक्खं** अर्थात् शुद्ध क्रिया के द्वारा मोक्षशांति पाई जा सकती है। शुद्ध क्रिया करने का अर्थ हैहअशुद्ध से निवृत्ति। उसका निवृत्त्यंश तो शांति का साधन है ही, शुद्धत्व भी शांति का साधन है। यथाशक्ति अगर कोई अशुद्ध क्रिया से पूर्ण निवृत्त नहीं हो सकता तो कम-से-कम अशुद्ध प्रवृत्ति का त्याग तो करे। उसके त्याग के बाद शुद्ध स्वतः शेष रह जाएगा। वह भी शांति का ही संदेशवाही है।

अणुव्रत का सही मार्ग

बहुत-से लोग कह देते हैं कि जैन तो केवल निवृत्तिहत्याग में विश्वास करते हैं; उनमें निषेध ही निषेध है, विधेय कुछ भी नहीं। अणुव्रतों के बारे में भी कुछ लोगों का कहना है कि उसके नियम निषेधपरक अधिक हैं, विधेयक कम। यह सच है कि जीवन का निषेध-पक्ष निर्बाध है, पर इसका यह अर्थ नहीं कि विधेय-पक्ष बन ही नहीं सकता। वह भी बन सकता है, बनता ही है। इसी लिए कहा गया है कि यदि तुम प्रवृत्ति भी करो तो शुद्ध करो। उसमें तुम्हें शांति प्राप्त होगी। अतः आर्षवाणी के आधार पर मैं आपसे कह सकता हूँ कि आप अपनी वृत्तियों का निरोध करें; और यदि यह संभव नहीं है तो ज्यादा-से-ज्यादा सत्प्रवृत्त रहें, यही अणुव्रत का सही मार्ग है।

अहिंसा व्यापक तत्त्व है

इसी भावना को हम 'हिंसा' और 'अहिंसा' शब्दों के द्वारा समझ सकते हैं। अहिंसा यानी हिंसा से निवृत्ति तथा शुद्ध प्रवृत्ति। हिंसा यानी अशुद्ध प्रवृत्ति। प्रश्न हो सकता है कि व्यापक हिंसा है या अहिंसा। कुछ लोग हिंसा को व्यापक मानते हैं। पर मेरी दृष्टि में अहिंसा व्यापक है, क्योंकि यदि आप हिंसा करेंगे तो संभवतः अपने शत्रुओं की करेंगे या कहीं किसी की आवश्यकतावश करेंगे। ज्यादा हुआ तो कुतूहल या प्रमादवश किसी की हिंसा कर लेंगे। पर दिन के चौबीस घंटों में से वह तो केवल सीमित काल के लिए हुई। कोई भी मनुष्य क्रिया रूप में प्रतिक्षण हिंसा नहीं कर सकता। पर यदि कोई चाहे तो प्रतिक्षण अहिंसक बन सकता है। तब व्यापक हिंसा हुई या अहिंसा? इस दृष्टि से यदि अहिंसा के नियम बता दिए जाएं तो हिंसा तो अपने-आप निरुद्ध हो जाएगी।

निषेध को प्रधानता क्यों

निषेध तत्त्व व्यापक होते हुए भी वह थोड़े समय में बताया जा सकता है। विधेय तत्त्व उसकी अपेक्षा कम व्यापक होते हुए भी थोड़े में नहीं बताया जा सकता। इसलिए अणुव्रतों में निषेध को अधिक स्थान दिया गया है। वैसे निषेध और विधेय के दोनों रास्ते मैंने आपके सामने रख दिए हैं। आप अपनी शक्ति के अनुसार अपना चुनाव कर सकते हैं।

रक्षक भक्षक बन रहे हैं

जब तक मनुष्य अणुव्रत-आदर्श को नहीं अपनाएगा, तब तक न तो उसका जीवन शुद्ध बनेगा और न उसकी दिशा। आज मनुष्य अतिशय क्रूर बन गया है। जो लोग रक्षक थे, वे ही आज भक्षक बन गए हैं। एक जंगल में एक बार कुछ पशुओं ने सोचा, हम नाताकत हैं, अतः कोई भी हमें मार डालता है। हमें कोई ऐसा उपाय करना चाहिए, जिससे कोई भी जानवर हमारी तरफ आंख उठाकर भी न देख सके। यह सोचकर उन्होंने अपनी सुरक्षा के लिए एक पितृहीन शेर का बच्चा पाल लिया। हिंस्र जानकर उससे डरने लगे, वे दूर-दूर रहने लगे। इस प्रकार वे सारे अभय हो गए। थोड़े दिन तक यह क्रम रहा। शेर का बच्चा भी अब धीरे-धीरे बड़ा होने लगा। एक दिन उसने एक शेर को दूसरे जानवरों को मारते देखा और उसकी भी सुप्त हिंसावृत्ति जाग्रत हो उठी। उसने भी

अपना पंजा उठाया और पास खड़े एक पशु पर दे मारा। वह उसी क्षण धराशायी हो गया। शेर के बच्चे को भी अपनी शक्ति का भान हुआ और साथ-ही-साथ मांस का स्वाद भी अच्छा लगा। अब वह प्रतिदिन अपने संरक्षण में रह रहे जानवरों को मार कर खाने लगा। जो रक्षक था, वही भक्षक बन गया। अब आप ही सोचिए कि उन पशुओं की क्या स्थिति हुई होगी। क्या वैसी ही स्थिति आज के संसार की नहीं हो रही है? वे लोग ही, जिन पर रक्षा की जिम्मेदारी है, दूसरों का विनाश करते नहीं सकुचाते। वे ही वैज्ञानिक साधन, जिनका निर्माण सुरक्षा के लिए हुआ था, आज मनुष्य के ध्वंस के साधन बन गए हैं।

सुधार कैसे हो

मनुष्य के हाथ में सब-कुछ है। वह चाहे तो अपने प्राप्त साधनों का दुरुपयोग कर सकता है और चाहे तो सदुपयोग कर सकता है। पर कहना नहीं होगा कि आज उसका अधिकतर दुरुपयोग ही हो रहा है। आवश्यकता है कि वह दुरुपयोग रोका जाए। पर यह भी तो एक बहुत बड़ी समस्या है कि जो सुधारनेवाले हैं, वे स्वयं बिगड़ गए हैं। अतः आज सुधार का काम किसी व्यक्तिविशेष पर नहीं रहा है। वह तो सबका है। यह सोचकर ही हमने अणुव्रत-आंदोलन की शुरुआत की थी। पर कहना नहीं होगा कि इस ओर लोगों का ध्यान कम जाता है।

ध्वंस सहज है, निर्माण कठिन

ध्वंस की ओर मनुष्य की सहज गति है। आज भी अनेक लोग हिंदी-आंदोलन के संदर्भ में जेलों में जाते हैं। वहां कोई लड्डू थोड़े ही मिलते हैं! फिर भी ध्वंस में लोगों का आकर्षण है। विद्यार्थी भी तोड़-फोड़ के कामों में आगे रहते हैं। उनको यदि चरित्र-निर्माण की बात कही जाएगी तो झट पीछे हट जाएंगे। ध्वंस सहज है, निर्माण कठिन है। घड़ना सहज है, बनाना मुश्किल है।

मनुष्य अब भी चेत

अनेक लोगों से जब यह पूछा जाता है कि आजकल क्या करते हैं, तो वे व्यापार करने की बात कहते हैं। पर आजकल व्यापार करना तो जान को जोखिम में डालना है। कर की कारा और ब्लैक की कालिमा से बचना तो आज असंभव-सा हो गया है। मुझे उनकी दुःख-भरी कहानी सुनते-सुनते हंसी आ जाती है। रोटी-कपड़े के लिए मनुष्य जब इतने

कष्ट सह सकता है, तब जीवन-विकास की ओर उसका ध्यान क्यों नहीं जाता? जीवन-विकास की राह में आनेवाले कष्टों से वह क्यों घबड़ा जाता है।

ब्लैक का पैसा भी आज लोगों के लिए **बुढ़िया के घर में शेर कैसे समाए** वाली कहावत चरितार्थ कर रहा है। सचमुच पाप का पैसा हजम नहीं हो सकता। हम यह बात लोगों को रोज समझाते थे, पर वे हमारी बात अमल में नहीं लाए। उसी का यह परिणाम है कि आज डंडे के बल पर वह बात माननी पड़ रही है। खैर, जो हुआ सो तो हुआ, अब भी समय है, मनुष्य चेतें। जब मनुष्य पैसे के लिए तिल-तिल कर मरने को तैयार हो जाता है, तब अणुव्रत के इस राजपथ पर चलने में उसे झंझट क्यों लगता है?

दूसरों को छलना स्वयं को छलना है

आप सच मानिए, अपनी छलना स्वयं के लिए घातक होती है। राजाजी के कारीगर की वह कहानी मुझे याद आ जाती है। राजा के मन में एक भव्य प्रासाद बनाने की इच्छा हुई। उसने अपने प्रमुख कारीगर को प्रासाद बनाने का आदेश दे दिया। उसके कहे अनुसार आवश्यक साधन और सामग्री जुटा दी। पर्याप्त पैसे दे दिए। हालांकि कारीगर राजा के यहां काम करते-करते बूढ़ा हो गया था, पर जाने क्यों इस बार उसके मन में पाप आ गया। उसने बेईमानी की। प्रासाद को बाहर से तो खूब सुंदर बना दिया, पर अंदर घटिया माल लगा दिया। आधे रुपयों और सामान का गबन कर गया। कारीगर ने राजा से प्रासाद में पथारने व उसका उद्घाटन करने के लिए कहा। राजा ने देखा कि महल बहुत सुंदर बना है। उसने सभा-मंडप में बोलते हुए कहा कि 'कारीगर ने महल बहुत ही सुंदर बनाया है। मैं अत्यंत खुश हूँ और यह महल इसे ही इनामस्वरूप देता हूँ।' अब तो वह कारीगर मन में छटपटाने लगा। मन-ही-मन बोला कि मैंने राजा के साथ छलना की थी, पर वह मेरे साथ ही हो गई। यह सुंदर प्रासाद कुछ ही वर्षों में ढह जाएगा। इसी प्रकार अनेक परिस्थितियों में मनुष्य अपने-आप छला जाता है। अतः अणुव्रत आपको यह बताता है कि आप कम-से-कम अपने साथ तो धोखा न करें।

अणुव्रत-साहित्य पढ़ें

बहुत-से लोग अणुव्रत के प्रशंसक हैं, पर मुझे यह जानकर खेद

होता है कि उनमें से ऐसे भी अनेक लोग हैं, जिनको यह पता नहीं कि अणुव्रत के नियम कितने हैं। ऐसा लगता है, मानो लोगों का साहित्य से संपर्क रहता ही नहीं। इन छोटी-छोटी बातों के लिए उन्हें बार-बार कहा जाए, क्या यह उचित होगा? एक बार बंबई में भूदान की एक कार्यकर्त्री बहन विमला ठक्कर से मेरे सामने किसी भाई ने भूदान के बारे में प्रश्न पूछ लिया। बहन ने तड़ककर कहा कि 'क्या आपने भूदान-साहित्य भी नहीं पढ़ा है?' उसने उस प्रश्न का जवाब नहीं दिया। अतः सबसे पहले अणुव्रतों के समर्थकों का यह कर्तव्य है कि वे उसका साहित्य पढ़ें। बहुत-सी बातें स्वतः समझ में आ जाएंगी। फिर स्वयं को भलीभांति तौलकर नियम ग्रहण करें। इससे उन्हें अपने जीवन की सार्थकता प्राप्त होगी।

सुजानगढ़

६६ : श्रामण्य का सार : उपशम

कल रात को प्रतिक्रमण किया। लगभग एक मुहूर्त लगा होगा। दूसरे मुहूर्त में 'खमतखामणा' की। क्षमा दी और ली। व्यवहार पूरा हुआ। यह सारा कार्य सीमित था। यह क्षमा का आदान-प्रदान उन्हीं से हुआ, जो मेरे सामने थे। किंतु इतने से भी मैंने स्वयं को भार-मुक्त पाया।

ससीम से असीम की ओर

अब मूक 'खमतखामणा' शुरू हुई। स्मृति का प्रस्थान हुआ। जो-जो साधु-साध्वियां सामने नहीं थे, उन्हें याद किया। जिन श्रावक-श्राविकाओं जिन को मैं जानता हूँ, उन्हें याद किया। जिनसे साक्षात् परिचित नहीं हूँ, उन्हें भी नहीं भूला। वर्षभर के मृदु-कटु व्यवहारों को याद किया। मैं ससीम से असीम की ओर चल पड़ा। जान-अनजान में हुई अपनी भूलों के लिए मैंने सब से क्षमा मांगी और उनकी भूलों को भुलाया। मेरा हृदय सीमा-भेद से मुक्त था।

समता के संसार की त्रिपदी

भगवान ने कहा **आयतुले पयासुह** सबको आत्म-तुल्य समझो। आगे **कहाह अत्तसमे मनिज्ज छप्पिकाएह** छहों जीव-निकायों को आत्म-तुल्य समझो। पहले वाक्य में जो बात अभेद-दृष्टि से कही गई है, वही बात दूसरे में भेद-दृष्टि से कही गई है। आत्म-तुला की बात दोनों में समान है। आगे चलकर कहा गया **हैह उवसम सारं खु सामणं** हैह जीवन का सार हैह श्रामण्य और श्रामण्य का सार हैह उपशम। लगता है, इस वाक्यत्रयी में भगवान ने त्रिलोक को समेट लिया है। वैदिक पुराणों के अनुसार विष्णु ने और जैन-पुराणों के अनुसार विष्णुकुमार ने तीन पैरों में सारा विश्व समेट लिया। समता का संसार इस त्रिपदी में समाया हुआ है।

एक प्रश्न : एक समाधान

विरोध दो में होता है। लड़ाई, झगड़ा, वैमनस्य आदि-आदि सारी

बातें दो में होती हैं। क्षमा का संबंध भी दो से है। एक व्यक्ति कलह शांत करना चाहे, क्षमा लेना-देना चाहे, पर दूसरा न चाहे, तब क्या किया जाए, यह एक प्रश्न है।

भगवान ने इसका समाधान दिया है। शिष्य ने पूछाह 'भंते! दो साधुओं में अधिकरणकलह हो गया। एक साधु उसे शांत करना चाहता है, पर दूसरा नहीं चाहता। एक उसे क्षमा देता है, उससे क्षमा लेता है। पर दूसरा उसे न आदर देता है, न बोलता है। ऐसी स्थिति में क्या किया जाए?' भगवान ने कहाह 'दूसरा न बोले, उसकी अपनी इच्छा है। आदर न दे, उसकी अपनी इच्छा है। क्षमा न दे, न ले, उसकी अपनी इच्छा है। किंतु जो क्षमा लेता-देता है, वह आराधक होता है। जो क्षमा न लेता है, न देता है, वह विराधक होता है। कारण कि यह श्रामण्य उपशमसार है।'

इस वाणी का सार इतना ही है कि विरोध दो में भले ही हो, क्षमा एक ओर से भी हो सकती है।

क्षमा है शांति का मार्ग

तत्त्व यह है कि हम अपनी ओर देखना सीखें, अपनी चिंता करना सीखें। व्यक्ति का जितना समय दूसरों की चिंता में बीतता है, उसका थोड़ा भाग भी अपनी चिंता में नहीं बीतता। इस वृत्ति को बदले बिना शांति संभव नहीं। सहवास में वैमनस्य संभव है। वैमनस्य आया कि अशांति आई। दोनों साथ-साथ चलते हैं। शांति का साधन सौमनस्य है। सौमनस्य का मार्ग हैहव्यक्ति दूसरों के अपराधों की गांठ बांधकर न बैठे। उन्हें बड़ी सतर्कता से याद करे। दिल से निकाल फेंके और फिर सदा के लिए भूल जाए। यह स्मृति और क्षमा का मार्ग ही शांति का मार्ग है।

अपराध दूसरों के द्वारा भी हो सकता है स्वयं से भी हो सकता है। ऐसा कौन है, जिससे कभी भूल न हो? भूल की विस्मृति के लिए उसकी स्मृति करना अच्छी बात है। उपशम का मंत्र सीखे बिना उसकी कोरी याद खतरनाक होती है। हमारे लिए उपशम जीवनघूँटी है। उसे भला हम कैसे भूल सकते हैं।

खमतखामणा किससे करें

जो हमारे मित्र हैं अथवा जिनसे हमारा कोई वास्ता नहीं, उन्हें क्षमा

करना व उनसे क्षमा लेना कोई बड़ी बात नहीं है। बड़ी बात तो यह है कि जिनसे हमारे संबंध कटु हो गए हों, जिन्हें हम शत्रु मान बैठे हों, उन्हें क्षमा देना और उनसे क्षमा लेना। जहां संबंध होता है, वहां कटुता भी हो सकती है। कटुता का अंत क्षमा में होल्लयही है खमतखामणा का गूढ़ रहस्य।

प्रसंग उदायन का

क्षमा देने-लेने में पहले-पीछे न देखें। यह ऐसा कार्य है, जो आंख मींचकर किया जा सकता है। बड़े-से-बड़ा अपराध भी सहसा भूल जाएं। उदायन को याद करें। उसने राजा चंडप्रद्योत को युद्ध में परास्त कर बंदी बना लिया और अपनी राजधानी की दिशा में प्रस्थान किया। बीच में संवत्सरी के महापर्व का दिन आ गया। उसने प्रतिक्रमण किया। बड़ों से, छोटों से, अधिकारियों और कर्मचारियों से, सबसे क्षमा मांगी। सबको क्षमा दी। इस क्रम में उसने चंडप्रद्योत से भी क्षमा मांगी। छूटते ही वह बोल उठाह्ल'यह कैसी क्षमा की मांग! बंदी राजा बंदी बनानेवाले राजा को क्षमा करे, यह नहीं हो सकता।' उदायन ने सोचाह्लठीक कह रहा है। वह तत्काल उठा और उसने चंडप्रद्योत के बंधन खोले। उससे गले मिला। क्षमा लेने-देने में सारा विरोध भूल गया। यह बन सकता है, किंतु हृदय विशाल होना चाहिए। सामनेवाला क्षमा न दे, तब भी अपना हृदय सरल हो तो खमतखामणा हो सकती है। फिर दोनों ओर से हृदय सरल हो जाए, उसका तो कहना ही क्या!

मैत्री की महिमा प्रकाश पाए

खमतखामणा का तत्त्व बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। पर वह अगम्य हो रहा है। मैत्री की महिमा बहुत कम लोग समझते हैं। प्रतिकार में जो रस आता है, वह मिलकर चलने में नहीं आताह्लयह कैसा मनोभाव है! छोटी-छोटी बात पर लोग लड़ पड़ते हैं। सहिष्णुता मानो उठ गई हो। मानव-जीवन विरसता में परिणत होता जा रहा है। अतः मैत्री की महिमा प्रकाश पाए, इसकी बहुत बड़ी अपेक्षा है।

मन हलका हो रहा है

अब मैं अपनी बात कहता हूं। चारों तीर्थ सामने हैंह्लसाधु, साध्वियां, श्रावक और श्राविकाएं। मेरा सब से काम पड़ता है। मैं बहुतों के लिए कभी प्रसन्नता और कभी क्षोभ का निमित्त भी बन जाता हूं।

किसी की इच्छा पूरी कर पाता हूँ और संभव है कि किसी की नहीं भी कर पाता। और यह संभव भी कैसे हो कि सबकी सारी इच्छाएं पूरी हो जाएं? बहुत-से लोग दर्शन के लिए आते हैं। मैं कार्य-व्यस्त होता हूँ, तब उन्हें पूछ भी नहीं पाता। किसी-किसी से महीनों तक बोलने का काम नहीं पड़ता। आजकल आगम-कार्य हो रहा है। व्यस्तता और अधिक है। मैं कभी-कभी वंदना की स्वीकृति भी नहीं दे पाता। मेरी स्वीकृति श्रद्धालुओं के लिए निधि हो सकती है। पर मैं उसे भी भूल जाता हूँ। इसके लिए मैं अपने को दोषी कहूँ तो कह सकता हूँ।

पिछले पर्व संघर्ष की चिनगारियां उछलीं। उस स्थिति में समभाव रखना बहुत कठिन था। स्थितिविशेष में ऊंची-नीची भावना आ सकती है, आई भी है। किंतु उसे बनाए नहीं रखना है। आज हृदय सरल होना चाहिए और है भी। संघर्ष शांत हो गया, स्थिति शांत है। शांति हृदय की सरलता से ही हो सकती है। कुछ साधु संघ से बिछुड़ गए। उनसे भी हमारा विरोध नहीं होना चाहिए। वे अपना काम करते हैं, हम अपना काम करें। विरोध रखना उचित नहीं। किसी को विरोधी मानकर उनके कार्य में बाधक बनना अच्छा नहीं। बाधक बनने की नीयत से बाधक बनना अपना दोष है, उससे अपना ही अहित होता है।

मैं आज सब को याद कर रहा हूँ। मैंने आचार्य के दायित्व के नाते किसे उलाहना दिया, किसे टोका, किसे कुछ कहा, वे सब बातें याद आ रही हैं। सुदूर की स्मृतियां आ रही हैं। दृष्टि चारों ओर बिखर रही है। ऊंची-नीची भावना मिट रही है। मन हलका हो रहा है। यह कितनी शुभ और आनंद की बेला है!

चातुर्मास के लिए बहुत प्रार्थनाएं थीं। वह यहां (सुजानगढ़ में) हुआ। बीदासरवालों को अप्रिय लगा। यह होता भी है। तीव्र अभिलाषा यदि पूरी नहीं होती तो एक चोट-सी लगती है। उन्हें भी मैं इस अवसर पर याद किए लेता हूँ।

वैर और अध्यात्म-दृष्टि

दूसरों की ओर देखना अच्छा नहीं। हित का मार्ग यह है कि अपनी ओर देखा जाए। वैर से अनिष्ट दूसरे का नहीं होता, अपना ही होता है। यह अध्यात्म-दृष्टि है। अवैर-भाव इसी से लाया जा सकता है। विरोध को समभाव से सुलझाना सीखें। अदालतों के दरवाजे न खटखटाएं।

समझौते की वृत्ति अपनाएं। क्षमा, समझौता, मैत्रीहयै जीवन के महान गुण हैं। मानवता इन गुणों से ही तो खिलती है। संवत्सरी-जैसे पर्व से विकास का मार्ग खुले, प्रकाश मिलेहयही संबल साथ ले हम अगले वर्ष में प्रवेश करें।

सुजानगढ़

६७ : अहिंसा-दिवस

अहिंसा दिवस : मनाने का उद्देश्य

आज 'अहिंसा दिवस' का कार्यक्रम है। पर इसका उद्देश्य इतना ही नहीं है कि सिर्फ हम एक दिन या कुछ घंटों के लिए यहां इकट्ठे हो जाएं और बातें कर लें। वस्तुतः इसका अर्थ यह है कि हम अहिंसा की भावना को व्यापक बनाएं। यहां इकट्ठे होना तो इसका एक रास्ता मात्र है। आज जैसे यहां अनेक लोग प्रेरणा पाने के लिए एकत्र हुए हैं, वैसे ही अनेक जगह सहस्रों नर-नारी इसी सादगी के साथ अहिंसा की प्रेरणा पाएंगे, इस माध्यम से एक दिन के लिए अहिंसा का अवलंबन करेंगे। मैं मानता हूं, यदि उन्होंने सही रूप में अहिंसा का रसास्वादन किया तो यह कार्यक्रम स्वयं आगे बढ़ जाएगा। वे जीवन के प्रत्येक क्षण में अहिंसक बनने का प्रयास करेंगे। यही आज के 'अहिंसा दिवस' का उद्देश्य है।

अणुव्रत-आंदोलन के अंतर्गत यह कार्यक्रम प्रतिवर्ष देश-भर में मनाया जाता है। अणुव्रत का लक्ष्य है हज्जन-जन में सदाचार की ज्योति जलाना। सदाचारपूर्ण अहिंसक जीवन कितना सुखदायी होता है, लोग इसका एक दिन के लिए प्रयोग करें और यदि यह सही है तो फिर जीवन में उससे सुख पाएं, यह इस दिवस को मनाने का उद्देश्य है।

स्वर्ग और नरक इसी धरती पर हैं

'अहिंसा' शब्द सबके लिए समान रूप से प्यारा है। अहिंसकों के लिए वह प्यारा हो, इसमें तो कोई बड़ी बात है ही नहीं, पर हिंसकों के लिए भी यह समान रूप से प्यारा है, क्योंकि कोई हिंसक भी यह नहीं चाहेगा कि उसके लिए 'हिंसक' शब्द का व्यवहार किया जाए। दिन में पचास बार झूठ बोलनेवाला व्यक्ति भी 'झूठा' कहलाते शरमाएगा। ठीक इसी प्रकार हिंसक-से-हिंसक व्यक्ति को भी प्यारा तो 'अहिंसक' शब्द ही लगेगा। यह दूसरी बात है कि वह इसे वास्तव में ही चाहता है या

केवल ढोंग रूप में ही। प्रायः देखने में आता है कि हर-एक शब्द से तत्त्व कम ग्रहण किया जाता है, उसका आभास ज्यादा काम में आता है। यदि वाणी जैसी ही अहिंसा-निष्ठता व्यवहार में आ जाए तो कोई कारण नहीं कि स्वर्ग स्वयं पृथ्वी पर न उतर आए। स्वर्ग या नरक चाहे कोई मानता है या नहीं, पर 'स्वर्गीय आनंद' और 'नारकीय जीवन' ये शब्दावलियां स्वयं उनके अस्तित्व की ओर संकेत करती हैं। यदि कोई मुझसे पूछे कि स्वर्ग और नरक कहां हैं तो मैं कहना चाहूंगा कि वे इसी पृथ्वी पर हैं। नारकीय जीवन तो आज लोग व्यतीत कर ही रहे हैं। मैं पूछना चाहता हूं कि ईर्ष्या, द्वेष, आत्म-प्रवंचना से बढ़कर और नारकीय जीवन क्या हो सकता है। मैं बहुधा कहा करता हूं कि लोग सिनेमा देखने क्यों जाते हैं। इसी लिए न कि वहां उन्हें नए-नए दृश्य देखने को मिलते हैं। पर आज तो घर-घर में सिनेमा चल रहा है!

धरती स्वर्ग बन सकती है

पुत्र-पिता कहीं चढ़े अदालत, पति-पत्नी की भी यह हालत। तब फिर सिनेमा और क्या होगा? ऐसे पुत्र बहुत कम होंगे, जो अपनी माता के प्रति सम्मान की भावना रखते हों। संभव तो यह है कि आज माता को गाली देनेवाले अनेक लोग मिल जाएंगे। जिस माता को शास्त्रों में **देवयं गुरु जनणी** कहकर बहुत बड़ा सम्मान दिया है, उसे गाली देकर तिरस्कृत करना, नया दृश्य नहीं तो और क्या है? छात्रों और अध्यापकों में आपस में विनय और वात्सल्य का व्यवहार नहीं है। मुनीम और सेठ में परस्पर विश्वास नहीं है। यत्र-तत्र-सर्वत्र ऐसे दृश्य प्रायः मिल ही जाते हैं। सब कोई एक दारुण वेदना सहते चले जा रहे हैं। हालांकि चाहता कोई नहीं, सबकी आत्मा अंदर से रोती है। पर बंधुओ! मैं आपसे कहना चाहता हूं, यदि आप स्वर्गीय सुख चाहते हैं तो अहिंसा की छोटी-छोटी बातें जीवन में उतारें। मैं आपको विश्वास दिलाता हूं, इसमें कोई विशेष कठिनाई नहीं है। सिर्फ भावना के परिवर्तन का सवाल है। यदि आपने अपनी भावना परिवर्तित कर ली, परिमार्जित कर ली तो सचमुच यह धरती स्वर्ग बन जाएगी।

अहिंसा की त्रिपदी

आगमों में कहा गया है **हण्डन हणे पाणिणो पाणे, भयवेराओ उवरएह** अहिंसक वह है, जो किसी प्राणधारी के प्राणों को नहीं लूटता है।

प्राणधारी से मतलब केवल मनुष्य नहीं है, बल्कि संसार में जितने भी जीव हैं, वे प्राणधारी हैं। जो उन्हें नहीं मारता, वह अहिंसक है। अहिंसक का दूसरा लक्षण यह है कि वह भय से निवृत्त होता है। जो अभय नहीं है, वह कैसा अहिंसक! जो दूसरों के डर से घर में छिपकर यह कहे कि मैं किसी को मारता नहीं तो उसे सच्चा अहिंसक नहीं कहा जा सकता। वह दूसरों को क्या मारे! वह तो स्वयं मरा हुआ है। अहिंसक का तीसरा लक्षण है कि वह वैर से उपरतहनिवृत्त होता है। विशेष समझने की बात यह है कि किसी को नहीं मारना ही अहिंसा नहीं है। इसकी पूरी व्याख्या हैह्नअव्यापादन, अभय और अवैर। इस त्रिपदी में अहिंसा का सारा सार समा गया है। जिस प्रकार भगवान ने 'उत्पन्न होता है, नष्ट होता है और ध्रुव रहता है'हइस त्रिपदी में गौतम को सारा तत्त्व-दर्शन दे दिया, उसी प्रकार इस त्रिपदी में अहिंसा का भी सारा विवेचन समाया हुआ है।

क्या पूर्ण अहिंसक बनना शक्य है

अव्यापादन का स्वरूप समझाते हुए शास्त्रों में कहा गया हैह्न**सव्वे पाणा सव्वे भूता सव्वे जीवा सव्वे सत्ता ण हंतव्वा ण अज्जावेयव्वा ण परिघेतव्वा ण उद्देयव्वा।** यानी किसी प्राणी, भूत, जीव और सत्त्व का हनन नहीं करना चाहिए, उनका प्राण-वियोजन नहीं करना चाहिए। यह अहिंसा का आदर्श-सूत्र है। पर इसे पूर्णतः तो वे ऋषि-महर्षि ही अपना सकते हैं, जो किसी कार्य के लिए हिंसक नहीं बनते। यहां तक कि अपने शरीर-निर्वाह के लिए भी वे किसी प्रकार की हिंसा नहीं करते। यद्यपि यह एक लंबा विवाद का विषय है कि वे भी पूर्ण अहिंसक बन सकते हैं या नहीं, पर हमें विवाद में नहीं जाना है। 'अहिंसा-दिवस' हमें विवाद मिटाने की सलाह देता है तो आज तो कम-से-कम हम इस विवाद में पड़ते ही नहीं। पर इतना तो तय है कि अहिंसा में हम सबका विश्वास है।

अहिंसा का व्यावहारिक प्रारूप

यदि कोई पूर्णतः अहिंसा को नहीं अपना सकता तो कम-से-कम निरपराध प्राणी की हिंसा तो न करे। अपना संरक्षण करते कोई जीव मर जाता है, यह दूसरी बात है, पर आक्रांता बनकर तो किसी को न मारे; चलते-फिरते निरपराध प्राणियों की घात तो न करे। आप कहेंगेह्न'यह बात तो ठीक है, पर हम खेती करते हैं, तब हल के नीचे आकर अनेक जीव मर जाते हैं, उन्होंने हमारा क्या अपराध किया था? रात के वक्त

चलते समय कोई जीव पैरों के नीचे आकर मर सकता है, उसने हमारा क्या अपराध किया था?’ आप यदि इस हिंसा से नहीं बच सकते तो नहीं बच सकते, पर कम-से-कम संकल्पपूर्वक तो किसी को न मारें।

अहिंसा का दूसरा रूप अभय है। भय हिंसा का ही दूसरा नाम है। अभय को छोड़कर अहिंसा को परिभाषित नहीं किया जा सकता।

चांडाल जाति से नहीं, आचरण से होता है

अहिंसा का तीसरा रूप अवैर यानी मैत्री है। कई लोग किसी प्राणी को मारते तो नहीं, पर वे किसी दूसरे की प्रगति देखकर जलते हैं या नहीं? व्यापारी लोग शायद जीवन में कभी हथियार नहीं उठाते, पर उनकी कलम किस तलवार से कम है? गरीबों को चूसने में क्या हिंसा नहीं होती? किसी को मार देना ही हिंसा नहीं है, बल्कि मन, वचन और काया से कोई भी असत्प्रवृत्ति करना भी हिंसा ही है। लोग जीव मारनेवाले व्यक्ति को कसाई कहते हैं, पर जैन-परिभाषा में क्रोध करनेवाले को भी कसाई कहा गया है। मात्र जाति से कोई कसाई या चांडाल नहीं हो जाता, वह तो अपने आचरणों से होता है। गौतम बुद्ध के बारे में एक प्रसंग आता है—एक बार एक सम्राट ने किसी चोर को चोरी के अपराध में मृत्युदंड दे दिया। चोर को मारने के लिए एक चांडाल को बुलाया गया। उसका नाम था उत्पल। वह आया। चोर को मारने से उसने इनकार कर दिया। उसे बहुत समझाया गया, पर वह माना नहीं। आखिर राजा ने आदेश दिया—‘राजाज्ञा के विरुद्ध आचरण करने के कारण इसे भी मौत के घाट उतार दिया जाए।’ फिर उसके छोटे भाई को बुलाया गया। उसने भी चोर को मारने से इनकार कर दिया। राजा ने उसे भी मृत्यु-दंड दे दिया। फिर उससे छोटे भाई को बुलाया गया। पर आश्चर्य कि उसने भी अपने बड़े भाइयों का अनुसरण किया। इस प्रकार पांच भाई बुलाए गए और पांचों ने ही ऐसा घृणित कार्य करने से इनकार कर दिया। आखिर सबसे छोटा छठा भाई बुलाया गया। उसने भी मारने से इनकार कर दिया। राजा ने उसे भी मारने का आदेश दे दिया। पर तभी उसकी बूढ़ी मां आ पहुंची और हाथ जोड़कर प्रार्थना करने लगी—‘महाराज! आप इसे मारने का आदेश न दें।’ राजा को इससे और भी आश्चर्य हुआ। उसने पूछा—‘तुम्हें अपने पांच पुत्रों को मृत्यु-दंड मिलने पर जरा भी दुःख नहीं हुआ और छोटे पुत्र के मरने का इतना

दुःख हुआ, इसका क्या कारण?’ वह बोलीहूँ ‘उन पांच पुत्रों पर तथागत का उपदेश पूर्ण रूप से काम कर गया है। अतः वे मर भी जाते तो मुझे दुःख नहीं होता, पर यह छोटा लड़का अभी बच्चा है, कुछ कच्चा भी है। तथागत का उपदेश अभी तक इस पर पूर्ण रूप से जम नहीं पाया है। अतः देखती हूँ, मरते वक्त यह अपनी भावना को दूषित बनाकर कहीं अधोगति में नहीं चला जाए। अतः इसके जीवन-दान की मैं आपसे प्रार्थना करती हूँ।’ राजा ने सुना तो उसका क्रोध एकदम शांत हो गया और वह बुढ़िया से बोलाहूँ ‘माता! तुमने मेरी आंखें खोल दी हैं। मुझे जल्दी बताओ, तथागत कहां हैं?’ उसने कहाहूँ ‘और तो मुझे पता नहीं, इतना अवश्य बता सकती हूँ कि वे मेरे घर भिक्षा के लिए आते हैं। उसी समय उन्होंने मेरे परिवार को उपदेश से आप्लावित किया है।’ राजा को अब प्रकाश हुआ और वह भी तथागत की शरण में आ गया तथा उसने अनुपम शांति का रसास्वादन किया।

आपने देखा, चांडाल या कसाई कोई जाति से नहीं होता, बल्कि अपने आचरण से होता है। महाभारत में भी कहा हैहूँ

सर्वजातिषु चाण्डालाः, सर्वजातिषु ब्राह्मणाः।

ब्राह्मणेष्वपि चाण्डालाः, चाण्डालेष्वपि ब्राह्मणाः ॥

कहने का तात्पर्य यह कि जो जैसा आचरण करेगा, उसकी जाति भी वैसी हो जाएगी। चांडाल का मतलब है क्रूरकर्मी। वह किसी जाति में हो सकता है।

प्रतिस्पर्धा आचार में हो

संसार जब तक अहिंसा के पथ पर नहीं चलेगा, तब तक विश्वशांति असंभव ही है। यह बात आज मैं क्या कहूँ, कोटि-कोटि कंटों में यही स्वर गूँज रहा है। वैर से वैर नहीं मिट सकता। शस्त्र भी शस्त्रों में मिटनेवाले नहीं हैं। जिस प्रकार प्रतिस्पर्धा से प्रतिस्पर्धा कम नहीं होती, उसी प्रकार शस्त्र भी शस्त्रों से कम होनेवाले नहीं हैं। इसी लिए शास्त्रों में कहा हैहूँ **अत्थि सत्थं परेण परं नत्थि असत्थं परेण परं** शस्त्र पर से पर हैहूँ एक से एक बढ़कर हैं, पर अशस्त्र में पर से पर नहीं है। कितना अच्छा हो, यह प्रतिस्पर्धा आज शस्त्रों से उठकर चरित्र पर आ जाए! एक बार काशी और कौशल देश के राजा एक तंग गली में आमने-सामने हो गए। दोनों सारथियों ने एक-दूसरे से हटने के लिए

कहा। पर कोई पीछे हटने के लिए तैयार नहीं हुआ। आखिर दोनों ने युक्ति निकाली कि जो बड़ा हो, वह आगे निकल जाए। लेकिन समस्या फिर भी समाहित नहीं हुई, क्योंकि अवस्था और राज्य-क्षेत्र की दृष्टि से दोनों बराबर निकले। दोनों की ही अवस्था तीस वर्ष की और दोनों ही तीन सौ योजन क्षेत्र के अधिपति। आखिर कौशल-नरेश के सारथी ने कहाह 'हमारा रथ आगे निकलेगा, क्योंकि हमारे राजा कुशल शासक हैं। वे अच्छे के साथ अच्छा व्यवहार करते हैं और बुरे के साथ बुरा।' 'नहीं, हमारा रथ आगे निकलेगा।'ह काशी-नरेश के सारथी ने दृढ़तापूर्वक कहाह 'हमारे नरेश अच्छे के साथ तो अच्छा व्यवहार करते ही हैं, पर बुरे के साथ भी अच्छा व्यवहार करते हैं।' और उसने बाजी जीत ली। उसका रथ पहले निकल गया। आचार-पक्ष में यह प्रतिस्पर्धा सचमुच आदरणीय है।

आज भी यदि बड़प्पन की यह परिभाषा बन जाए तो कितना अच्छा हो जाए! पर प्रश्न है कि यह बने कैसे। इसका एक ही मार्ग हैहबड़े लोग इसे स्वयं से शुरू करें। वे यदि बड़प्पन का मापदंड अर्थ और सत्ता से हटाकर चरित्र पर ले आए तो देश में स्वतः एक चारित्रिक वातावरण पैदा हो जाएगा। इस अवसर पर मैं मंत्रियों से भी यह कहना चाहूंगा कि वे अपने जीवन की दिशा मोड़ें और देश के लिए दिशा-दर्शक का स्थान ग्रहण करें। व्यापारियों से यदि मैं यह कहूंगा तो वे कहेंगे कि हमें छोड़ता कौन है। टैक्स के भार से हम तो आगे ही दबे जा रहे हैं और उससे भी अधिक हमें अधिकारी लोगों की जेबें भरनी पड़ती हैं। हम लाइसेंस के लिए घूमते हैं और तब तक घूमते ही रहते हैं, जब तक कि ऑफिसरों की जेबें गरम नहीं हो जातीं। हम स्वयं अनीति नहीं करना चाहते, पर सरकार स्वयं हम से अनीति कराती है। इस अवस्था में मंत्रियों के लिए यह आवश्यक है कि वे अपना जीवन इस प्रकार व्यवस्थित बनाएं कि दूसरे लोग स्वयं उनसे शिक्षा ग्रहण करें। हम एक-एक करके कितनों को समझाएंगे? आखिर तो ऊपर के लोग जैसा करेंगे, नीचे के लोगों पर वैसा असर पड़ेगा। अतः ऊपर के लोगों को अपना जीवन सुधारना अत्यंत आवश्यक है।

दिल्ली में हिंसा बढ़ रही है

दिल्ली से एक पत्र यहां आया है। उसमें एक भाई ने लिखा हैह

‘इधर देश में अहिंसा दिवस मनाया जा रहा है, उधर सरकार हिंसा को प्रोत्साहन दे रही है। जगह-जगह कत्लखाने खोले जा रहे हैं। स्वतंत्रता-प्राप्ति के पहले यहां जितनी हिंसा होती थी, उससे कहीं अधिक अब हो रही है। अतः उसका प्रतिकार हो, इसकी अत्यंत आवश्यकता है।’ आप जानते हैं कि हिंसा बंद कर देना मेरे हाथ की बात नहीं है। हां, मैं अपना विचार जरूर व्यक्त कर सकता हूं और वह यह कि धर्मप्रधान देशों में हिंसा को यह बढ़ावा मिलना, उचित नहीं कहा जा सकता। उधर पश्चिम में तो शाकाहार की तरफ लोगों का ध्यान आकर्षित हो रहा है और भारतीय लोग मांसाहार में अधिक विटामिन और प्रोटीन मानकर उस तरफ दौड़ रहे हैं, यह सचमुच चिंता का विषय है।

अतः आज के दिन लोग सबसे पहले यह सोचें कि उनकी निष्ठा हिंसा में है या अहिंसा में। यदि उनकी निष्ठा हिंसा में है, तब तो शेष कुछ कहने को नहीं रह जाता। यदि उनकी निष्ठा अहिंसा में है तो वे यह दृढ़ संकल्प करें कि हम आज से झूठ नहीं बोलेंगे, चोरी और आत्मप्रवंचना नहीं करेंगे। अहिंसा के उपासकों के लिए आज यह अवसर है कि वे अहिंसा की ताकत सक्रिय रूप से दुनिया के सामने रखें। विश्वशांति की दिशा में यह एक बहुत महत्वपूर्ण कदम हो सकेगा।

६८ : साधना और शक्ति

महाव्रत और अणुव्रत क्यों

साधना अपनी शक्ति के अनुसार ही की जा सकती है, क्योंकि उसका अंतिम छोर वहां तक जाता है, जहां तक साध्य की प्राप्ति नहीं हो जाती। इसी लिए साधक को संकेत है कि चलते चलो। उस स्थान से आगे, जहां साधना पूर्ण हो जाती है, चलने की कोई आवश्यकता नहीं होती। पर जब तक साध्य प्राप्त नहीं हो जाता, तब तक साधक को विराम कहां? हां, वहां तक पहुंचने में कठिनाइयां कम नहीं आतीं। इसी लिए वहां तक पहुंचने से पहले बहुत-से लोग कड़ी साधना से घबड़ा जाते हैं। अतः अनंत अनुकंपावान भगवान ने उनके लिए सुगम रास्ता भी बताया है। प्रश्न हो सकता है कि क्या रास्ते को सुगम करने का मतलब उसकी सुगमता का अनुमोदन नहीं है। इसका समाधान यह है कि रास्ता तो कठिन-से-कठिन बताया जा सकता है, पर उस पर चलनेवालों में भी तो सामर्थ्य होना चाहिए। इसी लिए पथ-प्रदर्शक पथ पर चलनेवालों का सामर्थ्य देखकर ही पथ-दर्शन करते हैं। जो लोग कठिन साधना कर सकें, उनके लिए तो कठिन रास्ता है ही, पर जो उस रास्ते पर चल नहीं सकते, उनके लिए भगवान ने सरल मार्ग का निरूपण भी किया है।

भगवान महावीर ने कहाह 'उपवास करो, अनशन करो और यहां तक कि अनशन में पानी भी मत पियो।' इस स्थिति में फलाहार आदि का तो स्वयं निषेध हो गया। उन्हें ऐसा कहने का अधिकार भी था, क्योंकि अपने जीवन में उन्होंने ऐसी अनेक लंबी तपस्याएं की थीं, जिनमें उन्होंने न तो कुछ खाया और न कुछ पिया। यहां तक कि छह महीने की लंबी तपस्या भी उन्होंने बिना पानी के की थी, जिसे कि जैन-परंपरा में 'चौविहार तपस्या' कहते हैं। पर स्वयं भगवान ने यह उपदेश भी दिया है कि यदि तुम पानी नहीं छोड़ सकते तो 'तिविहार तपस्या' ही करोहखाना

तो छोड़ो। पर इसका मतलब यह नहीं कि उन्होंने साधना में ढिलाई की थी। इसका तो इतना-सा अर्थ है कि वे चाहते थे कि कोई भी व्यक्ति साधना से वंचित न रह जाए, क्योंकि वे इस तथ्य से सुपरिचित थे कि हर-एक व्यक्ति के लिए साधुत्व का उपदेश उपयोगी नहीं हो सकता। बहुत-से व्यक्ति तो ऐसे भी हो सकते हैं, जिन्हें साधुत्व का उपदेश अप्राकृतिक भी लगे। उनके सामने ऐसी बात कहने का क्या अर्थ? इसी लिए भगवान ने महाव्रत-साधना का उपदेश ही नहीं दिया, अणुव्रत-साधना का उपदेश भी दिया। जो महाव्रतों को पालन कर सकें, उनके लिए महाव्रतों का उपदेश और जो उनका पालन न कर सकें, उनके लिए अणुव्रतों का उपदेश।

अणुव्रतों में छूट क्यों

आज भी कई लोग कह देते हैं कि महाराज अणुव्रतों का उपदेश क्यों देते हैं। अणुव्रतों में ब्रह्मचर्य का नियम है। महीने में कम-से-कम बीस दिन ब्रह्मचर्य का पालन करूंगा। इसका मतलब अब्रह्मचर्य की दस दिन की छूट तो महाराज ने भी दे दी। पर मैं समझ नहीं पाया कि मैंने इसमें क्या छूट दे दी। यदि कोई व्यक्ति पचीस दिन ब्रह्मचर्य का पालन करे और उसमें मैं बीस दिन की कटौत तो छूट का भी कोई अर्थ हो सकता है। पर जिस व्यक्ति के महीने में पांच दिन का भी त्याग नहीं है, उसे यदि मैं बीस दिन का त्याग कराता हूँ तो इसमें छूट कैसी! मैं तो उसे उलटा अधिक दिनों का त्याग दिलाता हूँ। बीस दिन में भी मेरा दृष्टिकोण यह नहीं है कि शेष दस दिनों में ब्रह्मचर्य नहीं पाला जाए, बल्कि मैं तो यह चाहता हूँ कि प्रत्येक व्यक्ति पूर्ण ब्रह्मचारी बने। पर अगर कोई पूर्ण ब्रह्मचारी नहीं बन सकता है तो मैं उसे यह कहता हूँ कि कम-से-कम बीस दिन तो ब्रह्मचर्य का पालन करो। अतः यह छूट नहीं है, बल्कि सामर्थ्य के अनुसार व्रत का स्वरूप है। इसी प्रकार भोजन के बारे में जानना चाहिए। कोई दो वक्त खाए और उसे तीन वक्त खाने का कहा जाए तो यह छूट मानी जा सकती है। पर दो वक्त खानेवाले को एक वक्त से अधिक नहीं खाने को कहा जाए तो इसमें छूट कहां है?

जरूरी है खाद्य-असंयम से बचना

भगवान महावीर ने तो यहां तक कहा है कि अगर तुम भोजन भी नहीं छोड़ सको तो 'ऊनोदरी' यानी कुछ भूख तो रखो। यदि तुम बहुत

प्रकार की चीजें खाते हो तो उनकी भी सीमा करो। यदि तुम अनेक बार खाते हो तो उसमें भी संयम करो। और इस बात का भी ध्यान रखोह

रसा पगामं न निसेवियव्वा,
पायं रसा दित्तिकरा नराणं।
दित्तं च कामा समभिद्वंति,
दुमं जहा साउफलं व पक्खी॥

ह प्रकामरसभोजन मत करो, क्योंकि यह मनुष्य के लिए दृष्टिकर होता है। दृष्ट होने पर काम-वासना चारों ओर से मनुष्य पर ठीक उसी प्रकार आक्रमण कर देती है, जिस प्रकार स्वादिष्ट फलवाले वृक्ष पर पक्षी।

यह बहुत साफ-साफ है कि जिस शरीर से हम काम लेते हैं, उसे उसका भाड़ा भी चुकाना पड़ता है। पर इसके समानांतर यह भी एक तथ्य है कि अत्यंत गरिष्ठ भोजन मन को असंतुलित बना देता है। चिंतन पर भी इसका असर आता है। इसी लिए कहा गया है **जैसा खाए अन्न, वैसा होवे मन।** पुष्ट शरीर में वासना को उभरने का अधिक अवसर मिलता है। भला शुष्क वृक्ष पर कौन पक्षी क्या खाने बैठेगा!

स्वास्थ्य-विज्ञान की दृष्टि से भी हम देखें तो बार-बार खाना अत्यंत हानिकारक है। सीधी-साधी भाषा में कहूं तो वह अनेक प्रकार के रोगों को आमंत्रण है। कुछ लोग तो आजकल बिछौने पर ही चाय (Bed tea) लेते हैं। लेनेवाले उठते ही बिछौने पर चाय कैसे लेते हैं, यह तो वे ही जानें, पर मुझे यह आदत बिलकुल अच्छी नहीं लगती।

मैं बहुत-से ऐसे लोगों को जानता हूं, जो युवावस्था में अपने स्वास्थ्य का बहुत अभिमान करते थे। इस कारण हठपूर्वक अधिक खा लेते थे। पर बुढ़ापे में वे अपना स्वास्थ्य संतुलित नहीं रख सके, ऐसा मेरा अनुभव है। स्वास्थ्य की बात भी हम एक दफा अलग रख दें, यों भी बार-बार खाने से भोजन करने में वह आनंद नहीं रह जाता, जो कम बार खाने से मिलता है।

अपने आनंद के लिए

मेरा तो यह अनुभव है कि सुबह नाश्ता नहीं करने से मेरे शरीर में स्फूर्ति रहती है और मुझे आनंद मिलता है। इसी प्रकार कम द्रव्य खाकर मैं जितना संतुष्ट रहता हूं, उतना अधिक द्रव्य खाकर नहीं रहता। यही

कारण है कि आग्रहभरी मनुहार होने पर भी मैं अधिक आहार लेना पसंद नहीं करता। मैं यह सब अपने आनंद के लिए करता हूँ। बिना आनंद के अधिक दिनों तक ऐसा होना संभव भी नहीं है। मेरे निकट रहनेवाले बहुत-से लोग मेरी इन बातों को प्रकट करना चाहते हैं। पर मैंने परसों ही मना किया था कि वे ऐसा न करें, क्योंकि मैं समझता हूँ, अंदर रही हुई साधना जितना फल देती है, उतना फल वह बाहर आकर नहीं दे सकती। उससे कुछ-कुछ प्रतिष्ठा की भावना आ जाती है और अधिक लोगों में प्रकट होकर साधना स्वयं भार भी बन जाती है। यद्यपि मैं यह भी नहीं मानता कि दूसरे लोग किसी की साधना में बाधक बन सकते हैं, अपनी साधना तो व्यक्ति के अपने हाथ की बात है, तथापि इतना अवश्य कहता हूँ कि उसे अप्रकट रखने में ही ज्यादा लाभ है। उसको प्रकट करना तभी लाभकारी हो सकता है, जब दूसरे उससे प्रेरणा प्राप्त करें।

तभी उपदेश असरकारी हो सकता है

मेरा स्वल्पाहार होने का एक कारण यह भी है कि मैं जब कम खाने का उपदेश दूँ और स्वयं सब-कुछ खाता रहूँ तो उपदेश में इतना निखार नहीं आ सकता और कहते वक्त भी अंदर से आत्मा कचोटती रहती है। मेरी तो यह प्रकृति हो गई कि जिस बात का मैं स्वयं आचरण नहीं करता, उसका उपदेश भी बलपूर्वक नहीं कर सकता। अतः जो बात मैं अच्छी मानूँ, उसका पहला प्रयोग मुझे अपने पर ही करना चाहिए। उसमें मैं यदि सफल होता हूँ तो मुझे दूसरों को कहने का भी अधिकार है।

गंभीर बन जाता हूँ

अतः अपने अनुभव के बल पर मैं आपसे यह कह सकता हूँ कि कम आहार लेना स्वास्थ्य के लिए तो लाभप्रद है ही, उससे आत्मनंद भी कम नहीं मिलता। इसी लिए भगवान ने सर्वसाधारण की सुलभता देखकर 'ऊनोदरी' का उपदेश किया। यदि कोई इतना भी नहीं कर सकता है तो मैं समझता हूँ कि त्याग-भावना अभी तक उसमें खिली नहीं है। लंबी-चौड़ी परिषद से धर्म स्थान भर जाए, यह कोई बड़ी बात नहीं है। पर इसका परिणाम भी सुंदर आना चाहिए, अन्यथा इतने लोगों का एकत्र होना भी मुझ पर भार हो जाता है। भार इसलिए कि एक इतना बड़ा जनसमूह बिना कष्टों की परवाह किए मेरे पास आता है और

मैं उसकी शुद्धि नहीं कर पाता। जब-कभी मैं इस चिंतन में उतर जाता हूँ, तब गंभीर बन जाता हूँ।

जीवन-सुधार की दिशा

आप भी दिन में चार दफे मेरे पास आते हैं, किंतु किसलिए? क्या सिर्फ सुंदर शब्दों से मेरी प्रशंसा करने के लिए? थोथी प्रशंसा मुझ पर भार है। कोई भी व्यक्ति अगर मेरी प्रशंसा करता है तो पहले वह यह सोचे कि वह ऐसा हृदय से करता है या नहीं। यदि प्रशंसा वास्तव में ही हृदय से होती है तो आप मुझे अच्छा मानते हैं; और अच्छा मैं इसलिए हूँ कि मैं जो-कुछ करता हूँ, वह अच्छा है। मैं जो काम करता हूँ, वह अगर मेरे लिए अच्छा है तो आपके लिए भी बुरा कैसे होगा? पर प्रायः देखा जाता है कि थोड़ा-सा कष्ट का काम सामने आते ही लोग सफलतापूर्वक पीछे हट जाते हैं। यदि आपकी मेरे प्रति वास्तव में ही श्रद्धा है तो मैं जैसे सहर्ष कष्ट सहता हूँ, वैसे ही सहर्ष कष्ट सहने की भावना आपमें क्यों नहीं? व्यापार में जो अनैतिकता की जाती है, वह क्या मेरी प्रशंसा मात्र से धुल जानेवाली है? दिन-भर की जानेवाली ईर्ष्या, आलोचना, एक-दूसरे को गिराने की भावना का पाप क्या मेरे पैरों पर सिर रखने मात्र से साफ हो जाएगा? ये प्रश्न मुझे बड़ा बेचैन किए देते हैं। मैं मानता हूँ, सारे आदमी आदर्श पर नहीं चल सकते। पर उस तरफ जाने की भावना ही मन में न हो तो आपने यहां आने का अर्थ ही कहां समझा? आप अणुव्रत बनने की बात ही लें संभव है, आज अणुव्रती बनने में अनेक कठिनाइयां हैं। पर अणुव्रत-आदर्श के प्रति श्रद्धा तो रखें। मैं आपसे फिर कह देता हूँ, यदि आपने इन प्रश्नों का समाधान नहीं पाया है तो और दूसरे समाधान भी विषम हो जाएंगे। अब केवल 'तहत वचन' कहने से काम चलनेवाला नहीं है। आवश्यकता इस बात की है कि जो बातें मैं आपको बताता हूँ, उन पर आप अमल करें। मुझे जिस बात में आनंद आता है, वह यदि सही है तो आपको भी उसमें आनंद आना चाहिए। यह अपेक्षित नहीं कि मैं ये बातें आपसे दस बार कहूँ। पर इतना जरूर कहूंगा कि बिना इस आदर्श तक आए, जीवन जीवन तो नहीं है। मैं आपसे यह नहीं कहता कि आप गुणवानों की प्रशंसा न करें, पर जिनकी प्रशंसा आप करते हैं, उनके आदर्श अपने जीवन में पहले उतारें। पूरे आदर्श न भी उतार सकें तो थोड़े तो उतारें। इससे भी जीवन हलका होगा।

६९ : विकास का दर्शन

यह एक सर्वमान्य बात है कि हर व्यक्ति अपना उत्थान चाहता है, हित चाहता है। कोई भी ऐसा व्यक्ति मिलना असंभव है, जो अपना उत्थान न चाहता हो, हित न चाहता हो। मैं सोचता हूँ, आप सभी मेरे इस कथन से सहमत होंगे। पर हम देखते हैं कि उत्थान या विकास बहुत कम व्यक्तियों का होता है, हित बहुत कम व्यक्तियों का सधता है। भले इसके लिए कोई व्यवहार में दूसरों को दोषी माने, पर निश्चय की भाषा या अंतिम सचाई तो यह है कि व्यक्ति अपने उत्थान-पतन, विकास-हास, भले-बुरे, हित-अहित आदि के लिए स्वयं जिम्मेदार है। दूसरा अधिक-से-अधिक निमित्त बन सकता है। इससे आगे किसी की कोई शक्ति नहीं कि वह किसी का विकास या हास कर सके, हित या अहित साध सके, भला या बुरा कर सके। औरों की तो बात ही क्या, स्वयं भगवान भी इस क्षेत्र में कुछ नहीं कर सकते। हास, अहित और बुरा तो खैर, वे किसी का कर ही नहीं सकते, पर विकास करना, हित साधना और अच्छा बनना भी उनके हाथ की बातें नहीं हैं। वे तो विकास और हित का रास्ता बता सकते हैं, व्यक्ति को अपने उत्थान-पतन तथा हित-अहित का विवेक दे सकते हैं। पर सही राह पर चलकर अपना विकास करना, हित साधना, अच्छा बनना आदि बातें तो व्यक्ति के स्वयं के पुरुषार्थ पर ही निर्भर करती हैं। इसलिए अपेक्षा इस बात की है कि व्यक्ति-व्यक्ति की यह पुरुषार्थ-चेतना जागे।

प्रश्न है कि यह पुरुषार्थ-चेतना कैसे जागे। यह तब जागती है, जब आत्म-जाग्रति होती है। अणुव्रत-आंदोलन को शुरू करने के पीछे मेरा यही उद्देश्य है। मैं चाहता हूँ, इस कार्यक्रम के द्वारा व्यक्ति-व्यक्ति अपनी आत्म-शक्ति संजोकर विकास की दिशा में चरणन्यास करे, हित-साधन के पथ पर प्रयाण करे। शब्दांतर से कहूँ तो वह अध्यात्म का पथ स्वीकार करे, सचाई और सच्चरित्र का मार्ग अपनाए। यह कितने खेद

की बात है कि जो भारतवर्ष कभी चरित्र, अध्यात्म और धर्म के क्षेत्र में अग्रणी था, सारे संसार का पथ-दर्शक था, प्रेरणास्रोत था, आज उसका इस क्षेत्र में स्तर गिर रहा है, वह क्रमशः दरिद्र बन रहा है। अणुव्रत-आंदोलन जन-जन में वह चेतना जगाना चाहता है, जिससे कि भारतवर्ष न केवल अपने आध्यात्मिक एवं चारित्रिक स्तर की गिरावट रोक सके, बल्कि अपने प्राचीन गौरव पर पुनः प्रतिष्ठित भी हो सके, सारे संसार में सचाई, ईमानदारी, सच्चरित्र और अध्यात्म का प्रसार भी कर सके।

सुजानगढ़

१० अक्टूबर १९५७

७० : अणुव्रत-आंदोलन की मूल भित्ति

अणुव्रत सिर्फ बातों व प्रचार की चीज नहीं है। यह एक सजीव प्रेरणा और सक्रिय कार्यक्रम है। आंदोलन की मूल भित्ति है **ह्रस्वसंयमः खलु जीवनमह्रस्वसंयम ही जीवन है।** यानी जीवन अधिकाधिक संयमित, सादा और हलका हो। विलासी जीवन में अणुव्रत कभी नहीं पनप सकता।

आज चारों तरफ विकास की चर्चा है। इस दृष्टि से अनेक प्रकार की योजनाएं बन रही हैं। इस संदर्भ में मेरा चिंतन बहुत स्पष्ट है **ह्रस्वसंयम** जैसे भूमि उर्वर हुए बिना पैदावार नहीं हो सकती, वैसे ही नैतिक धरातल सुदृढ़ हुए बिना कोई भी योजना सफल नहीं बन सकती। इसलिए अपेक्षा है, जन-जीवन का नैतिक धरातल सुदृढ़ बने, जन-जन नीतिनिष्ठ बने।

आप यह बात गहराई से समझें कि सुख का साधन धन नहीं, जीवन का हलकापल है। करोड़ों की पूंजी, अनेक नौकर और अपार वैभव होते हुए भी धनिकों को न खाने का आनंद है और न सोने का। अणुव्रत-आंदोलन जीवन को सादा बनाने की प्रेरणा देकर सुख और शांति का द्वार खोलना चाहता है, परमानंद का द्वार खोलना चाहता है। आंदोलन के प्रचार व प्रसार की प्रारंभिक भूमिका संपादित हो चुकी है। इस कार्य को प्रगति देने के लिए पैसा नहीं, अपितु व्यक्तियों का जीवन लगे, साधना लगे, इसकी अपेक्षा है। अणुव्रती का जीवन जीती-जागती ज्योति होनी चाहिए, जिसके सहारे एक नहीं, अनेक जीवन-द्वीप प्रज्वलित हो सकें।

सुजानगढ़

१२ अक्टूबर १९५७

७१ : एक क्रांतिकारी अभियान

अणुव्रत-आंदोलन आत्म-जाग्रति का एक क्रांतिकारी अभियान है। यह सबसे पहले व्यक्ति को स्वयं जाग्रत होने की प्रेरणा देता है। क्यों? इसलिए कि स्वयं जागकर ही व्यक्ति दूसरों को जगाने की प्रेरणा दे सकता है, जगा सकता है। जो स्वयं ही जाग्रत नहीं है, वह दूसरों को जगाने की प्रेरणा कैसे दे सकता है, उन्हें कैसे जगा सकता है? जागरण से मेरा तात्पर्य हैहसच्चार्ड, अहिंसा और सदाचार के पथ पर आगे बढ़ने के लिए सचेष्ट बनना। इसके लिए सबसे अधिक आवश्यकता आत्म-निष्ठा की है, आत्म-विश्वास की है। अपने-आपमें सुदृढ़ विश्वास रखनेवाले के लिए किसी पथ पर आगे बढ़ना कठिन नहीं होता।

कुछ लोग अणुव्रत को कठिन और दुरूह मानते हैं। मैं उनसे पुरजोर शब्दों में कहूंगा कि वे उसे एक बार अपना कर तो देखें। यदि उन्होंने ऐसा किया तो वे स्वयं इतने आकृष्ट और आत्म-विभोर हो उठेंगे कि उन्हें छोड़ने का जी नहीं करेगा, क्योंकि अणुव्रत व्यक्ति को अपनी आत्म-शक्ति का सही-सही अहसास कराता है, उसके जीवन में शांति का स्रोत खोलता है, संतुष्टि और हलकापना देता है। यह बात मैं केवल सिद्धांत रूप में नहीं, अपितु अणुव्रत को स्वीकार करनेवालों के निजी अनुभवों के आधार पर कह रहा हूँ।

सुजानगढ़

१४ अक्टूबर १९५७

७२ : आत्मविद्या का मनन

अणुव्रती आज बहुत बड़े संघर्ष के बीच से गुजर रहे हैं। अनैतिकता सर्वत्र छाई है। उससे उन्हें लड़ना है। चरित्रहीनता का बहुमुखी स्तूप उन्हें ढहा देना है। नीतिहीनता के विरुद्ध उन्हें अभियान करना है। वस्तुतः यही तो सच्ची विजय है, जिसे पाना कोई बच्चों का खेल नहीं है। भगवान महावीर ने कहा है—

जो सहस्सं सहस्साणं, संगामे दुज्जए जिणे।

एगं जिणेज्ज अप्पाणं, एस से परमो जओ॥

ह एक व्यक्ति युद्ध में दुर्जेय दस लाख योद्धाओं पर विजय प्राप्त करता है और एक अन्य व्यक्ति अपनी आत्मा को जीतता है। इन दोनों की जीत में अपनी आत्मा को जीतना परम जीत है।

अणुव्रत-आंदोलन अपने-आपको जीतने का, अपनी कलुषित वृत्तियों को नियंत्रित करने का सफल मार्ग देता है। हजारों-हजारों लोग यह उपक्रम अपनाकर अपने-आपको नियंत्रित करने की कला में निष्णात बने हैं। हमें भारतीय ऋषियों की तपःपूत वाणी स्मरण दिलाती है कि सबसे पहले हम अपनी आत्मा के बारे में सोचें, उसे किसी हालत में न भुलाएं। आत्मविद्या या अध्यात्म-चिंतन भारतीय जीवन का आदि, मध्य और अंत स्रोत रहा है। उस विकास को मैं विकास नहीं मानता, जिसमें आत्म-शुद्धि का तत्त्व न हो। इस छोटे-से स्थान में बैठा मैं आप सब लोगों के माध्यम से समूचे संसार को कह देना चाहता हूँ कि यदि मानव अपनी, अपने कुटुंब, जाति, राष्ट्र और सारे संसार की जिंदगी सुख और शांतिमय देखना चाहता है तो वह आत्म-विद्या का मनन करे, जहां बाहरी दिखावे से दूर अंतःशुद्धि और परिमार्जन में जीवन की सफलता मानी गई है।

अणुव्रत : प्रतिस्रोत का मार्ग

अणुव्रती भाई-बहिनो! जो मार्ग आपने चुना है, वह संसार के

अनुकूल नहीं है। उससे बाह्य सुविधाओं में कमी आती है। फलतः कठिनाइयां बढ़ती हैं, पर यह आत्मा के अनुकूल है; आत्मा में वास्तविक संतुष्टि और शांति पैदा करनेवाला है। संसार का मार्ग नदी के प्रवाह-जैसा है। तिनके की तरह उसमें बह जाना आसान है। इसमें कौन-सी विशेषता है! विशेषता तो इसमें है कि बाधाओं, विघ्नों, विपदाओं और क्लेशों की परवाह न करता हुआ व्यक्ति सत्य और अहिंसा की साधना में प्रतिस्त्रोतगामी बने और आगे बढ़ते-बढ़ते उस चालू लोक-प्रवाह का रुख ही मोड़ दे। आप लोगों पर बड़ी जिम्मेदारी है। क्या मैं आशा करूं कि आत्म-बल और साहस के साथ आप इस ओर बढ़े चलेंगे?

सुजानगढ़

१५ अक्टूबर १९५७

७३ : आत्मचिंतन

आत्म-चिंतन अध्यात्म-साधना का तो महत्त्वपूर्ण सूत्र है ही, जीवन को संवारने का भी बहुत सुंदर मार्ग है। इसके द्वारा व्यक्ति अपने व्रतों पर दृढ़ता से जमे रहने के लिए शक्ति प्राप्त करता है, अतीत में स्वयं द्वारा हुई भूलें सुधारता है और आगे के लिए जीवन का पथ-प्रशस्त करता है। यह एक प्रकार से व्रतों को अच्छे रूप में निभाने के लिए प्रहरी का काम करता है। इसलिए प्रत्येक भाई-बहिन के लिए यह अपेक्षित है कि वह अन्यान्य कार्यों की तरह आत्म-चिंतन का भी अपना समय रखे। ऐसा अणुव्रती तो विशेष रूप से अवश्य करे। जब मैं लोगों को यह कहते सुनता हूँ कि क्या करें, आत्म-चिंतन के लिए समय नहीं मिलता है, तब मुझे उन पर बड़ा तरस आता है। अपने शरीर के लिए, मकान के लिए, कुटुंब के लिए और दूसरे-दूसरे कामों के लिए वे समय निकाल लेते हैं, पर जिस प्रवृत्ति का अपनी आत्मा से संबंध है, उसके लिए वे समय नहीं निकाल पाते। यह कैसी दयनीय स्थिति है! मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि वास्तव में लोगों के पास समय का कोई अभाव नहीं है। अभाव है इस ओर लक्ष्य बनाने का। जब एक बार व्यक्ति का इस दिशा में लक्ष्य बन जाता है, तब समय तो अपने-आप निकलने लगता है। जो कार्य व्यक्ति अपने लिए सर्वाधिक आवश्यक समझने लगेगा, उसके लिए समय कैसे नहीं मिलेगा? अवश्य मिलेगा।

सुजानगढ़

१६ अक्टूबर १९५७

७४ : एक महत्त्वपूर्ण कदम

दीक्षा का बहुत बड़ा महत्त्व है। वह जीवन का निर्माण करती है। आज अनेक भाई-बहिनों ने अणुव्रतों की दीक्षा ली, यह सचमुच एक ऊंची बात है। वैसे जब मैं साधु-साध्वियों का जीवन देखता हूँ, जिन्होंने ये व्रत लिए हैं कि मैं कभी, किसी स्थिति में झूठ नहीं बोलूँगे, हिंसा नहीं करूँगे, जीवन भर पद-यात्रा करूँगे, कौड़ी-मात्र भी पास नहीं रखूँगे, तो मुझे यह (अणुव्रत-दीक्षा) छोटी लगती है। पर साधु-दीक्षा या महाव्रत-दीक्षा में तो अंगुली पर गिने जा सकें, उतने थोड़े-से व्यक्ति होते हैं। कोटि-कोटि लोग तो ऐसे हैं, जो इन व्रतों से परे हैं। इसलिए इस अपेक्षा से अणुव्रतियों का यह कदम महत्त्वपूर्ण और आदर्श है। आज जहाँ अनैतिकता का घोर तुमुलरव मचा है, वहाँ हजारों व्यक्तियों का यों खड़े होकर जीवन-निर्माण के इस अभियान में अपने-आपको समर्पित करने का संकल्प प्रकट करना वास्तव में एक महत्त्वपूर्ण कदम है। मैं अणुव्रतियों से कहना चाहूँगा कि व्रत-ग्रहण की जैसी हिम्मत आपने की है, वैसी ही हिम्मत आप व्रत-पालन में भी काम लें। मैं आप लोगों के साथ हूँ। अर्थात् आपके व्रतों के साथ हूँ। आप आत्म-साक्षी से इन्हें निभाएं। कठिनाइयों के सामने आने पर कमजोरी दिखाना, मार्ग से विचलित हो उठना, एक मनस्वी के लिए शोभनीय नहीं। आपद्धर्म के नाम से व्रतों में छूट का विधान कहीं-कहीं है। पर मेरी दृष्टि में यह उचित नहीं है। और मेरी दृष्टि में ही नहीं, वास्तव में ही उचित नहीं है। अतः आपद्धर्म का सहारा लेना ठीक नहीं। मैं चाहूँगा, यह पराजय आप पर न व्यापे, बल्कि आप इस पराजय को अपनी आत्मशक्ति से दूर ढकेल दें। मैं मानता हूँ, अणुव्रतों की यह दीक्षा स्वयं आप लोगों के लिए तो मंगलकारी होगी ही, राष्ट्रीय चरित्र को ऊंचा उठाने की दृष्टि से भी बहुत महत्त्वपूर्ण सिद्ध होगी।

सुजनागढ़

१७ अक्टूबर १९५७

७५ : आत्म-जाग्रति की लौ जले*

दीपावली पर्व भारतीय त्यौहारों में अपना प्रमुख स्थान रखता है। इसके पीछे अनेक प्रकार के विचार हैं। जैन-परंपरा की दृष्टि से इसका विशेष महत्त्व इसलिए है कि इस दिन भगवान महावीर ने अपने जीवन की साधना संपूर्णतः संपन्न कर निर्वाण प्राप्त किया था। यह उनके जीवन की चरम सफलता का दिन था। सांसारिक आवागमन और सुख-दुःखों से सदा-सदा के लिए छूटकर अपने सच्चिदानंदात्मक स्वरूप में स्थित होने की पावन वेला थी। निर्वाण का अर्थ हैह्यबुझ जाना। आत्मा के साथ कर्मों के संबंध की जो आग प्रज्वलित थी, जिससे आत्म-गुण झुलसे जा रहे थे, वह सर्वथा बुझ गई। कर्मण-संयोग की उष्माहगरमी सर्वथा निर्वापितह शीतलहशांत हो गई। भगवान महावीर का निर्वाण-दिवस होने से इसका एक ऐतिहासिक महत्त्व है। जैन-इतिहास में कहा गया है कि इस दिन भगवान महावीर के निर्वाण पर देवताओं ने ज्योतिर्मय रत्नों से प्रकाश किया। अमावस्या की घोर तमिस्रामयी रजनी रत्नों की ज्योति से जगमगा उठी। उसी की स्मृति में भारतीय लोग दीपावली मनाने लगे हैं।

महावीर का जीवन उत्कट साधना और उज्ज्वल त्याग का जीवन था। वर्षों तक उन्होंने भूख-प्यास और नींद की चिंता न करते हुए अपने को आत्मानुशीलन और अंतरावलोकन में जोड़े रखा। बाहरी परीषहों और तूफानों से वे विचलित नहीं हुए। विरोधियों ने विविध प्रकार की बाधाएं और क्लेश उन्हें पहुंचाए। गाली-गलौज किया। मारपीट की। उनके मार्ग में तरह-तरह के अवरोध खड़े किए। पर आत्म-विजय का महान ध्येय लेकर चलनेवाले मनस्वी क्या कभी इन विपदाओं से घबराते हैं? ये ही तो वे विशेषताएं थीं, जिनके कारण वे महावीर कहलाए। हाथ में पत्थर लेकर दूसरे का सिर फोड़ देनेवाला वीर नहीं होता है। वीर वह होता है, जो दूसरे के द्वारा अपना सिर फोड़े जाने पर भी सहिष्णुता और समभाव

*भगवान महावीर निर्वाण-दिवस पर प्रदत्त प्रवचन।

से उसे झेलता है। वीरता दूसरे को कष्ट पहुंचाने में नहीं, बल्कि स्वयं हंसते-हंसते कष्टों के हलाहल का पी जाने में है। दूसरे को सतानेवाला तो बहुत बड़ा कायर और कमजोर है।

मैं भारतीय जनता से कहना चाहूंगा कि उसकी सही मनौती बाहरी चमक-दमक और जगमगाहट से नहीं है। सही मनौती इस बात में है कि वह भगवान महावीर के आदर्श आत्मासात करती हुई यथाशक्ति अपना जीवन उनके सांचे में ढाले। हिंसा, असत्य, असदाचार और परिग्रह के भयावह अंधकार ने मानव को पथभ्रष्ट बना दिया है। उसे मिटाकर आज व्यक्ति-व्यक्ति को आत्म-जाग्रति की लौ जलानी है। यही वह संदेश है, जो दीपावली का पर्व सबको देता है।

७६ : सच्ची जिंदगी

शास्त्रों में मनुष्य-जीवन की बहुत महिमा गाई गई है। चौरासी लाख जीवयोनियों में इसे सर्वश्रेष्ठ के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है, दुर्लभ बताया गया है। किसी सौभाग्यशाली को ही यह प्राप्त होता है। लेकिन प्राप्त होने पर भी इसका लाभ उठानेवाले बहुत थोड़े होते हैं। लाभ उठाने की बात तो फिर भी आगे की है, बहुत-से व्यक्ति तो इसका यथार्थ मूल्यांकन भी नहीं कर पाते। इसलिए वे गलत राह पर चलते हैं, दुर्व्यसनों में इसे पूरा कर देते हैं। मैं देखता हूँ, मनुष्य को खाने के लिए रोटी मिलती है, फिर भी वह मांस खाने की ओर प्रवृत्त होता है। यह कितना जघन्य और हेय कार्य है! पीने को पानी, दूध आदि अनेक पेय उसे उपलब्ध हैं, फिर भी वह मदिरा-जैसी गंदी चीज पीता है! क्या यह उसकी बुद्धि की विकृति नहीं है? साहूकारी और ईमानदारी से वह धन कमा सकता है, लेकिन फिर भी वह धोखा, छल, मिलावट आदि करता है; स्वार्थपरायणता में अंधा बन पशु और राक्षस से भी नीचे स्तर का काम करता है। इन विकारों से ग्रसित जीवन भी क्या कोई जीवन है? मनुष्य सोचता नहीं कि इस छोटी-सी जिंदगी के लिए कितने कुकर्म और कुकृत्य वह करता है। यह स्थिति इसी लिए बनती है कि वह मनुष्य-जीवन का यथार्थ मूल्यांकन नहीं करता, अन्यथा ऐसा हो नहीं सकता। अणुव्रत-आंदोलन और कुछ नहीं चाहता, वह इन कुवृत्तियों की भयानक अग्नि में झुलसते मानव-जीवन को बचाना चाहता है। वह चाहता है हलमद्यपान, मांस-भक्षण, जुआ, मिलावट, धोखा, कालाबाजारी, अनर्थ हिंसा, असत्य व्यवहार-जैसे जीवन को खोखला बनानेवाले दुर्गुण रूपी घुनों से मानवीय चरित्र को बचाया जाए।

त्याग और संयम की जिंदगी ही सच्ची जिंदगी है। इससे नैतिक जीवन पुष्टि पाता है, सत्कार्यों में प्रवृत्ति होती है और असत्कर्मों से निवृत्ति। अणुव्रत-आंदोलन आज के भोग-प्रधान जीवन में त्याग को

प्रतिष्ठित करना चाहता है। हां, यह माना कि प्रत्येक व्यक्ति अपना जीवन पूर्णतया त्यागमय नहीं बना सकता, तथापि जितना बन सके, उतना तो बनाए। यह भी उसके सुखमय जीवन के लिए अत्यंत महत्त्वपूर्ण है, उज्ज्वल भविष्य के लिए नितांत अपेक्षित है।

अणुव्रत नैतिकता, प्रामाणिकता, सत्यनिष्ठा और आत्म-नियंत्रण से न केवल वैयक्तिक जीवन भावित करना चाहता है, बल्कि पारिवारिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय जीवन में भी इन्हें सर्वोच्च मूल्यों के रूप में प्रतिष्ठित करना चाहता है। इस प्रतिष्ठा के बिना पारिवारिक, सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन की स्वस्थता प्राप्त नहीं हो सकती।

वैयक्तिक, सामाजिक, कौटुंबिक तथा राष्ट्रीय जीवन में नैतिकता और ईमानदारी व्यापे, इस ओर सबको जागरूक और प्रयत्नशील रहना है।

लाडनूँ

२४ अक्टूबर १९५७

७७ : आत्मनुशीलन का दिन

आज का दिन मेरे लिए अनुशीलन, निरीक्षण तथा आत्मवलोकन का दिन है। मैं जन्म-दिवस का कोई विशेष महत्त्व नहीं मानता। जन्म-दिवस कोई कसौटी का दिवस नहीं है, क्योंकि समूचा भविष्य आगे जो रहता है। पर लोग ऐसा नहीं समझते, क्योंकि वे प्रवाहपाती हैं। हालांकि मैं एक परिव्राजक हूँ, अतः मेरे लिए अपना कहने का कोई विशेष स्थान नहीं है। मेरा तो सारी वसुंधरा और मानव-मात्र से संबंध है। बावजूद इसके, अपने जन्मस्थान की लिहाज से सोचू तो लाडलू के लिए मेरे मन में स्थान और आकर्षण नहीं है, ऐसा कैसे हो सकता है? जहां के कण-कण और गली-गली से मैं परिचित हूँ, जहां मैंने बाल-क्रीड़ाएं कीं, बचपन बिताया, उस जन्मभूमि लाडलू को कैसे भुलाया जा सकता है?

बचपन की स्मृतियां

बचपन से ही मुझे धार्मिक संसर्ग और उपासना में अभिरुचि थी। मैं प्रतिदिन साधु-साध्वियों के संपर्क में आता। उनसे मेरे जीवन को प्रेरणा मिलती। मैं तत्त्व-ज्ञान सीखता। मैं हर समय अच्छे काम में लगा रहूँ, ऐसा मेरा बालपन से ही दृष्टिकोण था। मैं खेलते समय भी धार्मिक पद व पाठ गुनगुनाता रहता। अनुशासन का मेरे जीवन में शुरू से गहरा स्थान था। स्वयं अनुशासित रहना तथा अपने से छोटों को अनुशासन में रखना, मुझे सहजतया भाता था। मेरी संसारपक्षीया मां वदनांजी से अपने जीवन में सद्गुण ढालने की बलवती प्रेरणाएं मिलती रहीं। मेरा यह सौभाग्य था कि अपने संस्कारवश प्रातःस्मरणीय अष्टम आचार्यश्री कालूगणी के कर-कमलों से मुझे दीक्षित होने का शुभ अवसर मिला। मेरे जीवन के निर्माण में उन्होंने जो अनवरत श्रम किया, उससे मुझे उत्तरोत्तर आत्म-निर्माण, ज्ञानार्जन, अंतर्मार्जन का स्फूर्तिमय दर्शन मिलता रहा। एक दिन आया, अपना उत्तरदायित्व उन्होंने मेरे कंधों पर डाल दिया। वह भार मैं संभाल

सका, यह एकमात्र उन्हीं के अनुग्रह और प्रभाव का फल है।

कार्य ही सच्चा अभिनंदन है

मैं इस अवसर पर आप लोगों से कहना चाहूंगा कि आप अपना जीवन अधिक से अधिक अध्यात्म-साधना और धर्मसाधना में लगाने का प्रयत्न करें। जीवन में अनुशासन का अधिकाधिक स्थान रहे, समय के सदुपयोग की वृत्ति रहे, इस ओर मैं आप सबका ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ। ऐसा कर आप अपने जीवन को एक नई गति, निर्माण को एक नया मोड़ तथा उन्नति को सही दिशा देंगे। धर्म जाति, वर्ण, वर्ग आदि के भेदों से परे है, यह आदर्श सामने रखते हुए आप सबको स्वयं धर्म के मार्ग पर जुटना है, औरों को इस मार्ग पर आने की प्रेरणा देनी है। विशेष रूप से मैं यह कहना चाहूंगा कि अणुव्रत-आंदोलन के रूप में जो चारित्रिक जाग्रति और नैतिक पुनरुत्थान का कार्य चल रहा है, उसमें सबको अधिक-से-अधिक रस लेना है। यह हर्ष की बात है कि संसार के लोग इसका मूल्य आंक रहे हैं। निकट संपर्क में रहनेवाले आप लोगों को तो इससे और अधिक लाभान्वित होना चाहिए। मैं शब्दों को नहीं, अपितु ऐसे कार्य को ही अपना सच्चा अभिनंदन मानता हूँ।

लाडनूँ

२४ अक्टूबर १९५७

७८ : ज्ञान प्रकाशप्रद है

जनसंख्या जिस गति से बढ़ रही है, उस गति से चिंतन नहीं बढ़ रहा है। चिंतन बढ़ाने के लिए लोग अपने लड़कों को स्कूलों और कॉलेजों में भी भेजते हैं। पर वहां विद्या कहां है? स्कूलों और कॉलेजों से जिस प्रकार शिक्षितों की बाढ़ आ रही है, उसी प्रकार बेकारी की भी बाढ़ जोरों से आ रही है। वे ही लड़के, जिनकी पीढ़ियां श्रम करती आई हैं, पढ़ने के बाद श्रम करते सकुचाते हैं, उन्हें केवल दफ्तरों की टोह रहती है। इतना ही नहीं, जीवन के प्रति उनका दृष्टिकोण ही बदल जाता है। मैं यह नहीं कह सकता कि जीवन में विद्या की आवश्यकता ही नहीं है, पर आजकल जो शिक्षा मिलती है, उससे शिक्षा-प्राप्ति का वास्तविक उद्देश्य पूर्ण होता है या नहीं, यह एक चिंतन का विषय है। शास्त्रों में कहा है **हैह्यनाणं पयासयरंहज्ञान प्रकाशप्रद है**। पर वह उसी अवस्था में, जब वह आत्म-विद्या को पुष्ट कर सके। मैं इस बारे में खूब गहराई से सोच रहा हूं कि बिना आत्म-विद्या से दूसरी-दूसरी विद्याएं सफल नहीं हो सकतीं। और आज की शिक्षा-प्रणाली ने तो यह और भी स्पष्ट कर दिया है। आज जगह-जगह से चिंतनशील व्यक्तियों का इस प्रकार का विचार आ रहा है कि चालू शिक्षा के साथ जब तक अध्यात्म-विद्या नत्थी नहीं की जाएगी, तब तक वह सफल नहीं हो सकेगी।

७९ : परिग्रह है पाप का मूल

समस्या : समाधान

इस पृथ्वी पर सब-कुछ है, पर मिलता उसे ही है, जिसे मिलनेवाला है। योग्य आदमी पैदा होता है तो स्वयं ही उसके अनुकूल सही स्थितियां भी पैदा हो जाती हैं। कहा जाता है कि चक्रवर्ती जब पैदा होता है तो उसके नौ-निधान भी उसे इसी पृथ्वी पर मिल जाते हैं। जब वह मर जाता है तो वे निधान भी इसी पृथ्वी में विलीन हो जाते हैं। एक-एक निधान ही ऐसा होता है कि उससे बहुत-सी समस्याएं सुलझ जाती हैं। आज भारत सरकार के सामने अनेक हड़तालें हो रही हैं। कभी रेल-कर्मचारियों की हड़ताल होती है तो कभी डाक-तार विभाग के कर्मचारियों की। उन्हें समझाया जाता है कि इतने में मिल-मजदूर जाग जाते हैं और हड़ताल कर देते हैं। और सबसे बड़ी हड़ताल तो होती है हरिजनों की। और-और लोगों की हड़ताल होती है तो उसमें यही होता है कि लोगों का काम रुक जाता है या चिट्ठी-पत्रियां कुछ देरी से पहुंचती हैं, पर हरिजनों की हड़ताल तो दो दिन में ही चौकन्ना कर देती है, क्योंकि लोग परावलंबी ठहरे। इसलिए दो दिनों में सारे शहर में गंदगी-ही-गंदगी हो जाती है। पर किया क्या जाए? सबकी अपनी-अपनी मांगें रहती हैं। पर सरकार उनकी सारी मांगें स्वीकार कैसे कर सकती है? उसके पास कोई निधान तो भरा पड़ा नहीं है, जो हर-किसी को अपार धनराशि दे दी जाए। पर आज सभी सरकार पर सवार हो रहे हैं। आखिर जनतंत्र में इस प्रकार काम कैसे चलेगा? सरकार भी यदि जनता की सुविधा का ध्यान न रखे और उस पर हावी होना चाहे तो यह भी उचित बात नहीं है। काम आखिर दोनों के समन्वय से चलनेवाला है। इसी लिए हाल ही में हुई हड़तालों के संदर्भ में नेहरूजी ने कहा थाह्वं'आज देश बड़ी नाजुक स्थिति में गुजर रहा है।

चारों ओर समस्याएं-ही-समस्याएं दीख रही हैं। पर समस्याओं का हल धमकियों से नहीं होगा। काम तो एक-दूसरे की दिक्कतों समझने से होगा।' अतः इतनी समस्याओं से जूझते राष्ट्र के समक्ष देश के लोग यदि और नई-नई समस्याएं खड़ी कर देते हैं तो यह अच्छी बात नहीं है। चाहिए तो यह कि हर-एक समस्या का हल खोजा जाए। पर इसके विपरीत स्थिति को और विषम बना देना तो सर्वथा अवांछनीय है।

परिग्रह : पाप का मूल

इस संबंध में भगवान महावीर का उपदेश तो यही है कि मनुष्य को परिग्रह का ज्यादा संग्रह नहीं करना चाहिए। यह तो पाप का मूल है। यह माना कि जीवन चलाने के लिए गृहस्थ को कुछ परिग्रह भी आवश्यक होता है, पर ज्यादा संग्रह करने से तो वही उलटा भार बन जाता है। साधारणतया जीवन चलाने के लिए पानी की आवश्यकता होती है और इसलिए मनुष्य पानी पीता भी है। पर यदि सारा ही खाया-पिया पानी बनना शुरू हो जाए, फिर तो जलोदर का रोग ही होगा। उससे तो हाड़-मांस भी पानी बन जाएंगे। फिर तो खाना-पीना ही बंद हो जाएगा। इसी प्रकार यह मानने में कोई कठिनाई नहीं कि बिना धन के काम नहीं चलता, पर अधिक संग्रह तो स्वयं अपने नुकसान के लिए है। जिस प्रकार बांस में फूल आना उसके स्वयं के लिए ही नाश का कारण होता है, उसी प्रकार अधिक धन संग्रह करना स्वयं व्यक्ति के लिए नाशकारी है। अतः उन लोगों को गंभीरतापूर्वक सोचना चाहिए, जो रात-दिन धन कमाने के पीछे पड़े रहते हैं। दूसरी ओर जो लोग अभावग्रस्त होकर दूसरों का धन लूटना चाहते हैं, उन्हें भगवान ने समता का उपदेश दिया है। उन्होंने कहाहल'अगर तुम भी धन के पीछे पड़े तो तुम्हारे सामने भी वैसी ही मुसीबत उपस्थित हो जाएगी, जैसी स्थिति आज तुम धनवानों और पूजीपतियों के समक्ष पा रहे हो। अतः तुम्हें भी संतोष का मार्ग अपनाना चाहिए।' आखिर शांति दोनों को प्रिय है। इसका एकमात्र उपाय समता हो सकता है। भगवान ने ऐसा कहीं नहीं कहा कि पूजीपतियों का धन छीनकर गरीबों में बांट दो। उन्होंने तो सभी से यही कहा कि कोई संग्रह ही न करे। फिर किसी का धन लूटने की स्थिति ही क्यों कर आएगी ?

परिग्रह : अपरिग्रह

व्यवहार की भाषा में धन को परिग्रह कहा जाता है। पर निश्चय की भाषा में लालसा परिग्रह है। पूंजीपति का मतलब केवल पैसे रखनेवाला नहीं है। पूंजीपति का मतलब है वह जिसे पूंजी के प्रति आकर्षण हो। करोड़पति भी यदि लालची नहीं है तो वह पूंजीपति नहीं है, परिग्रही नहीं है। दूसरी ओर जिसके पास पैसे नहीं हैं, पर उसकी लालसाएं असीमित हैं तो वह वस्तुतः पूंजीपति है, परिग्रही है। जिसका पूंजी के प्रति आकर्षण नहीं है, वह रुपए पाकर भी विलासी नहीं होगा। वह समझेगा कि किसी परिस्थिति में मेरे पास इतना धन इकट्ठा अवश्य हो गया है, पर इस कारण मेरे विलास में फंसने का क्या औचित्य है। धन समाज का है। मुझे अपने निर्वाह के लिए जितना आवश्यक है, उतना मैं इसमें से लेता हूँ। बाकी जब भी समाज को आवश्यकता होगी, वह उसके काम आ सकता है। यह सात्त्विक भावना है। पूंजी के प्रति अनाकर्षण ही वास्तव में अपरिग्रह है। इस आकर्षण की भूमिका में पहुंच जाने के पश्चात व्यक्ति के पास यदि रुपए आ जाते हैं तो उसे कोई बहुत बड़ी खुशी नहीं होती और यदि चले जाते हैं तो उसे दुःख भी नहीं होता।

जरूरी है ममत्व-विसर्जन

परंतु धन पास में आ जाने के बाद यह भावना रहनी बड़ी मुश्किल है। मनुष्य चोरी छोड़ सकता है, अनैतिक तरीकों से पैसे का अर्जन करना छोड़ सकता है, पर प्राप्त पैसे का मोह छूटना बड़ा मुश्किल है। कुछ लोग पांच लाख से अधिक रुपए रखने का त्याग करते हैं। पहले तो पांच लाख की यह छलांग ही कितनी लंबी है! पर इससे भी बढ़कर दूसरी बात है कि बाकी बचे धन को बड़ी होशियारी से अपने पुत्र-पौत्रों में बांट देना। देखने की बात यह है कि आखिर वह धन गया कहां। रहा तो घर-का-घर ही में। यद्यपि वह सीमा-निर्धारण करता है, पर इससे समस्या का हल नहीं होता। त्याग का आदर्श तो यही है कि मनुष्य अपनी आवश्यकताओं से अधिक मोह न करे। आवश्यकताएं जितनी कम होंगी, मनुष्य उतना ही सुखी रहेगा। व्यक्ति अपने पास परिमाण से अधिक जो धन है, उसका संरक्षण करना छोड़ दे, यह अपरिग्रह का सिद्धांत है। शेष धन का परिवाले क्या करते हैं, यह चिंता उसे रखने की

आवश्यकता नहीं है। अपनी तरफ से अर्थ की चिंता से मुक्त होना, उसका ममत्व-विसर्जन है।

बहुत-से व्यक्ति अर्थ का विसर्जन तो कर देते हैं, पर घर में पाई-पाई के खर्च की चिंता करते हैं। शाक कितने पैसों का आया, दूध इतना महंगा क्यों मंगाया गया, नौकर निठल्ले क्यों बैठे हैं, वे काम करते हैं या नहीं आदि बातें परिग्रह-मुक्त व्यक्ति की नहीं हैं। उसने जब अर्थ का त्याग ही कर दिया है, तब वह उसके उपयोग की चिंता करे, यह उसे शोभा नहीं देता।

अवस्था-प्राप्त लोग सोचें

कुछ लोगों का ख्याल है कि वे यदि इस प्रकार घर की निगरानी नहीं रखें तो क्या घर उजाड़ न हो जाए। इसमें सोचने की बात यह है कि उनके यहां से चले जाने के बाद घर का काम कैसे चलेगा; क्या बाद में घर उजाड़ हो जाएगा। जो लोग अवस्था प्राप्त हो जाने के बाद भी घर की चिंताओं से मुक्त नहीं होते, उनकी तो फिर उस जाट की-सी ही दशा होगी। एक गांव में एक जाट रहता था। खाता-पीता घर था। परिवार भी बहुत बड़ा था। पुत्र व पौत्र उसे बहुधा कहते हैं 'बाबा! अब तुम बूढ़े हो चले हो, अतः घर के धंधे छोड़ो और कुछ धार्मिक क्रिया किया करो।' पर वह किसी की नहीं सुनता। घर पर दो एवड़ (भेड़-बकरियों का समूह) रखता और उनकी सार-संभाल स्वयं करता। स्वयं अपने हाथों से भेड़-बकरियों को पानी पिलाता, चारा खिलाता। बेटे-पोते ज्यादा जिद करते तो कहता है 'तुम लोगों में अकल ही कहां है! तुम्हारे भरोसे यदि पशु छोड़ दूं तो दो दिन में 'चोका' उजड़ न जाए!' तब पुत्र-पौत्र बेचारे चुप रह जाते।

एक दिन वह अपने हाथ से पानी निकाल-निकालकर पशुओं को पिला रहा था। अचानक उसका जर्जरित शरीर वश में नहीं रहा और लाव के साथ ही कुएं में गिर गया। पुत्र-पौत्र दौड़े आए। उन्होंने अविलंब उसे बाहर निकाला। पर तब तक तो दिए का तेल समाप्त हो चुका था। उसे मरा देखकर वे बोले 'बाबा! हमने तुम्हें कितना कहा था कि तुम अब बूढ़े हो चले हो। तुम्हारा शरीर तुम्हारे वश में नहीं रहा। अब तुम्हारा शरीर काम करने का नहीं है। अब तो तुम्हें आराम और ईश्वर भजन करना चाहिए। पर तुमने हमारी एक न सुनी। उलटा हमें ही कोसते

कि मैं काम नहीं करूंगा तो क्या पशु मर नहीं जाएंगे।' पर अब उनके व्यंग्य और संवेदनाओं का उत्तर देनेवाला कौन था!

ठीक इसी प्रकार जो मनुष्य अवस्था पाकर और साधनसंपन्न होकर भी अंत में घर की चिंताओं से मुक्त नहीं होता, वह सुखी कैसे हो सकता है?

स्वस्थ नेतृत्व

यद्यपि घर में जो बड़ा होता है, उसे घर का नेतृत्व करना पड़ता है, तथापि इन छोटी-छोटी बातों के लिए प्रतिपल दूसरों को गालियां देना, गुस्सा करना, पैसे से अत्यधिक चिपके रहना, ये बातें तो उसे शोभा नहीं देतीं। नेतृत्व का अर्थ तो यह है कि घर के लोगों के आचार-व्यवहार के बारे में ध्यान रखना। वे फिजूलखर्ची व फैशन में तो नहीं पड़ गए, ऐसी बातों पर नजर रखना। यदि कहीं कमी दिखे तो समझा। कम-से-कम पंद्रह दिनों में एक बार घर के सब सदस्यों को सामूहिक शिक्षा देना। पर लोग आज ये बातें तो भूल-से गए हैं। पूरे दिन 'हाय-हाय' करके दूसरों का अपमान करना ही शायद आज नेतृत्व का रूप रह गया है। यह सब परिग्रह की ओर अति झुकाव के कारण होता है। इसी लिए भगवान महावीर ने कहा कि अपरिग्रही बनो। कोई बिलकुल अपरिग्रही नहीं हो सकता, तो कम-से-कम अपनी आवश्यकता से अधिक परिग्रह तो न रखे। यही अणुव्रत का आदर्श है। आप अणुव्रत-पथ पर आएं। आपके जीवन का रूप निखर जाएगा।

८० : परिष्कार का प्रथम मार्ग

समाज रूपी रथ के दो पहिए हैं—स्त्री तथा पुरुष। दोनों ही सुगठित एवं सशक्त रहें, तभी समाज का रथ भली प्रकार से आगे बढ़ सकता है, अन्यथा नहीं। अपने-अपने क्षेत्र में दोनों का अत्यंत महत्त्व है। आज महिलाओं की जो इतनी बड़ी सभा हुई है, उसका अपना एक विशिष्ट उद्देश्य है। उद्देश्य क्या? उद्देश्य यही कि उन्हें जीवन की सही दिशा दी जाए। जैसे बहिनों को प्रवचन में बहुत-कुछ सुनने को मिलता है और उनकी सुनने की रुचि भी अत्यंत तीव्र रहती है; किंतु श्रवण मात्र से तो काम होता नहीं। खाना खा लेने के बाद उसे पचाने की भी नितांत आवश्यकता होती है, क्योंकि उसको पचा लेने से ही मनुष्य बलवान बनता है, खाने मात्र से नहीं। ठीक इसी प्रकार विमल विचार सुनने मात्र से कल्याण नहीं होता, उनको अपने जीवन में रमाने, आत्मसात करने से ही जीवन-विकास होता है। सुनने की इच्छा और निष्ठा बहनों में कितनी है, यह तो प्रत्यक्ष सिद्ध है। सायंकाल की रसोई का समय हो गया है, पर बहिनें उसी प्रकार तन्मयता से सुन रही हैं। अपने-अपने आसन पर जैसे ही डटी हुई हैं। इसका प्रभाव नवागंतुक बहिनों पर अवश्य ही पड़ेगा, किंतु इतनी स्थिरता से ही तो उनका साध्य सिद्ध नहीं हो जाएगा। उसके लिए उन्हें और भी बहुत-कुछ करना पड़ेगा, सलक्ष्य करना पड़ेगा।

जरूरी है रूढ़ि-मुक्ति

जीवन सदा हलका रहना चाहिए। अंतर से भी और बाह्य रूप से भी। तभी वह आगे गमन कर सकता है। रूढ़ियों का भार उस पर लाद दिया जाए तो वह दब जाएगा। उसमें विकास की कोपलें नहीं फूटेंगी। मारवाड़ी बहिनें कुछ रूढ़ियों में ज्यादा ही ग्रस्त हैं। जब तक वे उनमें उलझी रहेंगी, तब तक सुधार की, आत्म-कल्याण की बात कैसे संभव हो सकती है? और रूढ़ियां योगी की जटा की तरह गहरी उलझी हुई

हैं। उन्हें सुलझाने का कोई तरीका निकालना चाहिए।

उस्तुरा फेरना होगा

एक मनुष्य ने लंबी तपस्या की। समस्त शरीर की सार-संभाल छोड़ दी। उसकी जटा बहुत बढ़ गई और उलझ गई। सुलझाने के लिए कंधी आई। पर कई कंधियां टूट जाने पर भी जटा सुलझी नहीं। स्थिति देखकर किसी समझदार ने कहाह 'भई! यह इस प्रकार नहीं सलझेगी। इसके लिए उस्तुरा लाओ और सिर पर फेर दो। इसे सुलझाने का सिर्फ यही मार्ग है।' इसी प्रकार रूढ़ियों की स्थिति सुलझाने का तरीका उनका त्याग ही है। अन्य किसी प्रकार से वे नहीं सुलझेंगी। बहनों को, और विशेषकर मारवाड़ी बहनों को रूढ़ियों का बहिष्कार अवश्य करना है। यह व्यक्तिगत रूप से भी हो सकता है और सामूहिक रूप से भी।

चिंतनपूर्वक आगे बढ़ें

हालांकि मैं यह नहीं कहता कि बिना सोचे-समझे ही कोई काम कर डालना चाहिए। जो कार्य चिंतनपूर्वक सोच-समझपूर्वक होता है, वही ठीक और स्थायी होता है। मैं आज बहनों से जोर देकर एक ही बात कहूंगा कि वे किसी कार्य को करने से पूर्व यह चिंतन करें कि अमुक कार्य क्यों किया जा रहा है; उसका क्या उपयोग है; उसके साधन कौन से होने चाहिए। इस प्रकार यदि प्रत्येक कार्य के पहले बहनें 'क्यों' का प्रश्न लगाए रखेंगी तो वे अपने-आपमें बहुत सुधार कर लेंगी और व्यवस्थित बन जाएंगी। चिंतन परिष्कार का प्रथम मार्ग है। इसी के सहारे बड़े-बड़े परिवर्तन हुए हैं। बहनों में चिंतन है, तभी तो वे गले का सूत पैरों में नहीं पहनतीं और पैर के गहने गले में नहीं पहनतीं। यह विवेक का ही परिणाम है कि वे इस प्रकार विपर्यय नहीं करतीं। जो महिलाएं अपने घर का संचालन करती हैं, उनमें क्या चिंतन की पुट नहीं है? बहनें चिंतनशील हैं, वे विचार भी करती हैं, किंतु आवश्यकता इतनी-सी है कि वे इसे और विकसित करें तथा ऊंचे और अच्छे कामों में लगाएं। यदि उन्होंने ऐसा किया तो मैं विश्वासपूर्वक कह सकता हूं कि थोड़े ही समय बाद वे स्वयं अनुभव करेंगी कि हममें कितना परिवर्तन आ गया है तथा हम किस प्रकार अपने लक्ष्य के निकट हो रही हैं।

चिंतन का वास्तव में ही बहुत महत्त्व है। उससे बहुत बड़ी स्पष्टता आ जाती है, आगे विकास की धाराएं खुलने लगती हैं, किसी प्रकार की

उलझन नहीं रहती। जैसे, आप जानती हैं कि जीवन 'क्यों' और 'किस न्याय से' है। यह जानना आवश्यक भी है, क्योंकि हमारा मार्ग न्याय का है। हम न्याय से हटकर एक इंच भी नहीं चल सकते। इस न्याय में सारा रहस्य भरा हुआ है। जो इसे नहीं जानता, वह कुछ नहीं जानता।

प्रसंग आचार्य भिक्षु का

एक बार आचार्य भिक्षु के पास एक भाई आया और बोलाह 'मुझसे चर्चा करें। कोई प्रश्न करें।' आचार्य भिक्षु ने कहाह 'भाई, जब तुम मेरे स्थान पर आए हो, फिर तुझसे क्या प्रश्न करूं!' वह आग्रहपूर्वक बोलाह 'नहीं-नहीं, कुछ तो अवश्य पूछें।'

उसका इतना आग्रह देखकर आचार्य भिक्षु ने पूछाह 'अच्छा, तुम संज्ञी हो या असंज्ञी?' थोड़ा विचार करने बाद उसने उत्तर दियाह 'संज्ञी।'

आचार्य श्री ने पूछाह 'किस न्याय से?' उत्तरदाता घबराया और सोचने लगा कि उत्तर ठीक नहीं दिया गया। वह तत्काल बदला, बोलाह 'नहीं-नहीं, असंज्ञी।' आचार्य भिक्षु ने वही प्रश्न दुहरायाह 'किस न्याय से?' वह पुनः दुविधा में पड़ गया और बोलाह 'दोनों हूं।' आचार्य भिक्षु ने तीसरी बार वही प्रश्न कियाह 'किस न्याय से?' इस बार घबराकर वह बोलाह 'दोनों ही नहीं।' आचार्य भिक्षु ने चौथी बार पूछाह 'किस न्याय से?'

उसे यह 'किस न्याय से' पूछा जाना बहुत बुरा लगा, क्योंकि इसके आगे उसकी ज्ञान-पूंजी समाप्त हो गई थी। अतः उसे क्रोध आ गया। उसके वशीभूत होकर उसने आचार्य श्री की छाती पर एक मुक्का जमाया और यह कहता हुआ कि आग लगे आपके इस 'किस न्याय से' को, वह वहां से चला गया। बहिनो! मेरी सारी बातों का सारांश यही है कि तुम इस न्याय को सीखो। बस, इस एक बात में मेरी सारी अन्य शिक्षाएं समाहित हैं। कोई भी काम केवल कहने से मत करो। उस पर विचार करो, सोचो, सूक्ष्मता से चिंतन करो। हेय और उपादेय की दृष्टि से देखो। फिर अच्छा हो तो उसे स्वीकार करो, अन्यथा त्याग दो।

अणुव्रत : आत्मिक सौंदर्य की प्राप्ति का मार्ग

महिलाओ! तुम अणुव्रत-आंदोलन के प्रचार एवं प्रसार में समान योग दे सकती हो। तुम्हारी योग्यता के बारे में मैं तनिक भी संदिग्ध नहीं हूं, पर तुम्हें अपने-आपको और व्यवस्थित गढ़ लेना है। तुम दिखावट

और 'पोजीशन' में मत फंसो। अपना जीवन सात्त्विक बनाओ। बाह्य सौंदर्य के प्रसाधनों में कीमती समय गंवाना समझदारी का लक्षण नहीं है, क्योंकि आखिर ऊपर का सौंदर्य टिकने का तो है नहीं। स्थायी तो आत्म-सौंदर्य ही होगा। मैं समझता हूँ, आत्मिक सौंदर्य प्राप्त करने के लिए तुम लोगों के समक्ष अणुव्रत एक श्रेष्ठ मार्ग है। तुम यदि इस पर चलना आरंभ करती हो तो दूसरों को भी इस पर चलाने में समर्थ बनोगी, क्योंकि तुम बच्चों से लेकर बूढ़ों तक की विधात्री हो। सबका संचालन तुम अत्यंत कुशलता एवं मधुरता से कर सकती हो।

चुंबुरूप में मैंने तुमसे कुछ बातें कही हैं। क्या मैं आशा करूँ कि तुम इन पर गंभीरता से चिंतन-मनन कर हृदयंगम करोगी?

सुजानगढ़

८१ : प्रवचन का अर्थ

प्रवचन क्या है

प्रातःकाल में प्रायः लोगों को खुराक लेने का अभ्यास होता है। इसलिए शायद अधिक लोग कुछ खा-पीकर ही आए होंगे। पर उस खुराक से दूसरी खुराक और भी ज्यादा आवश्यक है। वह है ह्यजीवन की खुराक। जिस प्रकार शरीर चलाने के लिए नाश्ता करना लोगों ने आवश्यक मान लिया है, उसी प्रकार जीवन चलाने के लिए प्रवचन भी आवश्यक है। प्रवचन माने ओजपूर्ण वचन। जैसे हर-एक बात कहना ही वचन होता है, पर प्रवचन वही होता है, जो विशेष रूप से कहा जाए। प्रवचन का एक दूसरा अर्थ है ह्यशासन। निर्ग्रथ-प्रवचन यानी निर्ग्रथ का शासन। यह शासन कोई डंडे का शासन नहीं होता है। यहां शासन का अर्थ आत्मानुशासन या पथ-दर्शन है। यही धर्मगुरुओं का शासन होता है। मैं मानता हूं कि पथ-दर्शन उनका कर्तव्य होता है। अतः वे जनता का पथ-दर्शन करते हैं, उनके द्वारा बताए गए मार्ग पर कोई चलता है या नहीं, यह चिंता उन्हें नहीं सताती। कोई चलता है तो इसका उन पर कोई एहसान नहीं होता है और न कोई खुशी होती है, क्योंकि इसमें आखिर एहसान खुशी की बात है ही क्या? यह तो जीवन का आवश्यक मार्ग है। इसी प्रकार अगर कोई उनके द्वारा बताए गए मार्ग पर नहीं चलता तो उन्हें कोई दुःख भी नहीं होता है। कष्ट तो स्वयं नहीं चलनेवालों को होनेवाला है, क्योंकि वे जीवन की समरेखा पर नहीं चलते हैं। कार्य अपने विरुद्ध तो कोई फल देनेवाला है नहीं। जो जैसा करेगा, वैसा भरेगा, यह निश्चित है। अतः अगर कोई उनके द्वारा बताए गए मार्ग पर नहीं चलता है, तो उन्हें क्या दुःख? उनका कार्य तो मार्ग बताना है। वह कार्य वे निस्पृह-भाव से करते हैं और करते रहेंगे।

प्रवचन तीन प्रकार के होते हैं। एक तो सिद्धांत का प्रवचन, दूसरा

अनुभवपूर्ण प्रवचन और तीसरा लौकिक स्थिति के अनुकूल प्रवचन। प्रवचन केवल सुनने का नहीं होता। लोगों को सिद्धांत का प्रवचन सुनने की बड़ी रुचि रहती है। उनका विश्वास है कि सिद्धांत के वचन कानों में पड़ जाने से हम भव-भव में बहरे नहीं होंगे। इस संदर्भ में मेरा अभिमत यह है कि सिद्धांत-श्रवण बहुत श्रेयस्कर है, पर उसके सुनने मात्र से कल्याण हो जाएगा, यह सर्वथा असंभव है। आप यह बात गंभीरता से समझें। सुनना मात्र सुनने तक सीमित हो, इससे कल्याण होनेवाला नहीं है। उससे कल्याण तो तब होगा, जब वह अकर्मण्य नहीं रहकर क्रिया रूप में जीवन में उतरेगा। धर्मशास्त्रों में अनेक अच्छी-अच्छी बातें कही गई हैं। लोग उन्हें सुनते भी बहुत हैं, पर सोचने की बात यह है कि उनका आचरण कौन करता है। इसी लिए *अणुव्रत प्रार्थना* में मैंने कहा है कि

धर्मशास्त्र के धार्मिकपन को आचरणों में लाएं हम।

अतः आज आवश्यकता इस बात की है कि सिद्धांतों की बातें, शिक्षाएं जीवन में उतारी जाएं। धर्मशास्त्रों में अनेक अच्छी-अच्छी बातें हैं। अतः उनके श्रवण का लाभ असंदिग्ध है, बशर्ते कि सुनना केवल सुनने तक सीमित न रहे, आचरणों में ढले। फिर सुनने मात्र से कल्याण होने की बात स्वीकार करने का अर्थ है कि एक अपेक्षा से ईश्वरकर्तृत्व का सिद्धांत स्वीकार करना। जिस प्रकार 'ईश्वर ही सब कुछ करता है' जैसा मानकर लोग अकर्मण्य हो जाएं, यह उपयुक्त नहीं है, उसी प्रकार सुनने मात्र से कल्याण मानकर अकर्मण्य हो जाना भी उपयुक्त नहीं है। आप सब विवेकसंपन्न हैं, इसलिए आप इस प्रकार की भूल नहीं करेंगे, ऐसी अपेक्षा करना अन्यथा नहीं होगा।

८२ : आर्षवाणी का ही सरल रूप

हमारे यहां आर्षवाणी का बहुत महत्व है। आर्षवाणी का तात्पर्य है ह्य शास्त्रवाणी। अणुव्रत भी तो आर्षवाणी का ही सरल रूप है। सिद्धांतों में आचरण की अनेक बड़ी-बड़ी बातें हैं, पर सभी मनुष्य उन सारी बातों को ग्रहण नहीं कर सकते। अतः अणुव्रत द्वारा हमने इतना तो कर दिया है कि मनुष्य कम-से-कम एक सीमा तक तो अहिंसा का पालन अवश्य करे। पर इस ओर लोगों की प्रवृत्ति कम है। जिस प्रकार चलते-चलते सामने बाधा आ जाने पर चला नहीं जाता, उसी प्रकार अणुव्रत के मार्ग पर चलने में दो बाधाएं की हैं एक है विचारात्मक और दूसरी है क्रियात्मक या आचरणात्मक।

वैचारिक बाधा

विचार के बारे में बाधा क्या है? कुछ लोगों के दिमाग में अणुव्रत को समझने में उलझनें पैदा हो गईं कि यह कि यह उचित है या नहीं; कहीं यह गलत रास्ता तो नहीं है; बारह व्रतों की पहले व्यवस्था थी ही, फिर अणुव्रतों की पुनर्रचना करने की क्या आवश्यकता पड़ी; कहीं इसके प्रवर्तन के पीछे अपनी ख्याति की भावना तो नहीं है। इस प्रकार के प्रश्नों से अणुव्रतों को स्वीकार करने में एक अवरोध पैदा हो गया है और जन-साधारण इससे कुछ-कुछ गुमराह हो गया है। वह इस भाषा में सोचता है कि कुछ लोग, जो ऐसी बातें करते हैं, सचमुच ही वे कहीं सच ही तो नहीं हैं। पर लोग यह नहीं सोचते कि अणुव्रतों में जो बातें बताई गई हैं, वे उनके जीवन के लिए आवश्यक हैं या नहीं। जिस प्रकार भूखा मनुष्य सामने खीर आने पर यह नहीं सोचता कि यह कहां से आई है; क्यों आई है; यह किन चीजों की बनी हुई है; वह तो तत्क्षण उसे खाने ही बैठ जाता है, उसी प्रकार जनता को भी चाहिए तो यह था कि जब उसके सामने यह योजना आई तो 'क्यों' और 'कैसे' के प्रश्न

छोड़कर उसे अपने जीवन में स्थान देती। पर जीवन में किसे उतारना था? उसे तो बहाना बनाना था। कई लोगों का यह स्वभाव होता है कि उन्हें जो चीज नहीं अपनानी होती है, उसके लिए बहाना ढूंढते हैं। मेरी समझ में अणुव्रतों के बारे में भी उपर्युक्त प्रश्नों का कारण बहाना ही हो सकता है। जिन लोगों को अणुव्रत अपनाना नहीं था और अपने-आपको उंचा बनाए रखना भी आवश्यक था, वे लोग सीधे तो अणुव्रतों को गलत कहते कैसे? अतः उन्होंने ऐसे प्रश्नों का बहाना बनाकर जनता को गुमराह करना शुरू कर दिया। नहीं तो भला सत्य और अहिंसा के प्रसार के बारे में किसी के ऐसे विचार हो ही कैसे सकते हैं? पर खुशी की बात है कि प्रायः लोगों के वे प्रश्न अब समाप्त हो गए हैं। अब प्रायः लोग यह समझते लगे हैं कि इसके पीछे कोई दूसरा लक्ष्य नहीं है। यह तो जीवन-शुद्धि का ही एक मार्ग है। इस प्रकार यह वैचारिक बाधा तो एक प्रकार से समाप्त हो गई है।

बाधा आचरण की

अणुव्रत के संदर्भ में दूसरी बाधा है आचरण की। लोग यह मानते हैं कि कार्यशील व्यक्ति तो इस अपना ही नहीं सकता। रिटायर्ड लोग ही इसे अपना सकते हैं। पर मेरी समझ में यह नहीं आया कि रिटायर्ड है कौन। मरने से पहले तो किसी का रिटायर्ड होना मुश्किल है। हर व्यक्ति के पीछे कोई-न-कोई काम तो लगा ही रहता है। इस परिप्रेक्ष्य में रिटायर्ड किसे माना जाए? हां, मरने के बाद फिर कोई काम नहीं रहता, फिर व्यक्ति उस जन्म की दृष्टि से रिटायर्ड हो सकता है। पर जब मनुष्य स्वयं ही नहीं रह जाता, तब अणुव्रतों के आचरण का प्रश्न ही कहां रह जाता है? लोग समझते हैं मरने के बाद मुक्ति मिल जाती है। पर यह सही नहीं है। जीवन तो आगे-से-आगे चलता ही जाता है। कर्मक्षय होने पर मोक्ष भी मिलता है, पर मरने पर नहीं मिलता। मोक्ष तो प्रायः इसी जीवन में मिल जाता है। यहां से देह-मुक्ति होने पर तो आत्मा उस स्थान में व्यवस्थित हो जाती है, जहां से आगे उसकी गति का सहायक तत्त्व नहीं रह जाता। अतः कार्यशील जीवन में ही जो व्यक्ति अणुव्रती बनेगा, वह अपने जीवन में शांति का अनुभव करेगा।

अणुव्रत शांति और आनंद का नाम है

अणुव्रत का अर्थ है शांति या आनंद। पर वह आनंद वस्तु-निरपेक्ष

आनंद है। पदार्थ-प्राप्ति पर जो आनंद मिलता है, वह तो क्षणिक है। वस्तु मिलती रहेगी, तब तक तो आनंद रहेगा, और जैसे ही वस्तु का मिलना बंद हुआ, दुःख होने लगेगा। पर पदार्थ-निरपेक्ष आनंद में यह बात नहीं है। उससे जो आनंद होगा, वह वस्तु-प्राप्ति पर निर्भर नहीं है। वह तो स्थायी होगा। जब भी मनुष्य उसका स्मरण करेगा, तब उसी क्षण उसे आनंद मिलेगा। कल मैंने उपवास किया था। एक भाई ने पूछाह 'उपवास में आपको शांति तो है?' मैंने कहाह 'आज मुझे कल से अधिक शांति है।' क्यों? यह इसलिए कि मैंने अनुभव किया कि उपवास में जो आनंद मिलता है, वह खाने में नहीं मिलता। उस आनंद की बात ही और होती है! जैसा मैंने अनुभव किया, वैसा ही अनुभव शायद औरों को भी होता होगा। वह आनंद मरकर प्राप्त किया जाए, यह तो है ही नहीं। इसी लिए अणुव्रत-आंदोलन मृतकों के लिए नहीं है, वह जीवित लोगों के लिए है। अपने-अपने काम में लगे हुए लोगों के लिए है।

बंधुओ! मैं आप लोगों से एक बात विशेष रूप से कहना चाहता हूँहअणुव्रत के बारे में आपके मन में जो भय और शंकाएं हैं, उन्हें आप निकाल दें। बहुत-से लोग सोचते हैं कि अणुव्रत तो बहुत कठिन है। पर वास्तव में बात ऐसी नहीं है। आप अणुव्रत की नियमावली कम-से-कम एक बार ध्यानपूर्वक पढ़ें तो सही। उसके बहुत-से नियम तो सहज ही हैं। कुछ ऐसे नियम हैं, जिनमें शायद आप कुछ अटक भी जाएं, ऐसे नियमों को आप आलोचना-प्रत्यालोचना और चिंतन के लिए रहने दें। धीरे-धीरे आपमें स्वयं अणुव्रत के अनुकूल एक मानसभूमि तैयार हो जाएगी। मैंने देखा कि यहां अभी दो दिन पहले खूब जोर से वर्षा आई। बहुत-से घर पानी से घिर गए। धीरे-धीरे वह पानी बह गया या सूख गया। आज लोग अपने-अपने घर में अटके हुए कुछ पानी को अलग-अलग तरीकों से निकालने का प्रयत्न कर रहे हैं। इसी प्रकार आप भी बहुत-से अणुव्रत-नियमों से तो सहज ही निकल जाएंगे। कुछ व्रतों में जहां आप अटक जाते हैं, वहां फिर आपको दूसरे-दूसरे तरीके भी अपनाने पड़ेंगे। जहां चाह है, वहां राह भी मिल जाएगी। अतः कम-से-कम अणुव्रत के नियम आप अपने आत्मालोचन के साथ पढ़ें, यह अत्यंत आवश्यक है।

मेरी तड़प

मेरी एकमात्र आंतरिक तड़प है कि कम-से-कम मेरे निकट रहनेवाले

लोगों का जीवन ऊंचा हो। मैं नहीं कह सकता कि यहां बैठे लोग मेरी भावना कितनी समझते हैं। पर अगर आप मेरी दृष्टि सफल चाहते हैं तो सबसे पहले आप लोगों को अपना जीवन शुद्ध बनाने की आवश्यकता है। कुछ लोग छोटी-छोटी बातों में मेरी दृष्टि खींचने का प्रयत्न करते रहते हैं। पर मैं जो चाहता हूं, उसे समझनेवाले कितने लोग होंगे, यह एक चिंतन की बात है। वैसे मैं छोटी-छोटी बातों को भी कम महत्त्व नहीं देता। उनका संकलन ही तो आखिर जीवन है। पर साधारण बातों में मेरी दृष्टि का उलटा-सीधा अर्थ लगाकर दूसरों की जबान बंद कर देना, यह कोई समझदारी की बात नहीं है। अस्तु, आप अपना दृष्टिकोण सम्यक रखें और किसी बात का दुरुपयोग न करें। 'अणुव्रत' आप सबके नितांत हित का तत्त्व है, इसलिए आप आप अपना जीवन इसकी आचार-संहिता के अनुरूप बनाने का प्रयत्न करें, यही श्रेय-पथ है।

सुजानगढ़

८३ : आवरण

झूठ सत्य की ओट में चलता है

सब लोग अपने-अपने धर्म की प्रशंसा करते हैं और यह स्वाभाविक भी है। जो व्यक्ति जिस वातावरण में पलता है, वह उसे अच्छा लगने लगता है। वह उसकी अच्छाई बताए, इसमें कोई समस्या भी नहीं है। समस्या तब होती है, जब व्यक्ति दूसरों की निंदा करने लग जाता है। निंदा सुनकर कौन मनुष्य भड़क नहीं उठता? लड़ाई की नौबत भी आ सकती है। वास्तव में धर्म का स्वरूप ही यही है कि कोई किसी की निंदा न करे, बल्कि अपनी आत्मा की साधना करे। पर शास्त्रों में धर्म को भी सावद्य कहा गया है। सावद्य धर्म यानी वह धर्म जो हिंसा पर आधारित हो। प्रश्न होगा कि धर्म और फिर हिंसात्मकहृये दोनों बातें एक साथ कैसे होंगी। पर यह औपचारिक वाक्य है। 'धर्म' शब्द से लोगों को प्यार है। अतः उस नाम से हिंसा को भी वहां आश्रय मिलता है। वास्तव में झूठ भी बिना सत्य के नहीं चल सकता। जो लोग झूठ बोलते हैं, वे भी कहेंगे तो यही कि उन्हें झूठ से बड़ी घृणा है। इससे बहुत-से लोग उसके कहने में फंसे जाएंगे और झूठ भी सत्य के आवरण में विकसित होता रहेगा। यह दूसरी बात है कि झूठ अधिक दिनों तक नहीं चल सकता।

शांति के लिए शस्त्रों का निर्माण!

पर वह जितने समय तक चलता है, उतने समय तक सत्य के आवरण में ही चल सकता है। झूठ झूठ के आधार पर एक मिनट भी नहीं चल सकता। आज जो महाविनाशक शस्त्रों का निर्माण हो रहा है, वह भी शांति और रक्षा के नाम पर ही हो रहा है। वास्तव में शांति और सुरक्षा का प्रश्न आज इतना मुख्य नहीं है, जितना अपने अधिकार का प्रश्न है। प्रत्येक शक्तिशाली राष्ट्र अपने अधिकारों की सुरक्षा के लिए

इनका निर्माण कर रहा है। भला इन विषाक्त शस्त्रों से शांति और सुरक्षा की बात सोची ही कैसे जा सकती है! आज तो उनका नाम सुनते ही दुनिया डरने और थरनि लगती है। बावजूद इसके, शक्तिशाली राष्ट्र शांति के नाम पर उनका निर्माण करते बाज नहीं आते।

शांति और शस्त्र-निर्माणहृये दो सर्वथा भिन्न-भिन्न दिशाएं हैं और उनका प्रदर्शन तो निश्चित रूप में भय का मार्ग है। साधुओं के रजोहरण में एक लकड़ी (डांडी) रहती है। उसके लिए यह विधान है कि वे उसे खुली न रखें, क्योंकि उसे खुली रखने से पशु आदि डर जाते हैं। चूंकि वे उसे किसी को डराने के लिए तो रखते नहीं, अतः वे उस पर एक कपड़ा लपेट लेते हैं, ताकि कोई उसे देखकर डर नहीं जाए। शांति का स्वरूप भी तो यही है। उसे शस्त्रास्त्रों के निर्माण सचमुच ही अहिंसा की ओट में हिंसा का पोषण करना है।

आवरण की शक्ति

सीधे तौर पर पाप को पाप कहने से उसका उघाड़ हो जाता है। अतः उसे धर्म के नाम पर ढककर खुले बाजार बेचा जा सकता है। आज जगह-जगह जो हड़तालें हो रही हैं, उनमें क्या किसी राजनीतिक दलविशेष का हाथ नहीं है? आदर्श की ओट में कुछ लोग मजदूरों और कर्मचारियों को भड़का रहे हैं। वे लोग ऊपर से तो मीठे-मीठे आश्वासन देते हैं, पर अंदर में न जाने कैसी-कैसी राजनीति चलती है। शरीर की भी तो यही स्थिति है। अंदर से अशुचिपूर्ण है और अशुचि भी ऐसी, जिसे देखते ही घृणा हो जाती है, पर ऊपर चमड़ी का आवरण ऐसा है कि जिससे सबको इसके प्रति आकर्षण होता है। आवरण में बड़ी भारी शक्ति होती है।

दशवैकालिक चूर्णि में एक कथा आती है। एक माली फूलों की टोकरी लिए जा रहा था। चलते-चलते उसे उत्सर्ग की बाधा हो गई। पर रास्ते में उत्सर्ग के लिए कहां स्थान मिलता? संयोगवश एक मिनट तक रास्ते पर कोई दीख नहीं पड़ा और मौका पाकर वहीं उसने अपना काम निकाल लिया। तभी उसे सामने से लोग आते दिखाई दिए। वह बड़ा शर्मिंदा हुआ, क्योंकि आखिर है तो यह सभ्यता के विरुद्ध की बात ही। पर तत्क्षण उसे एक युक्ति सूझ गई। अपनी टोकरी के फूलों को उस गंदगी पर डालकर उसकी पूजा करने लगा। लोगों ने पूछा 'यह क्या

करते हो?’ उसने जवाब दियाह‘यहां अभी-अभी एक देवी प्रकट हुई है। नाम उसका हिंवा देवी है। अतः उसकी पूजा कर रहा हूं।’ देवी का नाम सुनकर कौन झुक नहीं जाता? सब लोग उनके सामने सिर झुकाने लगे। उन्हें क्या पता था कि यह आवरण का खेल है।

सुंदर की परिभाषा

आवरण से जो चीज अच्छी लगती है, उसकी सुंदरता में संदेह ही है। वास्तव में सुंदर चीज वही है, जो निरावरण होकर भी सुंदर लगे। बच्चे का नंगा शरीर भी असुंदर नहीं लगता, क्योंकि वह वास्तविक सौंदर्य है। इसलिए कहते हैंहतीर्थकरों के शरीर में सहज सौंदर्य होता है। उस पर कपड़ा न होने पर भी वह सबको सुंदरहअविकृत लगता है। आज मनुष्य का सहज स्वभाव विकारों से आवृत हो रहा है। अतएव उसमें संक्लेश है।

धर्म की छाया में पलता पाप

इसी प्रकार धर्म भी कई गलत चीजों के लिए आवरण बनकर उन्हें दूषित कर रहा है। एक भिखारी भी, जो लौकिक और आध्यात्मिक दोनों दृष्टियों से पतित है, धर्म की छाप लगाकर दान मांग सकता है। धर्म का नाम इतना प्रिय है कि उसे सुनते ही बहुत-से लोग दान देने को तैयार हो जाते हैं। भले उसके जीवन में साधना का नाम भी न हो। दान में अगर कोई यह कह दे कि मैं दान मांगता हूं, पर मुझे देने से पाप लगेगा, तो शायद ही कोई मनुष्य उसे दान देना चाहेगा। पर धर्म का नाम इतना मीठा है कि उसकी छाया में पाप भी चलता है।

आवश्यक प्रवृत्ति और धर्म

इसी दृष्टि से आचार्य भिक्षु ने कहा कि धर्म के नाम से ही किसी चीज को मत अपनाओ। नाम की दृष्टि से गाय और आक दोनों का दूध दूध ही कहलाता है, पर यदि कोई गाय के दूध के बदले आक का दूध काम ले ले तो उसकी क्या दशा होगी? यद्यपि आक का दूध सर्वथा घातक है, ऐसी बात नहीं है। उसे भी वैद्य लोग दवाइयों में काम लेते हैं। बावजूद इसके, उसे गाय के दूध के स्थान पर काम में लेना भयंकर भूल होगी। उसी प्रकार हिंसा-अहिंसा, पाप-धर्म का विवेक आवश्यक है, अन्यथा **दुविधा में दोनों गए, माया मिली न राम** वाली कहावत चरितार्थ हो जाएगी। इसी लिए भिक्षु स्वामी जी ने कहा कि हर चीज का यथार्थ

मूल्यांकन करो। सामाजिक प्राणी समाज में रहता हुआ अनेक कार्य करता है, अनेक प्रकार के कार्य करता है। पर इतने मात्र से उन्हें आवश्यक मान लेना अपेक्षित नहीं है। कुछ कार्य आवश्यकता के लिए चलते हैं, कुछ अनावश्यक ढर्रे के रूप में भी चलते हैं। जिस प्रकार जो अनावश्यक हैं, उन्हें आवश्यक मान लेना उचित नहीं है, उसी प्रकार सामाजिक आवश्यक कामों को धर्म में मिला देना भी उचित नहीं है। माना कि व्यापार करना सामाजिक प्राणी के लिए आवश्यक है। पर आवश्यक होने मात्र से वह धर्म तो नहीं हो जाता। शास्त्रों में धर्म का लक्षण बताते हुए लिखा है **अहिंसासंयम-तवलक्खणो धम्मो**। धर्म की यह कसौटी है। किसी कार्य में धर्म हो या नहीं, यह देखना है तो उसे इसी कसौटी पर कसकर देख लें कि उसमें अहिंसा, संयम और तप है या नहीं। जैसे एक व्यक्ति मौन साधना करता है। वह धर्म है या अधर्म? स्पष्ट है वह धर्म है, क्योंकि उसमें वाणी का संयम है। इसी प्रकार झूठ बोलना स्पष्ट पाप है। कोई मनुष्य किसी की प्रशंसा करता है, वह धर्म है या अधर्म? यहां हमें देखना होगा कि उसकी इस क्रिया में अहिंसा, संयम व तप की प्रवृत्ति होती है या नहीं। यदि होती है तो वह धर्म है और नहीं होती है तो वह स्पष्ट अधर्म है।

वही दान धर्म है

इसी प्रकार किसी को देने में यदि अहिंसा पुष्ट होती हो तो वह धर्म है। यदि ऐसा नहीं होता है तो वह धर्म कैसे होगा? एक सामाजिक मूल्य या आवश्यकता तो माना जा सकता है, पर जब अहिंसा नहीं है, तब वहां धर्म तो नहीं हो नहीं सकता। इसी लिए मैंने एक गीत में लिखा है

‘दान’ जहां, हो पुष्ट अहिंसा,
‘दया’ नहीं, हो जिसमें हिंसा।
दान-दया के आडंबर से,
शोषण को ही मिला सहारा॥
बना रहे आदर्श हमारा॥

यद्यपि बात थोड़ी कड़ी है, पर है सच्ची। कोई वैद्य दवाई देता है, वह कड़वी तो हो सकती है, पर रोगी को यदि यह विश्वास है कि यह कड़वी होते हुए भी मेरे लिए अच्छी है, मैं अच्छा हो जाऊंगा तो वह उसे आंख मूंदकर भी पी लेता है। उसी प्रकार बात चाहे कड़ी हो, पर है

सही कि वही दान आध्यात्मिक है, जहां अहिंसा पुष्ट होती हो।

धर्म का आवरण उचित नहीं

कई व्यक्ति दूध के लिए गौशाला का प्रबंध करते हैं। इससे समाज के अन्य लोगों को भी दूध मिल जाता है। लोग कहते हैं कि उन्होंने बड़े धर्म का काम किया है। पर हमारा यहां मत-भेद है। यद्यपि कोई ऐसा काम करता है तो हम रुकावट नहीं डालते, क्योंकि ऐसा करना तो उल्टे हिंसा है। पर जहां सही तत्त्व बताने का प्रसंग सामने आएगा, वहां पर हम स्पष्ट कहेंगे कि यह समाज की व्यवस्था है या धर्म। बहुत-से लोग गौशाला के दूध का पैसा भी लेते हैं। तब तो धर्म पैसों से बिकने लगेगा! पर यह होता नहीं। अतः हमें समाज की आवश्यकता पर धर्म का आवरण नहीं डालना चाहिए, हर बात स्पष्ट रखना आवश्यक है।

अपनी सामाजिक अपेक्षाओं की संपूर्ति के लिए मनुष्य अनेक कार्य करता है। यदि वह उन्हें अपना कर्तव्य समझ कर करेगा तो उससे दूसरों को भी कर्तव्य-पालन की शिक्षा मिलेगी। लेकिन उन्हें धर्म का जामा पहनाने से तो दो हानियां होंगी। एक तो लोगों को मीठे के नाम से झूठा खाना पड़ेगा और दूसरे उन्हें लौकिक प्रवृत्तियों को भी धर्म मानना पड़ेगा। आज कई जगह अनेक लौकिक प्रवृत्तियां धर्म के नाम से पुकारी जाती हैं। पर आनेवाले युग की समाज-व्यवस्था में यह स्थिति टिकनेवाली नहीं है। वहां उन्हें व्यवस्था ही माना जाएगा और उस व्यवस्था का पालन करना प्रत्येक नागरिक का कर्तव्य होगा।

आत्मिक धर्म : लौकिक धर्म

किंतु एक बात है। यदि किसी को धर्म से ही ज्यादा प्रेम है तो हमें इसका विरोध क्यों करना चाहिए? हां, यदि सामाजिक प्रवृत्तियों को धर्म कहा जाए तो उसे आत्म-धर्म में नहीं मिलाना चाहिए; बाकी चाहे कोई भी शब्द का व्यवहार क्यों न किया जाए। हमें शब्दों की मारामारी में नहीं पड़ना चाहिए। हम इसे कर्तव्य कहते हैं और कुछ लोग इसे धर्म कहते हैं। शब्द-प्रयोग के लिए विवाद अच्छा नहीं। एक दृष्टि से हम भी इसे लोक-धर्म कह सकते हैं, क्योंकि धर्म की परिभाषा करते हुए कहा गया है **ह्रधारणात् धर्ममित्याहुः धर्मो धारयते प्रजाः** ह्रधारणा करने से धर्म शब्द धर्म कहलाता है। जो आत्मा को धारणक्षरक्षित करे, वह आत्मधर्म और जो लोक को धारण करे, वह लौकिक धर्म। इस परिभाषा के

अनुसार रीति-रिवाजों की पूर्ति के लिए जो लौकिक विधियां अपनाई जाती हैं, उन्हें लौकिक धर्म कहने में मैं कोई आपत्ति नहीं। हमारा विरोध सिर्फ इतना ही है कि उसे आत्म-धर्म न कहा जाए।

जरूरी है तत्त्व की स्पष्टता

एक चिंतन आता है, यदि हम इन्हें धर्म नहीं कहेंगे तो लोग ये काम करेंगे नहीं। पर मैं कहूंगा कि लोग करते हैं या नहीं करते, इस आधार पर धर्म की व्याख्या नहीं बदलती। यदि तत्त्वतः देखें तो धर्म का लक्षण ही निवृत्ति है। एक व्यक्ति दीक्षा लेता है। दीक्षा लेना निश्चित रूप में धर्म है। दीक्षित होनेवाला लौकिक प्रवृत्तियों से हटता है और आध्यात्मिक प्रवृत्तियों में प्रवेश करता है। यदि लौकिक प्रवृत्तियां धर्म होतीं तो वह उनसे विमुख क्यों होता? साधु की बात जाने दें। प्रतिमाधारी श्रावक भी तो लौकिक प्रवृत्तियों में भाग नहीं लेता। क्यों? यह इसलिए कि कर्तव्य से धर्म का स्थान बहुत ऊंचा है। वैसे हम इन कार्यों की सीधी मनाही तो करते ही नहीं हैं। हम तो कहते हैं कि वस्तुस्थिति यह है। फिर कोई व्यक्ति जैसा करता है, वह उसकी अपनी इच्छा पर निर्भर है। जहां विवेचन चलता है, वहां तत्त्व को स्पष्ट रूप में रखना ही चाहिए। यदि ऐसा नहीं होगा तो फिर विवेचन गलत हो जाएगा। अलबत्ता इसमें मैं किसी धर्म-विशेष की मान्यता का खंडन नहीं कर रहा हूं। मेरा काम है अपनी मान्यता स्पष्ट करना।

विवेक अपेक्षित है

हां, इसमें एक बात और ध्यान में रखने की है। वह यह कि जो भी कार्य किया जाए, उसमें विवेक जाग्रत रहे। कुछ लोग इस प्रकार की वृत्ति के होते हैं कि वे कई प्रकार के लौकिक कार्य करना नहीं चाहते, पर सीधी मनाही भी नहीं करते। बस, पाप बता देते हैं। उदाहरणार्थ, किसी के घर में पानी के पांच मटके भरे पड़े हैं। लेकिन जब कोई राहगीर उससे पीने के लिए पानी मांगता है, तब वह यह कह देता है कि मैं तो पानी नहीं पिलाऊंगा, क्योंकि पानी पिलाने में भी हिंसा होती है। अब समझने की बात यह है कि वास्तव में उसे पाप का डर नहीं है। मात्र कंजूसी को छिपाने का बहाना है। यदि वास्तव में ही उसे पाप का डर है तो उसे पानी इकट्ठा ही नहीं करना चाहिए था। पर उसका संचय करते समय वह धर्म-अधर्म की बात नहीं सोचता और दूसरे को पिलाने का

प्रसंग उपस्थित होने पर झट धर्म-पाप की बात आगे ले आता है। यह व्यक्ति की अपनी और साथ-ही-साथ धर्म की विडंबना है। अतः जो बात जैसी है, उसे उसी रूप में समझ लेना अत्यंत आवश्यक है। आवश्यकतावश कोई कार्य करना पड़ता है, यह बात दूसरी है। व्यक्ति पानी पीता है और रोटी भी खाता है। यद्यपि अपनी-अपनी जगह दोनों ही आवश्यक हैं, तथापि उनका विभेद समझना अपेक्षित है।

यहां एक बात और समझ लेने की है कि सामाजिक भूमिका में रहता हुआ व्यक्ति यदि पाप होने के बहाने अपने आवश्यक कर्तव्यों को नहीं निभाता है तो वह और भी बड़ा पाप करता है। शास्त्रीय दृष्टि से अपने आश्रित प्राणियों के खान-पान का विच्छेद करना, अहिंसा अणुव्रत का अतिचार है। व्यक्ति गाय का दूध तो निकाल ले और उसे चारा न डाले, यह कैसा न्याय! पशुओं को अपने आश्रित तो रखे, पर उनकी देख-भाल न करे, यह अन्याय नहीं तो और क्या है? लौकिक धर्म में तो ये सब कार्य करने ही पड़ते हैं। अध्यात्म-साधना में कोई किसी को आश्रित नहीं रख सकता, फिर उसके भरण-पोषण का प्रश्न ही कहाँ रहा? साधु बनने के बाद माता, पिता, बहिन, भाई आदि में से कोई भी उसके आश्रित नहीं रहता। अतः आश्रित की रक्षा करना आत्म-धर्म नहीं, लोकधर्म है।

धर्म या सत्त्वों की ओट में चल रहे अधर्म और गलत तत्त्वों की थोड़ी-सी चर्चा मैंने की। ओट में खोट चलाना अच्छी बात नहीं है। संसार में सभी प्रकार के तत्व सदा से रह हैं, भविष्य में रहेंगे। पर यह कोई कठिनाई की बात नहीं है। हम अपनी हंस-मनीषा से काम लें। यानी दूध का दूध और पानी का पानी। दूध के नाम पर पानी न पिएं।

८४ : आदर्श विचार-पद्धति

अपने पथ पर अग्रसर होते वक्त प्रायः धार्मिक व्यक्ति के सामने बाधाएं सामने आती ही हैं। भगवान महावीर को अपने साधना-काल में कितने मरणतुल्य कष्ट सहन करने पड़े थे! जगह-जगह उनका तिरस्कार हुआ था, पर वे साधक थे। सब-कुछ समभाव से सहन कर गए। तेरापंथ के आद्य प्रवर्तक आचार्य भिक्षु स्वामी को भी अपने जीवन में क्या कम कष्ट हुए थे? और तो क्या, पांच वर्षों तक तो उन्हें पूरा आहार-पानी भी नहीं मिला था। अपने संस्मरण सुनाते हुए उन्होंने कहा है कि 'उस काल में हमें कभी एक समय भोजन मिल जाता तो दूसरे समय नहीं मिलता। कभी दूसरे समय मिल जाता तो तीसरे समय नहीं मिलता। इस प्रकार पांच वर्षों तक तो हमने लगातार भर-पेट रोटी भी नहीं खाई।' आप जरा सोचें कि इससे बढ़कर और क्या कष्ट होगा। एक बार उनसे प्रश्न किया गया कि 'स्वामी जी! क्या आप को भिक्षा में कभी घृत भी मिलता है?' स्वामी जी ने कहा कि 'हां, पाली (एक शहर) के बाजार में बिकता हुआ तो बहुत देखता हूं।' इसी प्रकार कपड़े और मकान की समस्याएं उनके सामने मुंह बाए खड़ी रहती थीं। कभी वे किसी मकान में ठहर जाते तो विरोधी लोग मकानमालिक को समाज का भय दिखाकर या अन्य किसी प्रकार से उन्हें उस स्थान से निकलवा दिया करते थे।

पाली की घटना

एक बार वे पाली शहर में चातुर्मास करने के लिए पहुंचे। काफी गवेषणा करने पर उन्हें एक दुकान चतुर्मास-प्रवास के लिए मिल गई। विरोधी लोगों को इस बात की खबर लगी। उन्हें यह नहीं सुहाया। जाकर दुकान-मालिक की पत्नी को उन्होंने बहकाया कि 'तुमने किसको अपनी दुकान दे दी! अभी-की-अभी खाली करवा लो, अन्यथा चतुर्मास शुरू हो जाने के बाद तो चार महीने वे खाली नहीं करेंगे।' दुकान-

मालिक की पत्नी सचमुच बहक गई। तत्काल स्वामीजी के पास गई और बोलीहूँ 'दुकान खाली करो, मेरी इसमें रहने की आज्ञा नहीं।' आचार्य भिक्षु ने समझाने का प्रयत्न कियाहूँ 'तुम चिंतित क्यों हो रही हो? चतुर्मास-काल में भी तुम जब कहोगी, तब दुकान खाली कर देंगे। बिना आज्ञा रहना हमें कल्पता ही कहां है?' बहिन बोलीहूँ 'नहीं, तुम सरीखे ही मुझे कह गए हैं कि चातुर्मास लगने के पश्चात चार महीने दुकान खाली नहीं करेंगे। इसलिए मेरी बिलकुल आज्ञा नहीं। बस, दुकान खाली कर दो।' दुकान-मालिक की आज्ञा नहीं तो स्वामीजी क्या करते! उन्होंने दूसरे स्थान को खोज की और वहां पर चले गए। पर प्रकृति का कैसा विचित्र योग! उस साल चातुर्मास में वर्षा बहुत हुई। उसके योग से पहलेवाली दुकान का शहतीर टूट गया और छत गिर पड़ी। सैकड़ों मन मलवा नीचे गिर पड़ा। सारे शहर में हल्ला हो गया। लोगों ने कहाहूँ 'दुकानमालिक की पत्नी ने स्वामी जी को यहां से निकाल दिया, उसका ही यह परिणाम है।' पर स्वामीजी बिलकुल शांत रहे, बल्कि अपनी गुणग्राहकता दिखाते हुए बोलेहूँ 'हालांकि छद्मस्थता के कारण दुकान खाली करवानेवालों के प्रति अन्यथा भाव आना कोई अस्वाभाविक बात नहीं है, किंतु वैसे उन्होंने हमारा उपकार ही किया है। यदि आज हम वहां होते तो.....' इस प्रकार की न जाने कितनी घटनाएं हैं, जो उनके जीवन की कठिनाइयों के दर्शन करवाती हैं। ये घटनाएं आज भी तेरापंथ-साहित्य में सुरक्षित हैं।

श्रद्धा का आधार

हम स्वामीजी के प्रति श्रद्धा केवल इसलिए नहीं करते हैं कि वे हमारे गुरु थे। वे हमारे गुरु तो थे ही, पर उन पर हमारी श्रद्धा का कारण हैहूँउनकी आदर्श विचार-पद्धति। अतः उनके अनुयायियों के लिए यह जरूरी है कि वे उनके सिद्धांतों का तलस्पर्शी अध्ययन करें। केवल परंपरा से श्रद्धा करने पर कभी-कभी वह श्रद्धा अश्रद्धा में भी परिणत हो जाती है, क्योंकि जब तक परंपरा में श्रद्धा है, तब तक तो उनके प्रति भी श्रद्धा रहेगी और जब परंपरा में श्रद्धा नहीं रहेगी, तब उनके प्रति भी अश्रद्धा होते देर नहीं रही लगेगी। जो धार्मिक केवल परंपरा पर ही चलते हैं, वे नीर-क्षीर का विवेक नहीं कर सकते। यद्यपि परंपरा सत्य है, पर चलनेवालों को अपनी आंखें खोलकर ही चलना चाहिए। **तातस्य**

कूपोऽयमिति ब्रुवाणा क्षारं जलं कापुरुषाः पिबन्ति। यानी अपने बाप का कुआं है, इसी लिए उसका कड़वा पानी भी कापुरुष पीते हैं। अतः जो परंपराएं अच्छी नहीं हैं, उनसे चिपटे रहना बिलकुल आवश्यक नहीं। उनके बारे में सोचना, विचारना यह प्रत्येक बुद्धिशील प्राणी का कर्तव्य है। जो श्रद्धा विवेकपूर्वक होगी, वह दूसरे पांच और आदमियों को भी समझाई जा सकती है। पर जो केवल पारंपरिक है, वह मूक है, उससे दूसरों को कोई विशेष लाभ नहीं हो सकता।

हमारा सौभाग्य

हालांकि आचार्य भिक्षु एक दृढ़संकल्पी व्यक्ति थे, तथापि उनकी जीवन-गाथा पढ़ने से ऐसा मालूम होता है कि उनकी बात को जन-समर्थन न मिलने के कारण उन्हें भी एक बार निराशा आ गई थी। उनके मन में चिंतन आया कि इतना प्रयास करने बाद भी जब जनता मेरे विचार समझ नहीं रही है तो मुझे अपना कल्याण करना चाहिए। इस चिंतन के साथ उन्होंने कड़ी तपस्या आरंभ कर दी थी। वे दोपहर की कड़कड़ाती धूप में जंगल में जाते और वहां नदी की तप्त बालुका पर सो जाते। थोड़ी देर में पसीने से जब वह ठंडी हो जाती तो वहां से उठकर दूसरी जगह पर सो जाते। इस प्रकार कठिन तपस्या के द्वारा उन्होंने अपने-आपको तपा लिया। तपाए बिना शरीर में तेज कब आ पाता है? पर बाद में जब उन्होंने यह जाना कि लोग मुझे कुछ-कुछ सुनने लगे हैं तो उन्होंने फिर अपने विचार प्रकट करने शुरू किए। यद्यपि उनके लिए दोनों ही मार्ग साधना के योग्य थे, पर यह तो हमारा सौभाग्य है कि हमें उनका मार्ग-दर्शन मिला। वे यदि तपस्या के द्वारा अपना काम सिद्ध कर जाते तो हमें तेरापंथ के रूप में आज जो अनोखा तत्त्व मिला, वह कैसे मिलता?

मिश्रधर्म नहीं होता

स्वामी जी से हमें जो तत्त्व मिला, वह वास्तव में ही अद्वितीय है। आज प्रायः सारा संसार धर्म और अधर्म को एक साथ मिला रहा है। एक ही क्रिया में धर्म और अधर्म दोनों मानना, यही तो मिश्र-धर्म है। अल्प पाप और बहु निर्जरा का सिद्धांत भी इसी भूमिका से निकलता है। अतः उन्होंने कहाहूँ 'गेहूं और कंकड़ अलग-अलग ही उपयोगी हैं। उन्हें मिलाओ मत।' उदाहरण के लिए एक जैन-साधु उसके लिए बनाया हुआ

भोजन ग्रहण नहीं कर सकता। पर यदि किसी गृहस्थ ने मोह या प्रमादवश उसके लिए आहार बना दिया और साधु उसे ग्रहण कर लेता है तो उसमें क्या हुआ? कुछ लोग कहेंगे कि अल्प पाप और बहु निर्जरा होगी, क्योंकि भोजन बनाने में जो थोड़ी हिंसा हुई, वह तो अल्प पाप हो गया, पर वह भोजन करने के बाद वह साधु जो धर्म के बड़े-बड़े काम करेगा, वे बहुत निर्जरा के कारण हो जाएंगे। अतः उसमें थोड़ी हिंसा हो गई तो हो गई, पर उससे आगे बहुत बड़ा लाभ होगा। इससे अल्प पाप और बहु निर्जरा या मिश्रधर्म का सिद्धांत प्रतिफलित होता है। पर स्वामी जी ने अपने साहित्य में इस बात का बड़ी युक्तिपूर्वक खंडन किया है। एक जगह उन्होंने कहा है

- बाजर केरे बूट में, बूट बूट में बूट।
ज्युं मिश्र प्ररूपे तिणरी बात में, झूठ झूठ में झूठ॥
- सांभर केरे सींग में, सींग सींग में सींग।
ज्युं मिश्र प्ररूपे तिणरी बात में, धींग धींग में धींग॥

एक उच्च कोटि के दार्शनिक होने के साथ-साथ वे एक बहुत बड़े व्यावहारिक कवि भी थे। नहीं तो उनकी कविता में इतना सौंदर्य नहीं आ पाता। व्यावहारिक जगत का एक और स्थूल उदाहरण देते हुए उन्होंने यही बात निम्नोक्त पद्य में कही है

बांवल वाय बाजे जणा, उड़े धूड़ धूड़ में धूड़।
मिश्र प्ररूपे तिणरी बात में, उठे कूड़ कूड़ में कूड़॥

हिंसा किसी स्थिति में धर्म नहीं

दूसरी बात स्वामी जी ने हमें यह बताई कि हिंसा में धर्म नहीं होता। चाहे कितना ही बड़ा काम क्यों न हो, अगर उसमें हिंसा होती हो तो वह धर्म नहीं हो सकता। हिंसा से कदाचित किसी की रक्षा हो सकती है, पर हिंसा को हिंसा तो मानना ही पड़ेगा। यह दूसरी बात है कि दुनिया में रहनेवालों को उसे करनी पड़ती है, पर जो कुछ करना पड़ता है, उसे अहिंसा मानना, यह तो जरूरी नहीं है। अतः हिंसा और अहिंसाहृये दोनों भिन्न-भिन्न तत्त्व हैं। इनका आपस में कभी मेल नहीं हो सकता। जहां हिंसा है, वहां अहिंसा नहीं हो सकती।

धर्म सार्वजन्य है

स्वामी जी ने हमें एक बात यह भी बताई कि धर्म किसी व्यक्ति,

जाति, देश या समाज का नहीं होता। वह तो सभी का है और उसी का है, जो उसका अपने जीवन में आचरण करता है। जैन, अजैन, हरिजन, महाजन, हिंदू, मुस्लिम कोई भी यदि सन्मार्ग पर चलता है तो वह धर्म ही है। धर्म के राज्य में कोई चपरास नहीं होती कि जिसे धारण करने पर मनुष्य वहां प्रवेश पाने का अधिकार पा सके। अतः धर्म का तत्त्व लिंग, जाति आदि बाह्य सीमाओं से परे मनुष्य की आंतरिक शुद्धि पर निर्भर है। धर्म की यह व्याख्या सचमुच ही हमें स्वामी जी की एक बहुत ही महत्वपूर्ण देन है।

विलक्षण संघ-संगठनकार

इन दार्शनिक दृष्टियों के सिवाय संघ-संगठन के विषय में भी स्वामी जी ने हमें एक अनुपम दृष्टि दी है। आज दुनिया जिस संगठन के लिए हैरान है, वह संगठन हमें विरासत में मिला, यह स्वामी जी की दूरदर्शिता का ही परिणाम है। तेरापंथ की सैद्धांतिक मान्यताओं के संदर्भ में चाहे किसी का कितना ही मतभेद क्यों न हो, पर संगठन के बारे में तो हर-एक को उनका लोहा मानना ही पड़ेगा।

तेरापंथ का द्विशताब्दी महोत्सव : हमारा कर्तव्य

सामने ही तेरापंथ द्विशताब्दी महोत्सव का प्रसंग आ रहा है। द्विशताब्दी महोत्सव मानने का अवसर बहुत ही कम लोगों को मिलता है, क्योंकि उसके पीछे एक शृंखलित समाज की आवश्यकता होती है। कुछ विशेष व्यक्तियों के पीछे समाज रहता भी है तो वे प्रायः अपने जीवन-काल में ही पूज्य रहते हैं। अपने निर्वाण के बाद ऐसा अवसर बहुत कम लोगों को मिलता है। अतः द्विशताब्दी के इस पुण्य अवसर पर भी उनके अनुयायियों का यह विशेष कर्तव्य हो जाता है कि वे स्वयं उनके साहित्य का सूक्ष्म दृष्टि से अध्ययन करें, दूसरों को उसे पढ़ने की प्रेरणा दें तथा उसे जन-साधारण के सामने प्रस्तुत करें। बहुत-से लोग अपने पूर्वजों के स्मारक ईंटों व पत्थरों से बनवाते हैं। पर वास्तव में तो यदि कोई सच्चा स्मारक हो सकता है तो वह यही कि वे स्वयं अपने पूर्वजों के आदर्शों को अपने जीवन में उतारें और दूसरे लोगों को भी यही प्रेरणा दें। अब प्रश्न है कि स्वामीजी के साहित्य के अध्ययन एवं उसके प्रचार-प्रसार का काम किसका है। इसका उत्तर यह है कि यह बड़े और छोटे-हसबका है। जो भी व्यक्ति उन्हें अपना आदर्श मानता है,

उसका यह परम कर्तव्य है। अतः द्विशताब्दी महोत्सव के इस पुण्य अवसर पर आप स्वयं उनके साहित्य का पारायण करने के साथ-साथ दूसरों को भी उससे परिचित कराएं।

संघर्ष ही जीवन है

आचार्य भिक्षु के जीवन में संघर्षों की भरमार रही। न जाने संघर्षों की कितनी दुर्गम घाटियां पारकर वे अपनी मंजिल तक पहुंचे थे। संघर्ष भी दोनों प्रकार के थे—बहिरंग और अंतरंग। यह बात हमें इस तथ्य की ओर भी संकेत करती है कि संघर्ष ही जीवन है। बिना संघर्ष के जीवन में चमक नहीं आ सकती। दियासलाई और पेटी दोनों होती हैं, पर जब तक उनमें आपस में संघर्ष नहीं हो जाता, आग नहीं निकलती। वे तो महामानव थे। अतः उन्हें इतने कष्ट सहने पड़े, इसमें क्या आश्चर्य की बात है? जो व्यक्ति छोटा-सा भी व्रत अपनाता है, उसे भी संघर्ष के लिए तैयार रहना होता है।

अणुव्रती आदर्श उपस्थित करें

अणुव्रती भी केवल व्रत ले लें, इतने मात्र से काम चलनेवाला नहीं है। उन्हें अणुव्रतों को विकसित करने के लिए संघर्षों से खेलना पड़ेगा। आज आवश्यकता है—सांसारिक लोगों के पथ-प्रदर्शन की। महाव्रती तो अपना काम करते ही हैं, पर यह काम है अणुव्रतियों का। वे लोग अपने जीवन से आम लोगों के सामने आदर्श प्रस्तुत करें, ताकि अणुव्रतों के प्रति उनका आकर्षण बढ़े। यदि वे लोग अपनी अच्छाइयों से दूसरों पर प्रभाव नहीं डाल सके तो उनकी बुराइयों का असर भी समाज पर पड़े बिना नहीं रहेगा। अतः यदि आज धर्म का स्वरूप प्रत्यक्ष दिखाना है तो अणुव्रतियों को अपना जीवन तपाना होगा। यह एक तथ्य है कि जो कोई कष्ट सहकर अच्छा काम करेगा, जनता उसका आदर करेगी और उससे प्रेरणा भी पाएगी। बिना काम और त्याग किए कोई दूसरे को कुछ कहेगा तो उसकी बात कोई सुनना भी नहीं चाहेगा। अतः जितने भी अणुव्रती हैं, वे अपने घर, परिवार तथा समाज पर अपने आचरण का असर डालें। यद्यपि यह बात कहने का अधिकार तो सबको ही है, पर जो अणुव्रती हैं, उन पर इस बात का स्वयं ही एक विशेष उत्तरदायित्व आ जाता है। यदि वे भी समाज को आलोकित राह नहीं दिखाएंगे तो और तो दिखानेवाला है ही कौन? महाव्रती तो संघर्षों में पलते ही हैं, पर अब अणुव्रतियों को

भी इसके लिए तैयार हो जाना चाहिए। यह संघर्ष कोई लड़ाई-झगड़ा नहीं है, पर अपने पर आनेवाली विकृतियों के साथ संघर्ष है। अतः प्रत्येक अणुव्रती, चाहे वह भाई हो या बहन, अपनी कमर कसकर समाज को राह दिखाने के लिए तैयार रहे, संघर्ष झेलकर भी तैयार रहे। इससे उसका जीवन चमकेगा। धार्मिक की पूजा होती है, इसका भी तो यही कारण है कि वह अनेक प्रकार के संघर्ष सहन करता है।

८५ : श्रद्धाशीलता : एक वरदान

आयारो में कहा गया हैह

जाए सद्धाए निक्खंतो तमेव अणुपालिया। विजहित्तु विसोत्तियं।

ह जिस श्रद्धा से तू निकल पड़ा है, आशंकाएं छोड़कर उसी श्रद्धा से संयम का पालन कर।

ये छोटे-छोटे वाक्य हैं। भगवद्वाणी में शब्द थोड़े होते हैं, सार ज्यादा होता है। यही इसकी विशेषता है। सूत्र का अर्थ ही यही होता है। **सूत्रयति अल्पाक्षरैः बृहत् अर्थान्हइति सूत्रम्।** अर्थात् जो थोड़े शब्दों में बहुत बड़ा अर्थ बांध लेता है, वह सूत्र है।

युग तर्क का है। युग अश्रद्धा का है। पर भगवान ने कहा कि श्रद्धा रखो। भगवान की वाणी श्रद्धा का संदेश देती है। प्रश्न है कि व्यक्ति किस पर चले। इसका उत्तर है कि श्रद्धा पर चले। पर तर्क भी साथ रखे। जहां तक साथ चले, उसे चलाए। साथ न चले तो उसे छोड़ दे। श्रद्धा के बिना जीवन एक पैर भी नहीं चल सकता।

ग्रहण : विसर्जन : संरक्षण

विभिन्नाः पन्थानःहपथ बहुत हैं। पथ-पथ में पगडंडियां भी बहुत हैं। दृष्टियां बहुत हैं और उनके उन्नेताहनिदेशक भी बहुत हैं। चारों तरफ लुभावने प्रलोभन हैं। उनमें लुब्ध बन गए तो पथ-भ्रष्ट होने का खतरा पैदा हो जाएगा। यदि सही मार्ग नहीं लिया तो लक्ष्य को खतरा है। अतः यह आवश्यक है कि हमारे कान खुले रहें, हमारी आंखें खुली रहें और जो शुद्ध चीज सामने आए, हम उसे ग्रहण करते जाएं। इसी प्रकार जो अशुद्ध चीज सामने आए, उसे छोड़ते जाएं। हम चेतन हैं। अतः हममें इतना विवेक अवश्य होना चाहिए। हमारा शरीर अचेतनहजड़ है। उसके सामने भी कितनी चीजें आती हैं, हम उसमें कितनी चीजें डालते हैं, पर

हम जितना खाते हैं, अगर सारा-का-सारा अंदर रह जाए तो कितनी बड़ी मुश्किल हो जाए! जितना खाते हैं, उसमें से थोड़ा अंदर रहता है, ज्यादा निकल जाता है। ग्रहण, विसर्जन और संरक्षणहृये तीन अवस्थाएं हैं। जितना ग्रहण करके रखना है, उसकी सुरक्षा भी कर सकें, इतना विवेक हममें होना चाहिए। यह है, तभी ठीक है, अन्यथा ग्रहण करने से भी कोई फायदा नहीं। यदि हजम करने की ताकत नहीं है तो खाने से क्या फायदा? उलटे नुकसान हो जाता है। अतः वही और उतना खाना ही हितकर होता है, जिसे पचाया जा सके, जितना पचाया जा सके। शेष का उत्सर्जन कर देना ही श्रेयस्कर है।

वही बुद्धिमान है

व्यक्ति में यदि इतना ही विवेक नहीं है तो उसका मंदिर की ध्वजा से कोई अधिक मूल्य नहीं है। जब तक हवा नहीं चलती, वह स्थिर रहती है। हवा चली कि डोलने लग जाती है। इधर की हवा चली तो इधर डोलने लगती है और उधर की हवा चली तो उधर डोलने लगती है। कुछ मनुष्यों की भी यही स्थिति होती है। मैं नहीं समझता, उनमें क्या मनुष्यत्व है। इसी लिए शास्त्रों में कहा हैहृश्रद्धाशील रहो। बुद्धिमान वह है, जो सत्य-श्रद्धा की आराधना करता है।

श्रद्धा किसके प्रति

बहुत-से लोग पूछते हैं कि श्रद्धा किसके प्रति रखनी चाहिए। श्रद्धा रखनी चाहिएहृआदर्शों के प्रति, श्रद्धेयों के प्रति और अपने-आपके प्रति। आदर्शों के प्रति श्रद्धा रखने का मतलब हैहृहृजो आदर्श हमने स्वीकार किए हैं, उनके प्रति हमारी अटूट श्रद्धा होनी चाहिए। उदाहरण के लिएहृअहिंसा हमारा सर्वोच्च आदर्श है। इसलिए उसके प्रति हमारी श्रद्धा है, अटूट आस्था है। जब हम उसे अपना आदर्श मान लेते हैं तो यह आवश्यक है कि हिंसा का आडंबर देखकर हमारी श्रद्धा किंचित भी डगमगाएं नहीं, कहीं हिंसा को फलित होते देखकर हम अपनी अहिंसा-निष्ठा न खोएं।

इसी प्रकार ब्रह्मचर्य में हमारी निष्ठा है, पर व्यभिचारियों को भोगों में आनंद मनाते देखकर हमारे मन में विषाद न आ जाए कि हमने तो जीवन व्यर्थ ही खो दिया। ब्रह्मचर्य हमारा सर्वस्व है। हमें उसकी रक्षा करनी है और जी-जान से रक्षा करनी है। वेश्या के हाथ में सोने का

कंगन देखकर क्या आर्य कुल की स्त्रियां उस जीवन के प्रति आकर्षित हो सकती हैं? भले वे कितनी ही तकलीफें क्यों न सहन कर लें, पर उस तरफ आंख उठाकर भी नहीं देख सकतीं। आज आदर्श के प्रति श्रद्धा नहीं रही है। थोड़ी-सी कठिनाई में लोग आदर्श से फिसल जाते हैं। थोड़ी-सी आर्थिक परेशानी में बहुत-सी बहनें अपना शील बेच देती हैं। यह ब्रह्मचर्य के प्रति अश्रद्धा का ही फल है।

यदि आपकी सत्य पर श्रद्धा है तो दूसरे भले झूठ से कितने ही रुपए क्यों न कमा लें, आपको तो सत्य पर ही डटकर रहना है। यह चिंतन भी कि अमुक आदमी ने झूठ से इतने रुपए कमा लिए, मैं सत्य-सत्य करता यों ही रह गया, बहुत गहरे में सत्य के प्रति अश्रद्धा का ही परिणाम है। सत्य में श्रद्धा रखनेवाला आदमी रुपए नहीं देखेगा, अपना आचरण देखेगा। मैं मानता हूँ, कभी-कभी ऐसी स्थिति भी आ जाती है, जब मनुष्य सत्य पर स्थिर नहीं रह पाता। पर ऐसी स्थिति में भी सत्य-श्रद्धालु व्यक्ति के मन में एक प्रकार की ग्लानि होती रहेगी कि मैंने यह गलत काम कर लिया है। जब तक मैं उसे सुधार नहीं लूँ, तब तक मेरा जीवन जीवन नहीं है। उस गलती का प्रायश्चित्त लेकर ही उसकी आत्मा हलकी हो सकती है। मैं अनेक बार कहा करता हूँ कि आदमी चलता-चलता स्खलना कर बैठे, यह कोई अच्छी बात नहीं है। पर इससे भी बुरी बात है श्रद्धा से फिसल जाना। असावधानता के कारण चलते हुए गड़ढ़े में गिर जाना असंभव नहीं, पर जो गड़ढ़े को गड़ढ़ा मानता है, वह उससे निकलने का प्रयत्न करेगा और संभव है कभी निकल भी जाए। पर जो व्यक्ति गड़ढ़े को ही सड़क मानता है, वह उससे बाहर कैसे निकलेगा? यहां समझने की बात यह है कि गड़ढ़े में गिर जाना उतनी बुरी बात नहीं, जितनी बुरी बात उसे सड़क मान लेना है।

जीवन का वरदान

बहुत-सी बहनें आपस में लड़ लेती हैं। लड़ती किसी से हैं और हाथ की खुजली मिटाती हैं, रोब निकालती हैं अपने अबोध बच्चों पर प्रहार करके। यह क्यों होता है? जीवन की कमजोरी से, आदतों की लाचारी से उनके संस्कार ही कुछ ऐसे बन जाते हैं कि वे समझकर भी इसे छोड़ नहीं पातीं। पर उनकी श्रद्धा तो यही रहनी चाहिए कि अच्छी महिला वही है, जो कलह नहीं करती, बच्चों को नहीं पीटती। जिस घर

में कलह रहता है, वहां दारिद्र्य निवास करता है। जिस घर में मेल-जोल है, वहां संपत्ति निवास करती है। ऐसा समझनेवाली महिला कभी वापस स्थान पर भी आ सकती है, क्योंकि उसकी श्रद्धा सम्यक है। इसी लिए मैं श्रद्धा पर जोर देता हूं। यद्यपि मैं यह मानता हूं कि सभी मनुष्य श्रद्धाशील नहीं बन सकते, तथापि मैं कहूंगा यही कि सबको श्रद्धाशील बनना चाहिए, श्रद्धाशीलता जीवन का वरदान है।

८६ : तीन बहुमूल्य बातें

विद्यार्थी जीवन की स्मृतियां

जब मैं विद्यार्थियों को देखता हूँ तो मुझे अपना विद्यार्थी-जीवन याद आ जाता है। बचपन में मैं भी आप की ही तरह स्कूल में पढ़ता था। वह स्कूल एक गुरु की व्यक्तिगत पाठशाला थी। उसमें कक्षाओं से हिसाब से शिक्षा नहीं मिलती थी। सप्ताह में एक बार हमें उपदेश मिला करता था। मुझे याद है, तब विद्यार्थी बड़े शांत और श्रद्धाशील हुआ करते थे। मैं भी उनमें से एक था। हमारा ध्यान यही रहता था कि अध्यापक हमारे से अप्रसन्न न हो जाएं। स्कूल पर ही नहीं, घर पर भी हमें यह ख्याल रहता था कि हमारे अध्यापक हमें कहीं बदमाशी करते देख न लें। उन दिनों हमें पंद्रह दिनों में केवल एक दिन छुट्टी मिला करती थी और उसमें भी हम कुछ लड़के मिलकर अन्य विद्यार्थियों के घर पर जाते थे और यह निगरानी करते थे कि वे कहीं बदमाशी तो नहीं करते हैं। हम उनका गृह-जीवन देखते थे और फिर उसकी रिपोर्ट अध्यापक को दिया करते थे। स्कूल में भी हम प्रतिदिन प्रत्येक लड़के के अपराध लिखा करते थे और शाम के समय उसकी पूरी रिपोर्ट अध्यापक के सामने पेश करते थे। फिर उसी के हिसाब से अध्यापक लड़कों को दंड दिया करते थे। आज भी जब विद्यार्थियों को देखता हूँ तो ये सारी बातें याद हो आती हैं। इस अनुभूति से ही मुझे बड़ा आनंद मिलता है।

भारतवर्ष की स्थिति

वह समय दूसरा था, आज समय दूसरा है। आज भारतवर्ष आजाद है। उस समय वह गुलाम था। उस समय अच्छे और बुरे कामों की जिम्मेदारी अंग्रेजों पर डाल दी जाती थी। पर आज वह स्वयं भारतीयों पर है। अतः आज भी यदि वे उस जिम्मेदारी को उठाने के लायक नहीं बने तो जो स्वतंत्रता मिली है, उसे खतरा है। पुराने जमाने में शिक्षा

और चारित्र के बारे में भारतवर्ष की जो स्थिति थी, उसे देखने और ग्रहण करने के लिए विदेशों से लोग आया करते थे। पर खेद के साथ कहना पड़ता है, वैसी स्थिति आज नहीं है!

विद्यार्थियो! भारत को उस स्थिति में पुनः लाना होगा और उसके लिए तीन बहुमूल्य बातें आवश्यक होंगी। वे तीन बहुमूल्य बातें हैं—
१. श्रद्धा २. ज्ञान ३. चारित्र।

आस्तिकता जागे

आज श्रद्धा की सबसे ज्यादा कमजोरी है। ज्ञान तो आज बहुत विकसित हो गया है। पता नहीं, अतीत में वह कभी इतना विकसित था या नहीं। पर श्रद्धा उस गति से बढ़ रही है या नहीं, यह एक सोचने का विषय है। प्रश्न हो सकता है कि श्रद्धा किसके प्रति। इसका उत्तर है—श्रद्धा अपने-आपके प्रति। इसे ही दूसरे शब्दों में हम आस्तिकता कह सकते हैं। जब तक मनुष्य आत्मा के प्रति श्रद्धालु नहीं बनेगा, तब तक ज्ञान और विज्ञान पढ़ना भी उसके लिए वरदान नहीं, अभिशाप सिद्ध होगा। भारत के ऋषियों ने जो अन्वेषण किया, उस अन्वेषण में उन्होंने बम और उपग्रह नहीं पाए, बल्कि आत्मा, मोक्ष, परमात्मा पुनर्जन्म आदि तत्त्व पाए। उन्होंने कहा था कि आत्मा नहीं है, ऐसा मत सोचो। सोचो कि आत्मा है। आज के वैज्ञानिक शोध करते-करते हार गए हैं, पर वे अभी तक आत्मा को खोज नहीं पाए हैं। इसी लिए वे कहते हैं, बस, जीवन उतना ही है, जितना हम जीते हैं। अतः इस जीवन में खूब खाओ, पिओ और मौज उड़ाओ। पर आपको इन बातों पर गहराई से सोचना पड़ेगा। व्यवहार में भी हमें इतना वैषम्य दीखता है। इसका क्या कारण है, इस बारे में भी हमें सोचना पड़ेगा। ऐसा होने पर ही विद्या फल लाएगी।

ज्ञान प्रकाशकर है

दूसरी बात है ज्ञान। ज्ञान को हमारे यहां प्रकाशकर कहा गया है। उसके बिना जीवन में अंधेरा-ही-अंधेरा है। जिस प्रकार बाहरी अंधेरा मिटाने के लिए सूर्य है, उसी प्रकार आंतरिक अंधकारहअज्ञान मिटाने के लिए ज्ञान की आवश्यकता है। पर ज्ञान केवल रटन लगाने से या पुस्तक पढ़ लेने से नहीं आ जाता है। उसके लिए विनय की आवश्यकता होती है। वह विद्यार्थियों में होना चाहिए। तभी उनकी विद्या फलवती बनेगी।

अमूल्य निधि है चारित्र

तीसरी बात है चारित्र। एक दृष्टि से चारित्र जीवन की अमूल्य निधि हैं। जो व्यक्ति चारित्रसंपन्न होता है, मानना चाहिए, उसने सर्वसंपन्नता प्राप्त कर ली। व्यक्ति का सही मूल्यांकन उसके चारित्र के आधार पर ही होता है। चारित्र के बारे में आप बहुत-सी बातें जानते ही हैं। तब और मैं क्या बताऊं? हां, सार-संक्षेप में मैं आपको एक ही बात बता देता हूँ कि बुरा काम वही है, जिसे करने पर या करते समय छिपाने की आवश्यकता पड़े। आप कोई ऐसा काम न करें, जिसे छिपाने की आवश्यकता हो। यदि इतना हो गया तो मैं समझता हूँ, आप इस संपन्नता को प्राप्त होंगे।

देश आज जिन परिस्थितियों से होकर गुजर रहा है, उसमें चारित्रसंपन्नता की सर्वाधिक आवश्यकता है। इसके आधार पर राष्ट्र का सही रूप में निर्माण हो सकता है। विद्यार्थी किसी राष्ट्र के भावी कर्णधार होते हैं। उनका जीवन जितना अधिक चारित्रसंपन्न होगा, राष्ट्र का भविष्य उतना ही उज्ज्वल होगा।

८७ : जैन-संस्कृति

विचित्र अवधारणाएं

साधुओं को वंदना करने पर हमारे यहां 'जै' कहा जाता है। इसका लोग बड़ा गलत अर्थ लगा लेते हैं। कुछ लोग समझते हैं, महाराज हमें आशीर्वाद देते हैं और कहते हैं कि तुम्हारी जय हो। कई लोग 'जै' का अर्थ 'कल्याण' कर लेते हैं। कई लोग इसे आदरसूचक शब्दावली 'जी हां' से जोड़ लेते हैं और कहते हैं कि महाराज हमारी वंदना का सम्मान करते हैं। इसके बारे में एक अवधारणा तो और भी विचित्र है। कुछ लोग कहते हैं कि तेरापंथी साधु वंदना करने पर जै कहते हैं, इसका संदर्भ एक घटना के साथ जुड़ा हुआ है। तेरापंथ के आद्य प्रवर्तक भीखण जी स्वामी जब स्थानकवासी संप्रदाय से अलग हुए थे, तब उन्होंने अलग होकर एक यक्ष को वश में किया। उसका नाम था जीया या हाजी। तपस्या से वश में होकर जब वह प्रकट हुआ तो स्वामीजी ने कहा कि जीया भाई! मुझे तो पंथ चलाना है, सो कोई रास्ता बताओ। वह बोला कि महाराज! इसका और तो कोई रास्ता नहीं है; बस, एक ही रास्ता है और वह यह कि अपने पंथ-प्रचार में आप मेरा नाम आगे रखें। भीखणजी को तो पंथ चलाने की भूख थी, अतः उन्होंने यह स्वीकार कर लिया और इसलिए आज तक भी जब तेरापंथी साधुओं को वंदना की जाती है तो वे उसके नाम को आगे रखकर कहते हैं जै। या तो वे जै का उच्चारण कर देते हैं या उसे अपने मन में रख लेते हैं। यह है जै शब्द का इतिहास।'

यह सब मुखजबानी ही नहीं, पुस्तकों में भी छपा हुआ है। मैं समझता हूँ, कितना गलत अर्थ किया गया है इसका! भला यह भी कोई तथ्य है! अब मैं आपके सामने इसका सही अर्थ रखना चाहूंगा। आगमों में भगवान को वंदना करने पर उन्होंने छह शब्दों का प्रयोग किया है। उनमें एक शब्द उन्होंने कहा कि **जियमेवं देवाणुप्पिया**। अर्थात् हे

देवानुप्रिय! यह तुम्हारा 'जीत' है। हमारे यहां इसी 'जीत' शब्द का अनुकरण किया गया है। 'जीत' का प्राकृत में 'जीय' तो बनता ही है, थोड़ा अपभ्रंश होकर आज यही शब्द 'जै' रह गया है। जैसे 'नमुक्कार' के प्राकृत पद की संस्कृत छाया बनती है 'नमस्कार', पर आज यह अपभ्रंश में 'नोकार' हो गया है, वैसे ही 'जीय' शब्द का 'जै' अपभ्रंश हो गया है। पर जानकारी न होने के कारण आज उसके अनेक उलटे-सीधे अर्थ लगा लिए जाते हैं।

जैन लोग अपनी संस्कृति पहचानें

बहुत-से जैन लोग भी चलते ही कह देते हैं, मैं ईश्वर से आप का भला चाहता हूँ या आप पर भगवान की कृपा है। पर वे लोग यह नहीं जानते कि उनका यह कथन जैन-संस्कृति के विरुद्ध है। भला ईश्वर किसका बुरा चाहता है और किस पर अकृपा रखता है! वह तो समदर्शी है। यदि आपको दूसरों के प्रति शुभ कामना ही प्रकट करनी है तो आप उसे उसके अपने कर्तृत्व पर भी छोड़ सकते हैं। यानी आप यह भी तो कह सकते हैं कि मैं आपके प्रति शुभकामना करता हूँ... पर ऐसा न कहकर इसे ईश्वर से चाहना ईश्वर-कर्तृत्व की मान्यता की झलक देता है। इसमें यह ध्वनि है कि ईश्वर हमारा भला या बुरा करता है, जबकि जैन-संस्कृति के अनुसार अपना भला-बुरा करनेवाली अपनी आत्मा ही है।

लगता है, जैन लोग भी दूसरी-दूसरी संस्कृतियों के प्रवाह में बह गए हैं। एक क्या, ऐसी अनेक बातें देखी जा सकती हैं, जिन्हें जैन लोग तत्त्वतः स्वीकार नहीं करते, तथापि दूसरी संस्कृतियों के प्रवाह में बहते हुए वे उन्हें निभाते चले जा रहे हैं। मृतक की हड्डियां गंगा में बहाने से उसकी मुक्ति हो जाती है, ऐसा जैन-संस्कृति में कहीं नहीं माना गया है, फिर भी जाने क्यों, जैन लोग उसे पकड़े बहते जा रहे हैं। फिर महान आश्चर्य तो यह है कि यथार्थ समझने पर भी वे उसे छोड़ नहीं रहे हैं! मानो यह उनका सांस्कृतिक कार्य हो।

देव-पूजा : औचित्य की कसौटी पर

जैन-गृहस्थों को *आगमों* में जगह-जगह श्रमणोपासक कहा गया है। इसका मतलब है कि वे श्रमणों की उपासना करते हैं। हालांकि जैन-विधि से दूसरे देवताओं के पूजन का वर्णन भी सूत्रों में आता है, तथापि इतना स्पष्ट है कि श्रमणोपासक प्रायः अपने कुल-देव की ही पूजा किया करते

थे। किंतु आज तो जैन-उपासकों की भी ऐसी विधि हो गई है कि शायद वे संसार के किसी देवता को बिना पूजे नहीं छोड़ते होंगे। जहां-कहीं भी सिंदूर लगा पत्थर दीख जाएगा, वे झट जूते खोलकर हाथ जोड़कर सिर झुकाकर वहीं उसे वंदन करेंगे। साधुओं के पास आने पर तो शायद अपने जूते भी नहीं उतारते होंगे अथवा उन्हें अपने पास रखकर बैठते होंगे।

थोड़ा कष्ट पड़ जाए, फिर तो कहना ही क्या! दुनिया-भर के देवताओं की मनौतियां मानेंगे। कई बहनें कहती हैं कि वे अपने लिए तो किसी की मनौती नहीं मानतीं, पर दूसरों के लिए तो करना ही पड़ता है। पर यह अच्छी बात नहीं है। देवताओं से अपना इष्ट करवाने का मतलब है अपने श्रम में अश्रद्धा, जबकि जैन-संस्कृति ने हमेशा यह कहा है कि अपने श्रम पर भरोसा करो। तब अपनी आत्मा के प्रति यह अविश्वास कैसा! यह तो जैन-संस्कृति के पुरुषार्थवाद के प्रति अश्रद्धा है।

यद्यपि मैं यह नहीं कहता कि देवता होते ही नहीं। वे होते हैं और दूसरों का भला-बुरा भी कर सकते हैं, पर उसी अवस्था में, जब व्यक्ति के कर्म तद्रूप हों। अगर व्यक्ति के स्वयं के कर्म अच्छे हैं तो देवता लाख कोशिश भी करें तो उसका कुछ नहीं बिगाड़ सकते। और व्यक्ति के स्वयं के कर्म बुरे हैं तो देवता मर-पचकर भी उसका भला नहीं कर सकते। तब उनकी आराधना करने का क्या मतलब? अपने कर्तव्य पर भरोसा करें। बात-बात में दूसरों से न मांगें। जब हम देवता का कर्तृत्व मान लेते हैं, तब ईश्वर का कर्तृत्व क्यों नहीं मान लेते? यह तो परमुखापेक्षता है। अतः ये सब जैन-संस्कृति के विरुद्ध की बातें हैं।

फिर सोचना तो यह चाहिए कि देवता भी क्या कष्ट नहीं पाते। वे भी 'च्यवन' को प्राप्त होते हैं। जो स्वयं अपने कष्ट दूर नहीं कर पाते, ये दूसरों के संकट कैसे मिटाएंगे? देवताओं में भी आखिर अनंत शक्ति तो होती ही नहीं, जो वे जैसा चाहें, वैसा कर सकें। उनका भी अपना सामर्थ्य सीमित ही होता है। अतः वे मनुष्य का दुःख कैसे दूर कर सकेंगे? तत्त्वतः जो 'निकाचित' कर्म होते हैं, उन्हें तो देवता क्या, परमात्मा भी नहीं मिटा सकता। उन्हें तो व्यक्ति को भोगना ही पड़ता है। तब उनके लिए देवताओं से अभ्यर्थना करना, कैसी समझदारी की बात है!

अस्तु, जैन लोग अपनी मौलिक संस्कृति को समझें, संस्कृति के मौलिक संस्कारों को समझें और उनके सांचे में अपना जीवन ढालें। सांस्कृतिक मूल्य जीवन की बहुत बड़ी थाती हैं। उनकी सुरक्षा, सम्मान और पालना करना प्रत्येक जैन का परम कर्तव्य है।

८८ : सुधार का मूल

आज जो स्थिति मानव-समाज की है, वह उत्साहप्रद नहीं है। उससे आज कोई आनंद नहीं आता। मनुष्य जो भी काम करता है, वह आनंद के लिए ही करता है। कड़ा-से-कड़ा काम भी मनुष्य इसलिए खुशी से करता है कि उसमें उसे आनंद मिलता है। आज जबकि यातायात के अनेक साधन हो गए हैं, हम हजारों मील कड़ी धूप में पैदल चलते हैं। ऐसा क्यों? यह इसलिए कि हमें इसमें आनंद आता है। आनंद इसलिए कि हम अपने-आप पर विजय पाने में संलग्न हैं। इसी लिए हमें कठिन-से-कठिन काम में भी कोई अवसन्नता महसूस नहीं होती। पर साधारण व्यक्तियों की स्थिति ऐसी नहीं है। वे कोई भी काम करते हैं, उसमें उन्हें आनंद महसूस नहीं होता। इसका कारण है कि उनकी जीवन-भित्ति शून्य हो गई है। मनुष्य के पैरों से नीति की भित्ति आज खिसक गई है। लोग इसका समाधान भी पाना चाहते हैं, पर लगता है, जैसे समाधान मिल ही नहीं रहा है।

जरूरी है बालकों का जीवन-निर्माण

मेरी दृष्टि में इसका सही समाधान बालकों के जीवन-निर्माण से शुरू होगा। बचपन में उनको जैसा होना है, वे वैसे हो जाएंगे; और बचपन में अच्छे संस्कारों का आना असंभव भी नहीं है। इसी लिए देश के विचारक लोग प्रयत्न करते हैं, जगह-जगह स्कूल चलाते हैं, विद्यापीठ खोलते हैं। पर लगता है, इनसे भी आज गति सुधार की ओर नहीं मुड़ रही है। इसका कारण है कि आज वातावरण शुद्ध नहीं है। स्कूलों और विद्यापीठों में लड़के अध्यापकों के पास तो मात्र पांच-छह घंटे रहते हैं। शेष दिन तो उनका घर पर ही व्यतीत होता है। वे देखते हैं कि पिता जी धूम्रपान करते हैं, तास-चौपड़ खेलते हैं। माता जी लड़ाई करती हैं, सास-बहू आपस में गालियां निकालती हैं। इससे स्कूल की सारी शिक्षा

नीचे दब जाती है। पुराने जमाने में इसी लिए विद्यार्थियों को एकांत गुरुकुल में रखा जाता था। घर के वातावरण से वे बारह वर्षों के लिए बिलकुल अपरिचित-से रहते थे। अतः शुद्ध वातावरण में रहनेवाले विद्यार्थियों में शुरू से ही अच्छी आदतें पड़ जाती थीं। वे खुशी से मनोरंजन भी करते थे। वहां का वातावरण ही कुछ ऐसा रहता था कि उससे प्रभावित होकर विद्यार्थी स्वयं ही चरित्रवान होकर निकलते थे और वे देश के लिए वरदान सिद्ध होते थे। आज वह परंपरा चल नहीं रही है। पर आज भी कुछ व्यवस्था तो करनी होगी। हालांकि आज भी कई शिक्षण-संस्थान ऐसे हैं, जहां विद्यार्थियों के जीवन का सही रूप में निर्माण होता है। उदंड विद्यार्थी भी वहां के शुद्ध वातावरण से प्रभावित होकर सुधार की राह ले लेते हैं। उन्हें देखकर गुरुकुल की पुरानी परंपरा याद हो आती है। पर यह पर्याप्त नहीं है। कुछ-एक आदर्श स्कूलों और विद्यापीठों से आज काम चलनेवाला नहीं है। फिर जैसाकि मैंने प्रारंभ में कहा, स्कूलों में तो विद्यार्थी बहुत थोड़े समय ही रहते हैं। उनका ज्यादा समय तो घर में और पास-पड़ोस में बीतता है। इसलिए आवश्यक यह है कि उनके आस-पास का वातावरण भी शुद्ध बने। अभिभावक अपने आचरणों पर ध्यान दें। इसकी सबसे बड़ी चिंता तो माता-पिता को होनी चाहिए, क्योंकि उनकी ही आदतें बच्चों में संक्रमित होती हैं। किंतु आज तो माता-पिता भी अपने बच्चों के प्रति गैर जिम्मेदार-से हो रहे हैं। अतः माता-पिता कहलानेवाले भाई-बहिनों से मैं एक बात कहना चाहूंगा कि वे कम-से-कम अपने बच्चों के सामने लड़ाई-झगड़ा गाली-गलौज, झूठ, धोखा तथा धूम्रपान-जैसे अकरणीय कार्य न करें। यदि वे इतना कर लेते हैं तो मैं समझता हूं, बालकों के सुधार का रास्ता बन जाएगा। मैं बच्चों से यदि पूछूं कि उन्होंने झूठ बोलना कब सीखा तो क्या वे निश्चित तिथि बतला सकते हैं? मैं जानता हूं, जन्म से कोई बालक झूठ नहीं बोलता। वातावरण में जब वह देखता है कि अनेक लोग झूठ बोलते हैं तो वह भी झूठ बोलने लग जाता है। अतः माता-पिता यदि उनके सामने झूठ नहीं बोलें तो वे झूठ बोलना सीखेंगे ही कहां से?

शिक्षकों का दायित्व

अध्यापकों से भी मैं कहना चाहूंगा कि उनकी भी बच्चों को सुधारने की बहुत बड़ी जिम्मेदारी होती है। वे ऐसा कहकर यह बात टाल

नहीं सकते कि उनके पास तो बच्चा केवल पांच-छह घंटे रहता है।
तुलसीदास जी ने कहा है

**एक घड़ी आधी घड़ी, आधिहुं में पुनि आध।
'तुलसी' संगत साधु की, कटे कोटि अपराध॥**

जब साधुपुरुष की थोड़ी देर की संगति से भी जन्म-जन्म के पाप कट जाते हैं, तब प्रतिदिन का पांच-छह घंटे का समय तो बहुत होता है। इतने समय में तो वे बच्चों का जीवन बहुत आसानी से सुधार सकते हैं। आप जानते हैं कुएं से पानी निकालते समय दो अंगुल डोरी यदि हाथ में रहती है तो सारी डोरी निकाली जा सकती है, पानी निकाला जा सकता है। इसी तरह इतने समय में वे बच्चों के जीवन को खूब संस्कारी बना सकते हैं। पर अध्यापक स्वयं बच्चों के सामने ही बीड़ी पिएं, सिगरेट पिएं, गुस्सा करें तो उनमें वे क्या संस्कार डाल सकेंगे! केवल पुस्तकीय शिक्षा पर्याप्त नहीं है। वास्तविक शिक्षा तो जीवन से मिलती है। अतः अध्यापकों को अपने को उच्च बनाना होगा। तभी वे योग्य शिक्षक बन सकेंगे। यदि इतना हुआ तो फिर विद्यार्थियों को उपदेश देने की आवश्यकता नहीं होगी। उनका जीवन स्वयं तदनुरूप हो जाएगा।

८९ : तपस्या : संघ की प्रगति का साधन

वर्तमान अतीत का एक दर्पण है। उसमें झांककर अतीत को सहजतया देखा जा सकता है। एक व्यक्ति वर्तमान में जैसा है, वह एक साथ वैसा नहीं बना। उसे अतीत में से पककर आना पड़ा है। अतः यदि आप सहसा यह सुनेंगे कि साध्वी पन्नां जी ने कार्तिक सुदी पूर्णिमा को एक सौ इक्कीस दिन की तपस्या का पारण किया तो शायद आप चौंकेंगे। भौतिकताप्रधान इस युग में, जबकि शरीर को ज्यादा-से-ज्यादा सुखी रखने के उपाय सोचे जा रहे हैं, साधना के लिए शरीर की परवाह न करनेवाले ऐसे तपस्वी लोग बसते हैं, यह सचमुच भारतवर्ष के लिए गौरव की बात है। आवेश में आकर किसी लक्ष्य के लिए प्राण दे देना एक बात है, पर बिना रोटी खाए कर्म-मल को तिल-तिल कर जलाना सचमुच आज के युग में चौंकानेवाली घटना है। मैं मानता हूँ कि यह भारत की साधना-परंपरा के सर्वथा अनुकूल है।

साध्वी पन्नां जी एक सुयोग्य शिष्या हैं। उनकी उम्र अभी कोई पैंतालीस वर्ष की होगी। पर इतनी छोटी उम्र में भी उन्होंने जो तपस्या की है, वह सचमुच एक प्रेरणा की चीज है। गत वर्ष मर्यादा-महोत्सव के अवसर पर मैंने अपने साधु-साध्वियों को संबोधित करते हुए कहा थाह 'हमारे संघ में पुराने जमाने में छहमासी और नवमासी-जैसी अनेक लंबी-लंबी तपस्याएं हुई हैं, पर इन वर्षों में ऐसा अवसर नहीं आया। यद्यपि यह सच है कि आज शारीरिक संहनन पहले के संहनन-जैसा सुदृढ़ नहीं है, पर तपस्वी को इसकी परवाह नहीं रहती। वह तपस्या करने में ही आनंद मानता है। तपस्या को मैं संघ की प्रगति का बहुत बड़ा साधन मानता हूँ। अतः आज भी यदि कोई साधु-साध्वी तपस्या करना चाहे तो मैं उसे यथा अपेक्षित सहयोग दे सकता हूँ।' इतना संकेत था और फिर मुनि श्री सुखलालजी (बड़ा) आदि संतों का सहयोग रहा। पन्नां जी

आगे निकल आईं और उन्होंने तपस्या करने की अपनी भावना व्यक्त की। उन्हें सहयोग दिया गया। मेवाड़ ठंडा प्रदेश है। वहां 'कोसीवाड़ा' नामक छोटे-से ग्राम में उनका चातुर्मास हुआ। उनकी तपस्या तो देखिएह चतुर्मास के चार महीनों में उन्होंने एक दिन भी आहार नहीं किया। केवल उबाली हुई छाछ पर आनेवाला पानी पीकर उन्होंने एक सौ इक्कीस दिन निकाल दिए।

उनका पिछला जीवन भी वैसे तपस्यापूर्ण रहा है। उपवास, बेला, तेला तो जैसे वे चलते ही कर लेती हैं। पारण पर वे प्रायः अभिग्रह करती हैं। गर्मी की कड़ी मौसम में भी वे बहुत बार पानी नहीं पीतीं। वि. सं. २००८ से उनके जीवन में एक बहुत बड़ा परिवर्तन आया। उसी समय से उन्होंने अपने जीवन को एक नया मोड़ देना प्रारंभ किया। उस वर्ष उनका चातुर्मास श्री माधोपुर के पास 'भवगतगढ़' नामक एक छोटे-से ग्राम में था। वहां उनके साथ गौरांजी नाम की एक साध्वी थीं। उन्होंने वहां चौविहार अनशन किया था। उनके अनशन की घटना भी बड़ी विचित्र है। उनकी बताई हुई बातों से ऐसा लगता है कि जैसे अंत समय में अवश्य उन्हें कोई विशेष ज्ञान हुआ था। उसके बाद पन्नां जी के एक बहुत बड़ा परिवर्तन आ गया और उन्होंने अपना जीवन तपस्यापूर्ण बनाने की ठान ली। इसकी बार की उनकी तपस्या अनुकरणीय है। तेरापंथ-शासन का यह सौभाग्य है कि उसमें ऐसे उत्कट तपस्वी साधु-साध्वियां अपनी साधना करते हैं।

९० : आत्मौपम्य की दृष्टि

धर्म संसार का सर्वश्रेष्ठ तत्त्व है। आगम की भाषा में

**जरामरणवेगेणं, वुज्झमाणण पाणिणं।
धम्मो दीवो पविट्ठा य, गई सरणमुत्तमं॥**

ह बुढ़ापा और मृत्यु के वेग में बहते हुए प्राणियों लिए धर्म द्वीप है, प्रतिष्ठा है, गति और उत्तम शरण है।

ऐसे धर्म की संसार को शाश्वत अपेक्षा है। इसलिए इसकी चर्चा और प्रचार-प्रसार की शाश्वत आवश्यकता है।

आज जबकि धर्म की भावना बहुत ही कम हो चली है, यह और भी आवश्यक है कि इसकी बार-बार चर्चा की जाए, क्योंकि जो कठिन काम होता है, उसकी चर्चा बार-बार करने से ही उसकी जड़ें जम सकती हैं। आज सभी एक-दूसरे पर दोष लगा रहे हैं। अमेरिका रूस पर दोष लगा रहा है और रूस अमेरिका पर दोष लगाने की कोशिश करता है। इस स्थिति में यह अत्यंत आवश्यक हो गया है कि लोगों को धर्म का सही स्वरूप समझाया जाए। यदि समय पर यह नहीं हुआ तो मानवता का केवल अस्थि-पंजर रह जाएगा।

धर्म की दृष्टि

धर्म ही एक ऐसा तत्त्व है, जिससे मनुष्य बुराइयों से बच सकता है। यदि यह नहीं होता तो शायद वह मनुष्य को मनुष्य ही नहीं समझता। यह आत्मौपम्य की दृष्टि ही धर्म की दृष्टि है। दूसरे शब्दों में इसे आस्तिकता कहा जा सकता है। पर आज तो लोगों का न तो धर्म पर विश्वास है, न साधुओं पर और न अपने-आप पर ही। इससे भी आगे वे अपने-आप पर यह अविश्वास भी करने लगे हैं कि वे वस्तुतः जीव हैं या नहीं।

धर्म-भावना में न्यूनता क्यों

हमें यह सोचना होगा कि यह भावनाह्रधर्म-भावना आज कम क्यों हुई; आज जब कि लोग दुरूह-से-दुरूह काम कर सकते हैं, हिमालय पर चढ़ चुके हैं, चंद्रमा पर जाने की बात सोच रहे हैं, तब धर्म ऐसी क्या चीज है, जिसे आज का मनुष्य नहीं कर सकता। हमें इसका मूल खोजना पड़ेगा। इसके बारे में दो बातें मेरे ध्यान में हैं। पहली यह कि आज धर्म का वास्तविक स्वरूप सामने नहीं आता है। इस कारण आज के पढ़े-लिखे लोगों के मन में धार्मिक बनने की भावना ही पैदा नहीं होती। दूसरी बात है धर्म करने में कुछ त्याग करना पड़ता है, जिसे आज का सुविधावादी समाज स्वीकार नहीं कर सकता। इसी लिए आज लोगों में धर्म के प्रति भावना कम हो रही है। सचमुच धर्म के नाम पर आज लोगों के सामने आती है सांप्रदायिकता, सामने आता है स्वार्थ। फिर उसकी रक्षा के लिए होती हैं लड़ाइयां। जो धर्म अर्थ को अनर्थ मानकर चलता रहा है, आज उसी के नाम पर पूंजी का संग्रह हो रहा है। वे तीर्थस्थान, जो भजन और उपासना के केंद्र थे, आज आपसी निंदा और अर्थ की चर्चा के केंद्र हो रहे हैं। मंदिर, मठ, उपाश्रय और धर्मस्थानों में ऊपरी रूप ज्यादा रहता है। वह मंदिर, अच्छा कहलाता है, जिसके फर्श पर अच्छा पत्थर जड़ा होता है, मोहरें और हीरे चमकते रहते हैं। वह मूर्ति श्रेष्ठ कहलाती है, जो ज्यादा-से-ज्यादा सोने से लदी होती है। वह धर्मग्रंथ अधिक महत्त्वशील माना जाता है, जो सोने के अक्षरों में लिखा जाता है। ऐसा लगता है कि मानो धर्म सोने के नीचे दब गया है!

चोर आता है और भगवान की मूर्ति उठाकर ले जाता है। उसके लिए भला वह भगवान कहां! उसके लिए तो वह सोना है। मंदिर में व्यक्ति सात्त्विक भावना ग्रहण करने जाता है। पर वहां का ठाठ देखकर यह कैसे कल्पना की जा सकती है कि वहां से वह सात्त्विक भावना ग्रहण करेगा? कैसी विडंबना है कि अपरिग्रह की उपासना के केंद्र आज परिग्रह की भावना के केंद्र बन रहे हैं!

धर्म जीवन से जुड़ा है

इसी लिए आज का समाज और विशेषतः युवक वर्ग धर्म से विमुख-सा हो रहा है। दूसरी बात, जो मैंने पहले भी कही, आज के युवक-समाज में त्याग की भावना बहुत कम है। अतः धर्म को जन-जीवन

में व्याप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि हम पहले धर्म का सही स्वरूप दुनिया के समाने रखें। तत्पश्चात जो लोग धर्म के प्रति उदासीन हैं, उन्हें भी उसमें रुचि लेने के लिए प्रेरित करें।

यह तो दिन के उजाले की तरह बिलकुल स्पष्ट है कि धर्म का संबंध न तो मंदिरों से है, न धर्म-ग्रंथों से है और न संतों से ही है। संत तो केवल प्रेरक हो सकते हैं। तब धर्म का संबंध किससे है? चूंकि उसे अपने-आपमें ही उगाना पड़ता है, अतः उसका अपने जीवन से ही संबंध है। इसी लिए मैंने कहा है

**सत्य-अहिंसामय जीवन हो,
सत्य-अहिंसामय जन-जन हो।
विश्व-व्यापिनी सत्य-अहिंसा,
मुख-मुख मुखरित हो यह नारा॥
बना रहे आदर्श हमारा॥**

यदि आप वास्तव में ही धार्मिक हैं तो आप प्रतिदिन आत्म-चिंतन करें कि आज मेरा कितना समय धार्मिक कामों में गया और कितना समय अधार्मिक कामों में। यह लेखा-जोखा बहुत आवश्यक और महत्त्वपूर्ण है।

यह बिलकुल स्पष्ट है कि गृहस्थ का जीवन पूर्ण अहिंसक नहीं हो सकता। उसमें हिंसा और अहिंसा दोनों का स्थान रहता है। दूसरे शब्दों में उसका जीवन धर्माधर्माभ्यास होता है। बावजूद इसके, एक धार्मिक कहलानेवाले गृहस्थ को यह सोचना है कि उसके जीवन में हिंसा का पलड़ा भारी न हो, हिंसा के विचार अहिंसा के विचारों को दबाएं नहीं। अतः प्रत्येक धार्मिक के लिए यह आवश्यक है कि वह रोज अपनी दिनचर्या का हिसाब मिलाए और हिंसा को क्रमशः कम करता हुआ अहिंसा का विकास करे।

९१ : लक्ष्य : एक कवच

विद्या का लक्ष्य

विद्या जीवन के लिए एक आवश्यक तत्त्व है। पर सबसे बड़ी आवश्यकता तो इस बात की है कि जीवन 'जीवन' बने। भारतीय संस्कृति में जीवन की परिभाषा यह दी गई है।

**शान्तं तुष्टं पवित्रं च, सानन्दमिति तत्त्वतः।
जीवनं जीवनं प्राहुः भारतीय-सुसंस्कृतौ॥**

यहां जीवन केवल यंत्र नहीं है। जिस जीवन में ये चार तत्त्व हैं, वह जीवन है। जिसमें ये चार तत्त्व नहीं, वह जीवन जीवन नहीं, मृत्यु की ही कोई दूसरी अवस्था है। विद्या से यदि जीवन ऐसा बनता है तो वह प्रयास सफल है। यदि ऐसा नहीं बनता तो वह विद्या नहीं, अविद्या ही है। लोग इतने पढ़ते हैं। आखिर क्या पेट भरने के लिए? नहीं। पेट तो पशु-पक्षी भी भरते हैं। तब क्या ऐशो-आराम के लिए? नहीं। उससे विलास बढ़ता है। विलास न तो स्वयं के लिए लाभदायक है और न दूसरों के लिए ही। अतः सोचना है कि विद्या का लक्ष्य क्या होना चाहिए।

विद्या प्रेरणा बने

चलते सब हैं, पर उनका चलना चलना है, जो दूसरों के लिए पगडंडी बन जाए। बोलते सब हैं, पर उनका बोलना बोलना है, जिससे दूसरे प्रेरणा पाएं। विद्या से यदि ऐसा होता है तो वह विद्या है। कभी-कभी जीवन की एक छोटी-सी घटना भी, एक छोटी-सी बात भी, एक शब्द भी दूसरों के लिए बड़ी प्रेरणा का स्रोत बन जाता है। उसके लिए यह आवश्यक नहीं कि उसे करनेवाला या कहनेवाला कोई बहुत पढ़ा-लिखा हो। कभी-कभी अनपढ़ व्यक्ति भी कुछ ऐसा कर लेता है, कह देता है, जो दूसरों के लिए प्रेरणा का काम कर जाता है। शय्या बिछाने

कि लिए एक दासी नियुक्त थी। वह प्रतिदिन शय्या तैयार करती। दैनिक क्रमानुसार एक दिन जब वह शय्या तैयार कर रही थी, उसकी आंखों में नींद घुलने लगी। उससे सोचा, राजा जी के आने में तो अभी बहुत देर है, क्यों न थोड़ी देर इस पर सो जाऊं। उनके आने से पहले-पहले उठ ही जाऊंगी। बस, इस चिंतन के साथ वह शय्या पर सो गई। किंतु नींद ने उस पर परदा डाल दिया और ऐसा परदा डाल दिया कि वह फिर उठ नहीं सकी, क्योंकि इतनी कोमल शय्या पर वह पहली ही बार सो रही थी। समय हुआ और राजा सोने के लिए आया। उससे देखाहशय्या पर तो एक दासी सोई पड़ी है। उसे गुस्सा आ गया। झट अंगरक्षकों को आवाज देकर बुला लिया और आदेश की भाषा में बोलाह'इस दासी के कोड़े लगाओ। एक-एक मिनट के सात-सात कोड़े।' अंगरक्षकों ने वैसा ही करना शुरू किया। पर राजा ने देखा दृश्य कुछ और ही बन रहा हैहकोड़े खाकर दासी हंस रही है। राजा को बड़ा आश्चर्य हुआ। कोड़े लगवाना बंद करके उसने दासी से पूछाह'कोड़े खाकर भी तुम हंस क्यों रही हो?' दासी बोलीह'महाराज! आपने बड़ा अच्छा किया, जो मुझे इतनी जल्दी उठा दिया। घंटा-भर सोने पर ही मुझे इतने कोड़े पड़े हैं, तो सारी रात सोने पर न जाने कितने कोड़े खाने पड़ते। अतः इस सुख की विचित्रता पर मुझे हंसी आ रही है।' यह सुनते ही राजा की आंखें खुल गईं। यह एक घटना राजा के लिए काम कर गई और वह प्रासाद छोड़कर तपोवन के लिए प्रस्थित हो गया

विद्यार्थियो! वह दासी पढ़ी-लिखी नहीं थी, तथापि उसके चंद शब्दों ने ही राजा का सारा जीवन पलट दिया। अतः विद्यार्थी भी अपना जीवन ऐसा बनाएं, जिससे दूसरे लोग प्रेरणा पाएं।

दृढ़ संकल्प और व्रत

विद्यार्थी कहते हैं कि जब वातावरण ही विकृत है, तब हम कैसे सुधर सकते हैं। पर 'वातावरण बदलने पर हम बदलें'हयह तो कमजोरी होगी। इस भाषा में ही क्यों सोचा जाए कि वातावरण का हमारे पर असर पड़ता है। यह भी तो संभव है कि हम वातावरण को बदल दें। इसके लिए आपको दृढ़ संकल्प करना होगा। दृढ़ संकल्प और लक्ष्यहये दोनों एक ही बात हैं। लक्ष्य एक कवच है, जिसे पहनकर मनुष्य कहीं भी क्यों न चला जाए, वह बुराइयों से उसकी रक्षा करने में समर्थ है। इसी

तरह ब्रत प्रहरी है, जो आनेवाली बुराइयों को रोककर मनुष्य की रक्षा करता है। यदि जीवन ब्रत के द्वारा सुरक्षित नहीं होगाहकीला रहेगा, तो उसे पग-पग पर रुकावटें आएंगी। अतः ब्रत का सही-सही मूल्यांकन होना चाहिए। अणुब्रत-आंदोलन में विद्यार्थियों की दृष्टि से कुछ ब्रत रखे गए हैं। अपेक्षा है, आप सभी ब्रत का महत्त्व समझें और विद्यार्थी-वर्ग के लिए निर्धारित अणुब्रत के छोटे-छोटे ब्रत स्वीकार करें।

९२ : स्थिरवास क्यों*

परिव्रजन की परंपरा

दशवैकालिक चूर्णि में साधुओं के पर्यायवाची नाम गिनाते हुए पहला नाम गिनाया गया है 'प्रव्रजित'। मूल सूत्रों में भी अनेक जगह दीक्षा के अर्थ में **पवज्जा** (प्रव्रज्या) शब्द का प्रयोग हुआ है। वैदिक ग्रंथों में परिव्राजक शब्द साधुओं के ही अर्थ में आया है। बौद्ध लोग भी प्रव्रज्या से यही अर्थ ग्रहण करते हैं। यह शब्द 'प्र' उपसर्गपूर्वक 'व्रज' धातु से बना है जिसका अर्थ है चलना। इसका मतलब है भारतीय संस्कृति में साधु को भ्रमणशील का प्रतीक माना गया है। भ्रमण की महिमा बताते हुए ऐतरेय उपनिषद् में कहा है

चरन् वै मधु विन्दति,
चरन् स्वादुमुदुंबरम्।
सूर्यस्य पश्य श्रेमाणं,
यो न तन्द्रयते चरन्॥
चरैवेति चरैवेति॥

इसी प्रकार गौतम बुद्ध ने भी भिक्षुओं को लक्ष्य कर कहा है

चरत भिक्खवे चारिकां, बहुजनहिताय, बहुजनसुखाय।

भगवान महावीर ने तो भ्रमण पर और भी अधिक जोर दिया है। नव कल्प विहार का विधान करके उन्होंने साधुओं को निरंतर एक स्थान पर रहने का निषेध ही कर दिया है। *आचारांग* और *व्यवहार* इन दोनों सूत्रों में इसके अनेक विधि-निषेधात्मक प्रकरण मिलते हैं। यही बात कवि गिरधर ने इन शब्दों में कही है **साधु तो रमता भला, दाग न लागै कोय।** निस्संदेह इस परंपरा से भारत को बहुत बड़ा लाभ हुआ है। छोटे-छोटे गांवों से लेकर बड़े-बड़े शहरों तक साधुओं की पहुंच रही है और

*स्थिरवास शताब्दी महोत्सव पर प्रदत्त प्रवचन।

जनसाधारण तक के हृदय का वे स्पर्श कर सके हैं। इसलिए ऐसा कहने में कोई कठिनाई नहीं कि भ्रमणशीलता साधुओं का अभिन्न अंग रही है। आज यदि कोई इस अभिन्नता की सुरक्षा कर सका है तो वह हैहजैन-साधु। दूसरे-दूसरे साधु मठ, आश्रम, विहार, मंदिर आदि बनवाकर जमने लगे हैं, पर जैन-साधु अब भी वैसा नहीं करते। चातुर्मास के चार माह के सिवाय वे किसी गांव में एक मास से ज्यादा नहीं ठहरते। चातुर्मास के लिए भी उनके अनेक नियम होते हैं। प्रमुख रूप से जो साधु जिस स्थान पर चातुर्मास कर लेता है, वह फिर अगले दो वर्षों तक उसी स्थान पर चतुर्मास नहीं कर सकता। शेषकाल में जहां एक मास रह जाता है, वहां दो माह से पहले और नहीं ठहर सकता। इस प्रकार उनका भ्रमण तो अनायास होता ही रहता है। अब प्रश्न है कि बीमारी या वृद्धावस्था की वजह से अगर कोई चल न सके तो वह क्या करे। उसके लिए शास्त्रों में कहा गया है कि उसे फिर एक स्थान में रहना ही पड़ेगा।

सौ वर्षों का स्थिरवास

जहां संघ है, वहां अनेक वृद्ध साधु-साध्वियों का होना भी असंभव नहीं है। तेरापंथ अपने ढंग का एक विशिष्ट और विशाल संघ है। अतः उसमें अनेक वृद्ध साधु और साध्वियां भी अपनी साधना करें, इसमें कोई आश्चर्य नहीं। वार्धक्य के कारण उन्हें कई स्थानों पर स्थिरवास भी करना पड़ता है। ऐसे स्थानों में राजस्थान के अंतर्गत यह लाडनूं शहर भी अपना विशेष महत्त्व रखता है। यहां पिछले सौ वर्षों से निरंतर तेरापंथी साध्वियों का स्थिरवास रहा है। जहां एक भी तपस्वी का निवास या देहावसान होता है, वह एक तीर्थ का रूप धारण कर लेता है, फिर यहां तो अनेक साध्वियों ने अपने तपस्वी जीवन का अंत किया है। सचमुच यह इस स्थान का सौभाग्य है। इसी लिए संघ के चतुर्थ अनुशास्ता श्रीमज्जायाचार्य से लेकर प्रायः सारे आचार्य समय-समय पर यहां पधारते रहे हैं। एक लंबे अरसे तक किसी चीज का स्थायी रहना स्वयं उसके महत्त्व का प्रमाण है। अतः यहां भी एक शताब्दी तक स्थिरवास का रहना, अपना महत्त्व स्वयं प्रमाणित कर रहा है।

यद्यपि समय-समय पर यहां अनेक परिवर्तन हुए हैं। श्रद्धालु लोगों की यहां पीढ़ियां गुजर गई हैं। आज तो शायद यहां ऐसा कोई श्रावक नहीं मिलेगा, जिसने स्थिरवास का आदि दिन देखा हो। श्रुत-परंपरा का

प्रामाणिक इतिहास ही आज उनकी इस गौरव-गरिमा का प्रमाण दे रहा है। अनेक श्रद्धालुओं सत्प्रयत्न से शायद जयाचार्य ने इस स्थान को स्थिरवास के लिए चुना हो। यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि किस साधु या साध्वी ने इसका प्रारंभ किया था, पर इतना तय है कि विक्रम संवत् १९१४ से यहां के लोग सिवाय ढाई दिन के निरंतर साधु-दर्शन का लाभ उठा रहे हैं। विक्रम संवत् १९१४ के बाद संघ प्रायः जितनी असक्त और वृद्ध साध्वियां हुई हैं, उन्हें यथाशक्य यहां स्थिरवास के लिए रखा जाने लगा। अधिक-से-अधिक यहां इकतीस तक साध्वियां यहां रही हैं। बीच में शायद ऐसी परिस्थितियां भी आई होंगी, जिनमें साध्वियों को वहां से विहार की भी आवश्यकता हुई होगी। एक बार की ऐसी ही घटना है। वि. सं. १९७४ में जब सारे शहर में प्लेग फैल गया था, तो लोग यहां से उठ-उठकर गांवों आस-पासे के गांवों में जाने लगे। अधिकतर लोग चले गए तो साध्वियों को भी यह सोचना पड़ा कि उनका रहना यहां कैसे संभव होगा। उन्होंने श्रावकों से कहा कि 'तुम सब लोग तो गांव छोड़कर जा रहे हो, पर हमारी वृद्ध साध्वियां कहां जाएंगी? लेकिन तुम सब लोग जा ही रहे हो तो हमें भी कुछ सोचना ही होगा।' गणेशदासजी चंडालिया आदि श्रावकों ने जब यह बात सुनी तो वे साध्वियों के पास आए और बोले कि 'जब तक हम लोग यहां पर हैं, तब तक तो आपको यहां से विहार करने की कोई आवश्यकता नहीं। और जब तक आप गांव में रहेंगी, तब तक हम गांव के बाहर पैर रखेंगे नहीं। आप निश्चिततापूर्वक गांव में रहें। हम आपकी सब प्रकार की कल्प्य सेवा करेंगे।' और भयंकर महामारी में भी वे लोग गांव में डटे रहे। कुछ लोगों को संशय हुआ कि इस भयंकर महामारी में इनका यहां रहना कैसे संभव होगा। लेकिन गणेशदासजी ने आत्म-दृढ़तापूर्वक कहा कि 'मुझे तो पूर्ण विश्वास है कि साध्वियां की सेवा में हमारा कुछ भी बिगड़नेवाला नहीं है। जिसे यह पूर्ण विश्वास हो, वही यहां रहे।' इससे अनेक लोगों में साहस का संचार हुआ और इकतीस परिवार गांव में रहने को तैयार हो गए। सचमुच इस दृष्टि में गांव में रहनेवालों में से किसी को प्लेग नहीं हुआ। यह लाडनू के श्रावकों की उल्लेखनीय घटना है।

इतने अरसे से यहां अनेक रुग्ण एवं वृद्ध साध्वियों के रहने के बावजूद यहां के लोगों की भक्ति ज्यों-की-त्यों है। यद्यपि कुछ ऐसी

साध्वियां भी रही हैं, जो चित्त-विक्षिप्तता के कारण श्रावकों को गालियां तक निकाल देती थीं, पर यहां के श्रावकों ने उन्हें धैर्यपूर्वक सहा है। संभवतः ऐसा एक भी अवसर नहीं आया, जब आचार्यों को यहां के श्रावकों के बार में भी कभी विचार हुआ हो। इसका मुख्य कारण तो यहां के लोगों का धर्म-प्रेम ही है। पर इसका एक अन्य कारण यह भी है कि यहां की साध्वियों की व्यवस्था इतनी सुंदर है कि किसी को कुछ कहने का अवसर ही नहीं आता। रहने के लिए मकान की आवश्यकता होती है। वह यहां राजलदेसरनिवासी बैदों का सहज रूप में उपलब्ध हो गया। उस मकान का भी अपना एक इतिहास है। पर वह यहां बताना प्रासंगिक नहीं होगा। मकान की सफाई के बारे में भी गृहस्थों पर कोई भार नहीं रहता। जिन कमरों में साध्वियां रहती हैं, उनकी सफाई वे स्वयं कर लेती हैं। साधारणतया संघ की परंपरा ही कुछ ऐसी है कि जिससे मकान स्वयं स्वच्छ रहता है। यहां के लिए तो समय-समय पर अनेक आचार्यों ने विशेष मर्यादाएं भी निर्मित की हैं।

भिक्षा और खाने-पीने की व्यवस्था

खाने के लिए भोजन की आवश्यकता होती है। वह भिक्षा के द्वारा प्राप्त हो जाता है। भिक्षा के लिए तेरापंथ-शासन की इतनी सुंदर व्यवस्था है कि यदि सब साधु-संघों में ऐसी व्यवस्था हो जाए तो 'भिक्षा बिल' जैसे बिल को आने का अवसर ही न मिले। हमारी विधि के अनुसार साधु प्रतिदिन एक घर में तो भिक्षा के लिए जा ही नहीं सकते। फिर यहां की तो बस्ती भी बहुत बड़ी है। अतः थोड़ा-थोड़ा लेने से भी काम चल जाता है। साधु को किसी चीज की आवश्यकता हो और वह गृहस्थों के घर में मिल भी जाए तो साधु यही चेष्टा करेंगे कि गृहस्थों की इच्छा से कम ली जाए। यदि गृहस्थ एक रोटी देना चाहता है तो साधुओं का यही प्रयत्न रहेगा है कि हम आधी से अधिक न लें। इससे देनेवाला दूसरी बार ज्यादा देने की कोशिश करेगा।

यहां पर रहनेवाली बहुत-सी वृद्ध साध्वियां तो यथाशक्य तपस्या में आनंद मानती हैं। सचमुच ही यहां की तपस्या का विवरण साधारण लोगों को चौंकानेवाला है। वह विवरण शायद उन्हें को कभी अन्यत्र देखने को मिलेगा। जो साध्वियां भोजन करती हैं, उनमें से भी अनेक को दूध, दही, मिष्ठान्न आदि विगय पदार्थों के खाने का त्याग रहता है।

फिर वे जो सामान्य भोजन करती हैं, उसकी भी विशेष मर्यादाएं हैं। किसी साध्वी को यदि चीज की जरूरत है तो उसे गोचरी जाने से पहले परिचारिक साध्वियों से कहना पड़ता है। फिर गोचरी में जितनी चीज आती है वह आवश्यक विभाग के अनुसार विभक्त करके सब को दे दी जाती है। कोई भी साध्वी कोई वस्तुविशेष किसी गृहविशेष से नहीं मंगा सकती। साधारणतया जो चीज गोचरी में आ जाती है, वह सबको हिसाब से दे दी जाती है। उपवास के पारण में दूध और दलिया के अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु लाने का निषेध है। खाने-पीने के बारे में कोई भी साध्वी किसी से नहीं पूछ सकती कि उसे खाने को क्या मिला। जो-कुछ उन्हें खाने को मिले, उसमें उन्हें स्वयं संतोष रहता है। पानी मीठा तथा खारा जितना आता है, सबको मिला दिया जाता है और फिर सब में बांट दिया जाता है। औषधि आदि के बारे में भी यहां पूरी व्यवस्था रहती है। साधारणतया कोई भी साध्वी औषधि लेना नहीं चाहती। कारण इसका एक तो स्वयं का जागरण है और दूसरा कारण मर्यादा है। परिचारिक साध्वियों को भी भिक्षा के बारे में पूरा ध्यान रखना पड़ता है। वे भी अगर गलती कर देती हैं तो वह आचार्य तक पहुंच जाती है। प्रतिवर्ष आचार्य उनकी अच्छी प्रकार जांच-पड़ताल करते हैं। गलती प्रमाणित होने पर आचार्य उन्हें भी उचित दंड देते हैं।

कपड़े की व्यवस्था

कपड़े के बारे में भी एक व्यवस्था है। यहां स्थिरवासस्थित साध्वियां कोई भी कपड़ा नहीं ला सकतीं। परिचारिक साध्वियों के सिवाय वे और दूसरी साध्वियों से भी कपड़ा नहीं ले सकतीं। परिचारिक साध्वियां को जैसा कपड़ा मिलता है, उसका उचित विभाग कर वे उन्हें स्वयं दे देती हैं। अतः कपड़े के बारे में भी उनका कोई वजन नहीं रहता।

पारस्परिक व्यवहार

जहां अधिक व्यक्ति एक जगह रहते हैं, उनमें भिन्न-भिन्न प्रकृति के मनुष्य भी होते हैं। अतः समुदाय की एक बड़ी समस्या है पारस्परिक व्यवहार। सामान्यतः जागरूक साधक के लिए यह स्थिति कोई विशेष कठिनाई पैदा नहीं करती। पर जहां पर बहुत-से वृद्ध तथा रुग्ण लोग रहते हैं, वहां यह पारस्परिक व्यवहार की समस्या कभी उभर सकती है। यह एक यथार्थ है। इसे अस्वीकार करना उचित नहीं। पर

यहां की व्यवस्था इतनी सुंदर है कि किसी को कुछ बोलने का अवसर ही नहीं मिलता। प्रत्येक साध्वी के लिए अपना स्थान निश्चित रहता है। वह वहीं सो सकती है, वहीं उठ-बैठ सकती है। उनके निश्चित पात्रों के उपयोग के बारे में भी परिचारिक साध्वियों को पूर्ण अधिकार रहता है। स्थिरवासस्थित साध्वियां, पारिचारिक साध्वियों को उनका काम अधिक या कम करने के प्रसंग के आधार पर उनमें आपस में विभेद नहीं कर सकतीं।

यदि कोई साध्वी निर्धारित मर्यादा का अतिक्रमण कर देती है तो उसका यथोपयुक्त दंड भी निश्चित रहता है। अतः विवेक तथा मर्यादाओं का योग यहां की व्यवस्था को अत्यंत सुंदर बना देता है। इससे उनका संयम भी सुखपूर्वक निभ जाता है और व्यवहार भी अत्यंत मृदु रहता है। उसे अशुद्ध होने का अवसर नहीं मिलता।

सभी साध्वियां अपने-अपने स्थान पर बैठी हुई अपनी साधना, स्वाध्याय, भजन, चिंतन, मनन आदि में संलग्न रहती हैं। उनके मुखमंडल पर छाई अनंत शांति देखकर अजंता और एलोरा की मूर्तियां आंखों के सामने नाचने लग जाती हैं। सचमुच आज के युग में ऐसी सुंदर व्यवस्था का होना एक उदाहरण है। इसी से किसी तेरापंथी साधु या साध्वी का भविष्य चिंतनीय नहीं बनता। जब तक साधु-साध्वियां स्वस्थ रहते हैं, तक तक वे स्वयं अपनी साधना करते हैं एवं दूसरों की साधना में सहयोग करते हैं। जब वे अस्वस्थ या वृद्ध हो जाते हैं तो उनकी सेवा-सुश्रूषा का भार संघ पर रहता है। संघ की परंपरा के सिवाय वर्तमान आचार्य भी उनका पूरा ध्यान रखते हैं।

हम आचार्य भिक्षु के अत्यंत कृतज्ञ हैं, जिन्होंने हमें एक सुसंगठित, अनुशासित और मर्यादानिष्ठ संघ दिया। उनके उत्तरवर्ती आचार्यों ने इस संघ का कुशल संरक्षण किया। संघ के चतुर्थ अनुशास्ता श्रीमज्जयाचार्य ने संघीय व्यवस्थाओं को एक नया निखार दिया। हमारा काम है कि हम संघ की व्यवस्था, अनुशासन और मर्यादाओं के प्रति पूर्ण आस्थाशील रहें, उनका हृदय से पालन करें। संघ के उज्ज्वल भविष्य का यह सुदृढ़ आधार है।

९३ : बंधन और मुक्ति

हमारा लक्ष्य हैह्यपूर्ण स्वतंत्रताह्यबंधन-मुक्ति। मैं मानता हूँ, स्वतंत्रता से अधिक प्रिय और कोई शब्द हो नहीं सकता। साधना का या धर्म का सारा उपदेश इसी के लिए है। इसी लिए आप प्रवचन सुनने के लिए एकत्र हुए हैं। यदि यह नहीं होता तो न तो यहां इतनी जनता आती और न कोई प्रवचन करनेवाला ही होता। मनोरंजन ही यदि लक्ष्य होता तो वह तो सिनेमा और खेल-कूद में प्राप्त हो सकता था। पर यहां कोई सिनेमा या खेल-कूद का आयोजन नहीं है। बावजूद इसके, यहां इतने लोग आए हैं, इसका मतलब यही है कि हम सब पूर्ण स्वतंत्रता चाहते हैं। पर प्रश्न यह है कि हमारे चाहते हुए भी हमें वह मिल क्यों नहीं रही है। इसका कारण बहुत स्पष्ट है। हम अभी तक कर्मों से बद्ध हैं।

प्रश्न है कि बंधन क्या है। बंधन यानी दो चीजों का संयोग। जिस प्रकार दो कपड़ों का संयोग बंधन कहलाता है, उसी प्रकार आत्मा और कर्म के विजातीय द्रव्यों का संयोग भी बंधन ही है। आत्मा और शरीर का संयोग भी तो एक प्रकार का बंधन ही है। इसी लिए तो हमें इतनी परेशानियां उठानी पड़ती हैं। यह शरीर है, तब ही तो हमें खाना-पीना पड़ता है, इसकी चिकित्सा करवानी पड़ती है। शरीर नहीं होता तो न जन्म होता और न मृत्यु होती। इसीलिए आस्तिक इस बात में विश्वास करते हैं कि हमें बंधन-मुक्त होना चाहिए। कौन ऐसा नासमझ होगा, जो पिंजड़े में बंद रहना चाहेगा? पर मुश्किल तो यह है कि उसे मुक्ति मिले कैसे।

बंधन-मुक्ति की प्रक्रिया

इस दिशा में आप्त-पुरुषों ने हमारा मार्ग-दर्शन किया है। उन्होंने बताया है कि मुक्ति तभी हो सकती है, जब पहले हम नए सिरे से आनेवाले कर्मों को रोक दें। जो मनुष्य कर्ज चुकाना चाहता है, उसके

लिए पहले यह आवश्यक है कि वह नए सिरे से कर्ज करना बंद कर दे। यही प्रक्रिया बंधन-मुक्ति के लिए लागू होती है।

कर्म-बंधन कहां होता है

जब तक कारण को नहीं जाना जाता, तब तक कार्य को नहीं समझा जा सकता। अतः कर्मों को रोकने से पहले उनके आने के कारणों को समझना भी आवश्यक है। शास्त्रों में कहा गया है **उद्धं सोता, अहे सोता, तिरियं सोता विवाहिया**। ऊर्ध्व लोक में कर्मागमन के स्रोत हैं, अधोलोक में भी कर्मागमन के स्रोत हैं और तिरछे लोक में भी कर्मागमन के स्रोत हैं। फलितार्थ में सब जगहों पर कर्म-बंधन के कारण मौजूद हैं, क्योंकि उनका बंधन तो स्वयं अपनी आत्मा से ही किया जाता है। अतः मंदिर, मस्जिद, चर्च, मठ या धर्मस्थान कहीं पर भी कर्मबंधन हो सकता है। सोते, जागते, खाते, पीते और यहां तक कि उपवास करते भी उनका बंधन संभव है। प्राणी ऊपर स्वर्ग में भी उनका बंधन कर सकता है, नीचे नरक में भी कर सकता है और तिरछे लोकमनुष्य-लोक में भी उन्हें अर्जित कर सकता है। सामान्यतः धर्म-स्थान का वातावरण सात्त्विक रहता है, अतः वहां मनुष्य की प्रवृत्ति प्रायः शुद्ध रहती है, पर वहां जाकर भी अगर कोई मनुष्य द्वेष करे, किसी को मारने-पीटने का चिंतन करे तो कर्म उसे छोड़नेवाले नहीं हैं। अतएव शास्त्रों में कहा है कि बंधन सब जगह है और सब जगह नहीं है।

पांच आश्रव

कर्म-बंधन के कारणों को जैन-परिभाषा में 'आश्रव' कहा जाता है। कहा गया है

**आश्रवो भवहेतुः स्यात्, संवरो मोक्षकारणम्।
इत्येवमार्हती दृष्टिः, शेषमन्यद् प्रपंचनम्॥**

आश्रव ही भव-भ्रमण का कारण है। यह जैन-दर्शन की मान्यता है। उसके पांच प्रकार बताए गए हैं १. मिथ्यात्व २. अविरति ३. प्रमाद ४. कषाय ५. योग।

मिथ्यात्व यानी गलत मान्यता या श्रद्धा। कोई मनुष्य गलत क्रिया नहीं करता, तथापि यदि उसकी श्रद्धा सम्यक नहीं है तो मिथ्यात्व का बंधन होता ही है। श्रद्धा का महत्त्व क्रिया से भी अधिक है, अतः बुरी क्रिया छोड़ने से पहले असम्यक श्रद्धा छोड़ना ज्यादा आवश्यक है। कोई

मनुष्य शराब छोड़ता है, यह बहुत अच्छी बात है। पर उससे पहले यह आवश्यक है कि शराब को बुरा माने। एक मनुष्य झूठ बोलता है और एक मनुष्य झूठ बोलने को बुरा नहीं मानता। तुलनात्मक दृष्टि से इन दोनों में झूठ बोलनेवाले के बनिस्बत उसे बुरा नहीं माननेवाला अधिक बुरा है, क्योंकि झूठ बोलनेवाला तो कोई परिस्थितिबश झूठ बोल लेता है, पर झूठ को बुरा नहीं माननेवाला झूठ बोलते कब संकोच करेगा? इसी लिए जैन-दर्शन में मिथ्यात्व को पहला पाप माना है।

स्थूल रूप से इसे समझने के लिए शास्त्रों में इसके दस भेद बताए गए हैं—ह्रस्वजीव को अजीव समझना मिथ्यात्व, अजीव को जीव समझना मिथ्यात्व, धर्म को अधर्म समझना मिथ्यात्व, अधर्म को धर्म समझना मिथ्यात्व, साधु को असाधु समझना मिथ्यात्व, असाधु को साधु समझना मिथ्यात्व, मुक्त को अमुक्त समझना मिथ्यात्व, अमुक्त को मुक्त समझना मिथ्यात्व, मार्ग को कुमार्ग समझना मिथ्यात्व, कुमार्ग को मार्ग समझना मिथ्यात्व। इसी लिए जीव और अजीव को एक समझना मिथ्यात्व है। प्रदेशी राजा इसी लिए मिथ्यात्वी था कि वह आत्मा और शरीर को एक ही मानता था। कई लोग अधर्म की प्रवृत्ति को, गृहस्थ के सावद्य कार्यों को भी धर्म मान लेते हैं। सगाई-विवाह को भी धर्म मान बैठते हैं—ह्रस्वयह मिथ्यात्व है।

अव्रत यानी आंतरिक अत्याग भाव। कोई मनुष्य शराब पीता नहीं है, पर उसका त्याग नहीं करता। इस स्थिति में वह कभी शराब पी सकता है। यह अव्रतह्रस्वविरत आश्रव कहा जाता है। प्रमाद यानी संयम के प्रति अनुत्साह या अजागरूकता। प्रमाद का स्थूल रूप तो हमारे देखने में आता है, जिसे हम गलती कह देते हैं। पर सूक्ष्म दृष्टि से प्रमाद का एक रूप और है, जो अव्यक्त रहता है। वह अप्रमत्त अवस्था न आ जाए, तब तक प्रत्येक आत्मा में रहता है। योग यानी प्रवृत्ति। संसार में जितनी भी शुभ-अशुभ प्रवृत्तियां होती हैं, वे सब योग हैं। वे आश्रव के अंतर्गत आती हैं।

सामायिक का उद्देश्य

यदि हम बंधन-मुक्त होना चाहते हैं तो हमें आश्रव को घटाना होगा और संवर को बढ़ाना होगा। लोग सामायिक इसी लिए तो करते हैं कि उससे एक निश्चित समय तक के लिए कर्म-बंधन रुक जाता है। पर

आज तो कई लोग इसे ही बंधन मानने लगे हैं! एक दृष्टि से यह सत्य भी है। बंधन को बंधन के द्वारा ही तोड़ा जा सकता है। यह दूसरी बात है कि यह बंधन जान-बूझकर बनाया जाता है और वह बंधन परवशता के कारण भोगना पड़ता है। अतः अगर हम स्वतंत्र होना चाहते हैं तो हमें बंधन-मुक्ति का उपाय करना पड़ेगा। वह उपाय है संवर। यानी आश्रव का निरोध।

९४ : धर्म की परिभाषा

‘धर्म’ आज के बहुचर्चित शब्दों में से एक है। किसे कहा जाता है धर्म? **आत्माशुद्धिसाधनं धर्मः**ह्यत्मात्मशुद्धि के साधन का नाम धर्म है। उसका स्वरूप हैह्यअहिंसा, अपरिग्रह, संयम, मैत्री, संतोष आदि की साधना। वह जहां जाग्रत रहता है, वहां वैर, वैषम्य, अत्याचार, अनाचार आदि को टिकने का अवकाश नहीं रहता। एक शब्द में कहा जाए तो धर्म संपूर्ण जीव-जगत का एकमात्र त्राण है। उसके सिवाय जगत में कोई किसी का त्राण नहीं है। आप प्रत्यक्ष अनुभव करते होंगे कि जब पिता, माता, पत्नी, पुत्र आदि सभी पारिवारिक जन असहाय और अत्राण सिद्ध होते हैं, तब धर्म व्यक्ति का त्राण सिद्ध होता है। यही तो कारण है कि दुःख की अवस्था में व्यक्ति धर्म की शरण स्वीकार करता है। ऐसे-ऐसे व्यक्ति, जो जीवन-भर धर्म के विरोधी रहे, वे भी दुःख के समय धर्म की शरण में आ गए। यह इसी लिए तो कि उन्हें बहुत गहराई से अनुभव हो गया कि संसार के सारे रिश्ते-नाते एक सीमा पर जाकर अभाव साबित हो जाते हैं, कठिन समय में अपने भी पराए बन जाते हैं, पर धर्म एक ऐसा तत्त्व है, जो न केवल इस जन्म में, अपितु मृत्यु के उपरांत अगले जन्म में भी व्यक्ति का साथ नहीं छोड़ता, उसका संरक्षण बंद नहीं करता, कभी पराया नहीं बनता।

पूछा जा सकता है धर्म का उद्देश्य क्या है। यों तो इस संदर्भ में अनेक बातें बताई जा सकती हैं, पर इसका मुख्य उद्देश्य हैह्यजीवन में समत्व की प्रतिष्ठा। लाभ-अलाभ, सुख-दुःख, जीवन-मृत्यु, प्रशंसा-निंदा, सम्मान-अपमान आदि जीवन की विभिन्न द्रंद्धात्मक स्थितियां होती हैं। हर संसारी प्राणी को किसी-न-किसी रूप से इन स्थितियों से होकर गुजरना होता है। यहां व्यक्ति की धार्मिकता की कसौटी हो जाती है। जो व्यक्ति जिस सीमा तक इन स्थितियों में अपना संतुलन बनाए रखता है,

समत्व में अवस्थित रहता है, उस सीमा तक वह धार्मिक है और जिस सीमा तक वह असंतुलित बनता है, समत्व को खंडित करता है, राग-द्वेष के प्रवाह में बहता है, उस सीमा तक उसमें धार्मिकता की कमी होती है। जिस व्यक्ति के जीवन में संपूर्ण रूप से समत्व प्रतिष्ठित हो जाता है, उसके जीवन में धर्म साकार हो जाता है। यही बात प्रकारांतर से हम यों भी कह सकते हैं कि जिस व्यक्ति के जीवन में धर्म पूर्ण रूप से उतर जाता है, उसके जीवन में पूर्णरूप से समत्व प्रतिष्ठित हो जाता है।

अपने अज्ञान के कारण बहुत-से लोग दूसरी-दूसरी भौतिक वस्तुओं की तरह धर्म को भी रुपयों-पैसों से संबद्ध कर देते हैं। पर तथ्य यह है कि धर्म का रुपयों-पैसों से कोई संबंध नहीं है, दूर का भी संबंध नहीं है। उसका संबंध हैह्यव्यक्ति की मन, वचन, काया की प्रवृत्ति से, भावना और वृत्ति से। जहां मन-वचन-काया की प्रवृत्ति संयत है, भावना शुद्ध है, वृत्ति सात्त्विक है, वहां धर्म है। इसके ठीक विपरीत जहां प्रवृत्ति असंयममय है, भावना अपवित्र है, वृत्ति असात्त्विक है, वहां अधर्म है। संयम, पवित्रता एवं सात्त्विकता के अभाव में अपार संपत्ति, सत्ता आदि व्यक्ति को धार्मिक नहीं बना सकतीं।

धर्म का क्षेत्र सारा संसार है। कोई भी देश, वर्ग, वर्ण जाति, संप्रदाय भाषा उसके लिए अक्षेत्र नहीं है। यानी किसी देश, वर्ग, वर्ण, जाति, संप्रदाय और भाषा संबद्ध व्यक्ति धर्म करने के लिए पात्र है। इसी प्रकार वह जंगल, गांव, शहर, मंदिर, घर, ऑफिस, बाजार सब जगह किया जा सकता है। यही बात काल के संदर्भ में है। वह हर मौसम में किया जा सकता है, हर महीने और हर दिन किया जा सकता है, क्षण-क्षण में किया जा सकता है। सारांश की भाषा में हम ऐसा कह सकते हैं कि वह ऊपर के सभी भेदों से अतीत है। किसी की सीमा में बंधता नहीं और सबसे संबद्ध है।

धर्म का यह स्वरूप आप समझें। इसे हृदयंगम करें और जीवनगत बनाएं। आपके जीवन में पवित्रता की महक फूट पड़ेगी।

९५ : सुधार का आधार

सुधार की चर्चा के स्वर जब-तब मेरे कानों में पड़ते हैं। मैं मानता हूँ, सुधार होना नितांत आवश्यक है और उसका अवकाश सदा बना रहता है। चिंतनशील लोग उसके विषय में सदैव सचेष्ट रहते हैं। किंतु चिंतन का बिंदु तो यह है कि सुधार का आधार क्या हो। मुझे ऐसा लगता है कि इस बिंदु पर लोग बहुत भ्रांत हैं। वे उसका स्वरूप अच्छी तरह पहचानते नहीं हैं। कुछ लोग इसे परिस्थितियों के साथ जोड़ते हैं। उनकी अवधारणा है कि परिस्थितियों के परिवर्तन मात्र से सुधार का चक्र घूम जाता है। पर वास्तविकता इससे भिन्न है। यह बात मैं ही नहीं कहता, आप भी देख सकते हैं। आपके देखते-देखते परिस्थितियां कितनी बदल गईं, कितने राजनीतिक उलट-फेर हो गए, कितने मूल्य-मानक बदल गए, पर दुनिया तो वहां-की-वहां खड़ी है। वैसे ही युद्ध की चिनगारियां उछल रही हैं, वैसे ही अधिकारों की छीना-झपटी चल रही है। हिंसा, झूठ, छल, प्रपंच सारी बुराइयों का यही हाल है। वे धड़ल्ले से चल रही हैं। यह इस बात की सूचना है कि परिस्थिति-परिवर्तन सुधार का अमोघ साधन नहीं है, अचूक उपाय नहीं है, पूर्ण समाधान नहीं है। पर इसका अर्थ यह भी नहीं कि मैं व्यवस्था-परिवर्तन या परिस्थिति-परिवर्तन को सुधार के लिए सर्वथा अनुपयोगी और अनावश्यक समझता हूँ। उसकी भी सुधार में एक भूमिका होती है। पर केवल उसे पर्याप्त नहीं माना जा सकता। व्यवस्था-परिवर्तन या परिस्थिति-परिवर्तन तभी उपयोगी बनती है, जब व्यक्ति का हृदय परिवर्तित हो। दूसरे शब्दों में इसे ऐसा कहा जा सकता है कि हृदय का परिवर्तन और व्यवस्था-परिस्थिति का परिवर्तन दोनों साथ-साथ चलें। इसलिए अपेक्षा इस बात की है कि द्विपक्षीय प्रयास किया जाए। एक तरफ व्यक्ति-व्यक्ति के हृदय को परिवर्तित करने का प्रयास किया जाए, ताकि वह अपने विचार और आचार के क्षेत्र में सही दिशा में गति कर

सके तथा दूसरी तरफ व्यवस्था-पक्ष को परिवर्तित कर परिस्थितियों को इस रूप में ढाला जाए कि व्यक्ति के लिए सही मार्ग पर चलने में सहयोग मिले। यह बहुत स्पष्ट बात है कि हवा का रुख यदि व्यक्ति के चलने की दिशा में होता है तो उसके चलने में सुविधा होती है। पर वही हवा का रुख जब चलने की दिशा के विपरीत होता है तो चलने में बहुत जोर पड़ता है। इसलिए मैंने सुधार के लिए दोनों मार्चों पर प्रयत्न की बात कही। बावजूद इसके, तुलनात्मक दृष्टि से देखा जाए तो दोनों में हृदय-परिवर्तन ज्यादा महत्वपूर्ण है। यदि व्यक्ति का हृदय परिवर्तित हो जाता है, वह उत्पथ पर चलने के लिए दृढ़ संकल्पित हो जाता है तो हजार प्रतिकूलताएं भी उसको आगे बढ़ने से नहीं रोक सकतीं। विभिन्न प्रतिकूल परिस्थितियों से संघर्ष करता हुआ भी वह अपने पथ पर आगे बढ़ता रहता है। अणुव्रत-आंदोलन व्यक्ति-सुधार का कार्यक्रम है, हृदय-परिवर्तन का उपक्रम है। हजारों-हजारों लोगों ने इस आंदोलन को आधार बनाकर अपना जीवन बदला है, जीवन का दृष्टिकोण बदला है, जीवन जीने की समूची शैली बदली है, जीवन की धारा बदली है। व्यवस्था-परिवर्तन के द्वारा परिस्थितियों के बदलने की बात सरकार के सोचने की है, समाज के सोचने की है। वे सोचें यह अपेक्षा है। पर वे सोचें या न सोचें, यह उनकी इच्छा की बात है, अणुव्रत तो अपने ढंग से अपने मोर्चे पर कार्य कर ही रहा है।

९६ : आत्म-निरीक्षण

सुधार का अमोघ उपाय

सुधार की बात बहुत लोग करते हैं, पर केवल बात से कुछ बनता तो नहीं। उसके सही उपाय को काम लेना आवश्यक है। आत्म-निरीक्षण सुधार का आंतरिक एवं अमोघ उपाय है। व्यक्ति स्वयं जब अपने दोष देखना शुरू कर देता है तो वह उन्हें त्यागने में जल्दी समर्थ बनता है। व्यक्ति अपने अंतःकरण की प्रेरणा से जो करता है, वह सत्य एवं सुंदर होता है। आत्म-निरीक्षण यही प्रवृत्ति जाग्रत करता है। दूसरे के दोष देखना सुगम है। उस समय व्यक्ति सहस्रचक्षु बन जाता है। राई जितनी भूल को भी पहाड़ बनाकर देखता है, तिल को ताड़ के रूप में देखता है। पर अपने दूषणों पर दृष्टिपात करना बड़ा ही कठिन है। बावजूद इसके, इतना सुनिश्चित है कि जो इसमें निष्णात हो जाता है, उसका जीवन सार्थक बन जाता है। उसे सुधार की सही दिशा मिल जाती है। इसकी सबसे बड़ी विशेषता तो यह है कि इसमें दूसरे का हस्तक्षेप नहीं। मात्र व्यक्ति की स्वयं की सत्ता रहती है। दर्पण में चेहरा देखने पर जैसे उसकी सुंदरता और असुंदरता के विषय में स्पष्ट आभास हो जाता है और उसे संवारने में व्यक्ति समर्थ होता है, उसी प्रकार आत्म-निरीक्षण अपनी योग्यता और अयोग्यता का साफ प्रतिबिंब सामने ला देता है। उसके बाद व्यक्ति को अपने में सुधार करने का पर्याप्त अवकाश मिल जाता है। हो सकता है, किसी व्यक्ति से कठिन तपस्या न हो, स्वाध्याय न हो, ध्यान न हो, आतापना का कष्ट झेलना संभव न हो, सेवा भी न बन पड़े, किंतु आत्म-निरीक्षण तो वह आसानी से कर ही सकता है; और कर ही क्यों सकता है, उसे करना ही चाहिए। इससे उसके लिए सभी प्रकार के विकासों का द्वार उद्घाटित हो जाएगा।

सफलता का आधार

मैं ऐसा मानता हूँ, आत्म-निरीक्षण अध्यात्म-साधना का तो महत्त्वपूर्ण सूत्र है ही, जीवन की सफलता का भी सुदृढ़ आधार है। जब तक जीवन को यह आधार प्राप्त नहीं होता, उसकी सफलता संदिग्ध ही रहती है। इसका कारण बहुत स्पष्ट है। विफलता का कारण व्यक्ति की अपनी ही कुछ कमजोरियाँ होती हैं, भूले होती हैं। वे कमजोरियाँ और भूलें व्यक्ति को यों महसूस नहीं होतीं। पर आत्म-निरीक्षण के क्षणों में वह उनका स्पष्ट रूप से साक्षात्कार कर लेता है। अपनी विफलता के कारण जानकर कौन व्यक्ति उनसे मुक्त होना नहीं चाहेगा? सफलता किसे काम्य नहीं है? क्या मैं आशा करूँ कि आप लोग आत्म-निरीक्षण का यह सूत्र जीवन में अपनाएँगे?

९७ : हमारा कर्तव्य

हम ही हैं हमारे निर्माता

यद्यपि मैं ज्योतिष पर बहुत ज्यादा भरोसा नहीं करता, पर इस पर अविश्वास भी नहीं करता। हमारे पुराने आचार्यों ने बताया कि ज्योतिष का ज्ञान झूठा नहीं है, पर व्यक्ति उसका वेत्ता होना चाहिए। ज्योतिष के धर्मत्व के बारे में तो यह स्पष्ट ही है कि वह हमारा कुछ भी बिगाड़ता नहीं। अपने निर्माता हम स्वयं हैं।

प्रसंग आचार्य रायचंद्रजी का

तेरापंथ के तृतीयाचार्य रायचंद्र जी स्वामी को विहार करते समय किसी ने कहाह 'महाराज! आज दिशाशूल है, अतः विहार का नखेध है।' मेवाड़ में निषेध को 'नखेध' कहते हैं। रायचंद्र जी स्वामी ने नखेध का अपने ढंग से अर्थ करते हुए कहाह 'न खेद यानी किसी प्रकार का खेद नहीं, कष्ट नहीं।' और उन्होंने विहार कर दिया। सचमुच उन्हें कोई खेद नहीं हुआ। इसी प्रकार मैं भी आज ही गांव में चला जा सकता था, पर तीव्र जन-भावना का तिरस्कार करना मुझे उचित नहीं लगा। अतः मैंने सोचाहचलो, आज हमारे विश्राम ही सही। इस दृष्टि से आज मैं यहां ठहर गया। पर जनता से मैं कहना चाहूंगा कि इतने मात्र से खुश होना कोई महत्त्व की बात नहीं है। वास्तविक खुशी तो मैं तब समझूंगा, जब वह अपने जीवन का निर्माण करेगी।

आज युग जाग्रत हुआ है। हम अपनी शक्ति के अनुसार उसे राह दिखाने की कोशिश कर रहे हैं। मैं यह नहीं मानता कि हम सारे संसार की संतुष्टता मिटा ही सकेंगे। पर हम अपना कर्तव्य निभा रहे हैं। जो हमारी बात सुनना चाहेंगे, उन्हें हम अपनी बात सुनाएंगे। पर कोई न सुनना चाहे, कान पर हाथ रख ले, उसका हम क्या करें? क्या सूर्य के उदित हो जाने पर अंधेरा बिलकुल नष्ट हो ही जाता है? जहां-तहां

गुफाओं तथा बंद मकानों में तो वह रहता ही है। जो अपने को खुला रखेगा, वह प्रकाश पाएगा और जो अपने को बंद रखेगा, वह अंधेरे में रहेगा।

मनुष्य में सूझ-बूझ है। वह अच्छे और बुरे का विवेक कर सकता है। यही उसकी सूझ-बूझ का उपयोग है। पर इसका भी यदि गलत उपयोग हो जाए तो उससे उलटे अशांति बढ़ जाती है। अतः यह आवश्यक है कि मनुष्य अपनी सूझ-बूझ की प्रतिभा का संयम के विकास में उपयोग करे। यह सही है कि एक गृहस्थ के लिए रोटी आवश्यक होती है, कपड़ा भी आवश्यक होता है। बिना उनके उसे संयम की बात याद ही नहीं आती, पर अगर हम सूक्ष्म दृष्टिकोण से सोचें तो रोटी और कपड़े की समस्या भी तो आखिर संयम के अभाव के कारण ही उत्पन्न होती हैं। यदि व्यक्ति संयम का सूत्र अपना ले तो यह समस्या पैदा हो ही क्यों?

आज देश में अनेक योजनाएं चल रही हैं। द्वितीय पंचवर्षीय योजना की रूपरेखा लोगों के सामने है। कहते हैं, उसके लिए अर्थ का अभाव है। विदेशों से ऋण नहीं मिल रहा है। मैं सोचता हूं, यह समस्या तो शायद किसी प्रकार से हल हो जाएगी, पर देश में जो मानवता की कमी आ रही है, उसे कैसे पूरा किया जाएगा? योजनाओं में जो लाखों रुपयों का घोटाला चलता है, उसे कैसे मिटाया जाएगा? उसे ये योजनाएं नहीं मिटा सकतीं। उसके लिए तो अणुव्रत-आंदोलन-जैसे नैतिक आंदोलनों की आवश्यकता रहेगी। अतः देश के कर्णधारों को इस ओर ध्यान देना आवश्यक है।

९८ : शांति के उपाय

कहते हैं, आज मानव ने बहुत उन्नति की है। एक दृष्टि से यह ठीक भी है, क्योंकि उसने पानी, आकाश, अग्नि आदि को मुट्टी में कर रखा है। पर एक तरफ उसने जितनी उन्नति की है, दूसरी ओर अवनति भी कम नहीं हुई है। उसने अपनी मानवता खुले-आम बेची है। वह श्रद्धा, ज्ञान और चरित्र से हाथ धो बैठा है। उसका कर्तव्य है कि वह अपनी खोई हुई मानवता पुनः प्राप्त करे। अणुव्रत-आंदोलन इसी लक्ष्य से अपना कार्य कर रहा है।

अणुव्रत के छोटे-छोटे व्रतों की नियमावली मानवता की आचार-संहिता है। इसकी सबसे बड़ी विशेषता है कि यह जाति, वर्ण, वर्ग, संप्रदाय आदि की सीमाओं से मुक्त है। मानवता में विश्वास करनेवाला कोई भी व्यक्ति इसे स्वीकार कर सकता है, फिर भले वह ओसवाल हो या अग्रवाल, हरिजन हो या ब्राह्मण, पुरुष हो या महिला, धनी हो या गरीब, हिंदू हो या मुसलमान, भारतीय हो या विदेशी। अपने इस व्यापक स्वरूप के कारण आज वह मानव-धर्म के रूप में प्रतिष्ठित होता जा रहा है। हजारों-हजारों लोगों ने इसके साथ जुड़कर अपने जीवन में मानवीय गुणों का समावेश किया है, सुख और शांति से जीने का नुस्का प्राप्त किया है। आप भी इसका दर्शन समझें और अपनी संकल्प और व्रत की शक्ति जगाते हुए इसकी आचार-संहिता स्वीकार करें। निश्चित रूप में आपके जीवन के एक नया रस पैदा होगा। आप सुख और शांति के संसार में प्रवेश करेंगे।

